अहिंसा : व्यक्ति और समाज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा : व्यक्ति और समाज

जैन विश्व भारती, मान्य विश्वविद्यालय
(अहिंसा और शांति-शोध पाठ्यक्रम के अनुसार)

निर्देशन
आचार्य तुलसी
युवाचार्य महाप्रज्ञ

समाकलन
मुनि सुखलाल

जैन विश्व भारती इंस्टीट्यूट
(डीम्ड युनिवर्सिटी)
तुलसीग्राम, लाडनूं—३४१३०६ (जि० नागौर, राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम संस्करण : १९९२

मूल्य : २५.०० रुपये

AHIMSA : VYAKTI AUR SAMAJ

Rs. 25.00

मुद्रक : मित्र परिषद्, कलकत्ता के आर्थिक सौजन्य से स्थापित
जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशीर्वचन

जिस पुरुष ने अहिंसा का आविष्कार किया, वह दुनिया का महान् वैज्ञानिक अथवा सबसे बड़ा वैज्ञानिक था। अहिंसा है तो सत्य की खोज चलती है। वह नहीं है तो खोज का दरवाजा ही बन्द हो जाता। जीवन में हिंसा की अनिवार्यता है, इसे सब लोग जानते हैं किन्तु जीवन में अहिंसा की अनिवार्यता है, इसे बहुत कम लोग जानते हैं। अहिंसा के सिद्धांत को व्यापकता देने का अर्थ है, इस सचाई को विस्तार देना कि अहिंसा सबसे अधिक अनिवार्य है। यदि सब मनुष्य केवल हिंसा से जीना प्रारंभ करे तो संभवतः कोई नहीं बचे। समाज इसीलिए चलता है कि उसमें हिंसा की अपेक्षा अहिंसा का व्यवहार अधिक है। व्यक्ति इसीलिए जीवित है कि उसके जीवन में हिंसा की अपेक्षा अहिंसा के तत्त्व अधिक हैं। कोई भी व्यक्ति चौबीस घंटा हिंसा नहीं करता। वह जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हिंसा का सहारा लेता है किन्तु संकल्पपूर्वक हिंसा से बचता रहता है। इसीलिए समाज में अपराध की अपेक्षा अपराध-हीनता का वातावरण अधिक है।

आज के संचार माध्यमों और मनोरंजन के साधनों ने हिंसा को अधिक उद्दीपन दिया है और वे देते जा रहे हैं। इस स्थिति में अहिंसा का सशक्त वातावरण निर्मित नहीं किया गया तो समाज में जंगली जानवरों की स्थिति पैदा हो जाएगी। जैन विश्व भारती मान्य विश्वविद्यालय ने अहिंसा एवं शान्ति शोध (Non Violence and Peace resarch) का विभाग स्थापित कर अहिंसा को विस्तार देने की दिशा में अपना चरण आगे बढ़ाया है। आचार्यश्री तुलसी ने अहिंसा प्रशिक्षण के सिद्धांत का प्रतिपादन कर जनमानस को जागृत करने का प्रयत्न किया है। आक्रमण, छीना-झपटी, अप्रामाणिकता, अनैतिकता, लूट-खसोट और प्रवंचना के वातावरण में इसकी बहुत अपेक्षा है। अपेक्षा है—व्यक्तियों में बुराइयों को तिरोहित कर अच्छाइयों को उभारा जाए।

अहिंसा के क्षेत्र में भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध से लेकर आज तक अनेक महापुरुषों ने कार्य किया है। पुस्तक में महात्मा गांधी, आचार्य तुलसी, जयप्रकाश नारायण, विनोबा आदि अनेक अहिंसा के चिन्तकों का चिन्तन संकलित है। इसका संकलन मुनि सुखलालजी ने किया है। यह अहिंसा एवं शांतिशोध में रुचि रखने वालों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

१ फरवरी, ९२ —युवाचार्य महाप्रज्ञे
जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नया कदम

अहिंसा जीवन का नाभिक है। यह केवल धर्म और अध्यात्म की बात नहीं है समाज और राजनीति भी इसके बिना अर्थ-शून्य है। इसका एक सिरा जहां अपरिग्रह से जुड़ा हुआ है, वहां दूसरा सिरा परिग्रह से भी जुड़ा हुआ है। इसमें कोई शक नहीं कि अर्थ जीवन की अनिवार्य अपेक्षा है। यद्यपि कुछ संन्यासी लोगों को पैसे की आवश्यकता नहीं होती, पर वे भी पदार्थ-मुक्त जीवन तो नहीं जी सकते। शरीर है तब तक उसका पोषण अनिवार्य है।

बहुत प्राचीन काल में पदार्थ और आदमी के बीच में सिक्का नहीं था। पदार्थ का विनिमय ही एक-दूसरे की आवश्यकता को परिपूर्त करता था। धीरे-धीरे वह व्यवस्था घिस गई और सिक्का जीवन में इस तरह विराजमान हो गया कि वही जीवन का ध्येय बन गया। यह भी सही है कि प्रारम्भ में सिक्के ने समाज को गतिशील बनाया था। पर धीरे-धीरे उसके चारों ओर परवशता का ऐसा सिकंजा कस गया कि न केवल उसका एक शास्त्र ही बन गया अपितु उसके कारण समाज भी अनेक विसंगतियों से घिर गया। आज अर्थशास्त्र जिन अवधारणाओं को लेकर आगे बढ़ रहा है उससे मनुष्य की समस्याएं और अधिक उलझ रही है। एक ओर पूंजीवाद का पेट मोटा हो रहा है तो दूसरी ओर गरीब का पेट इतना पिचक गया है कि जीवन ही संकटग्रस्त हो गया है। गरीबी और अमीरी की खाई तो चौड़ी हुई ही है, पर जीवन ही इतना कट-फट गया है कि एक नई अर्थनीति को रेखांकित करना अनिवार्य हो गया है।

अणुव्रत चूंकि अहिंसा का एक सशक्त आन्दोलन है, अपरिग्रह की प्रतिष्ठा के बिना उसे संस्थापित नहीं किया जा सकता, अतः यह आवश्यक हुआ कि उसकी ओर से एक नई अर्थनीति को परिभाषित किया जाये। अणुव्रत का घोष है—संयम : खलु जीवनम्। इस दृष्टि से उसकी ओर से प्रस्तावित अर्थ-नीति का केन्द्र संयम रहे यह स्वाभाविक है। संयम को प्रोत्साहित करने के लिए समय-समय पर अनेक लोगों ने अपने स्तुत्य प्रयास किए हैं। अणुव्रत उन सब प्रयत्नों को ध्यान में रखकर ही नये अर्थशास्त्र को परिभाषित करने की कोशिश कर रहा है।

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी एवं अणुव्रत-दर्शन के प्राण-प्रतिष्ठापक युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ एक अध्यात्म-पुरुष हैं, अतः अर्थ-चर्चा उनके लिए सीधी प्रासंगिक नहीं बनती, पर जब अणुव्रत की भूमिका पर दृष्टिपात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया जाता है तब यह नितांत आवश्यक हो जाता है कि अर्थ को संयम के नजरिये से देखा-परखा जाये। यह सही है कि आज संसार जितना आगे बढ़ गया है उसे संयम के केन्द्र से जोड़ना बड़ा मुश्किल है। पर यह भी सही है कि उसके बिना कोई चारा भी नहीं है। अतः कटु होते हुए भी आज के रोग की यह एक अनिवार्य औषधि है। प्रस्तुत पुस्तक में यही प्रयास मुखरित हुआ हो।

इस प्रयास में मुख्य रूप से आचार्य श्री तुलसी एवं युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ के विचारों को ही प्रतिबिम्बित किया गया है। पर फिर भी महात्मा गांधी, विनोबा भावे, जयप्रकाश नारायण, काका कालेलकर, घनश्यामदास बिड़ला, ग्लेन डी पेज आदि अन्य अहिंसक विचारकों को भी शामिल किया गया है।

महाश्रमण मुनिश्री मुदितकुमार जी तथा प्रेक्षा-प्रशिक्षक मुनिश्री महेन्द्रकुमार जी का सहाय्य भी मेरे लिए बहुत मूल्यवान् रहा है।

प्रस्तुत अर्थ-शास्त्र को केवल वैचारिक आधार प्रदान करना ही पर्याप्त नहीं समझा गया। यह भी अपेक्षित समझा गया कि उसे भावनात्मक परिवर्तन से भी जोड़ा जाये। इस दृष्टि से अणुव्रत के आसपास प्रेक्षा-ध्यान तथा जीवन-विज्ञान का एक पूरा ताना-बाना है। उसी संदर्भ में जिस रासायनिक परिवर्तन की विधा का प्रकटन यहां हुआ है उसे भी इस संग्रह की अर्थनीति का मुख्य आधार माना गया है।

यह सही है कि आधुनिक अर्थशास्त्र से प्रभावित मस्तिष्क को यह नई अर्थ-संधारणा सहज रूप से गृहीत नहीं हो सकेगी तथा इसे लागू करना तो और भी अधिक कठिन प्रतीत होगा। पर यदि हम ईमानदारी से कोई शांतिमय एवं निरापद विश्व-व्यवस्था चाहते हैं तो इसके सिवाय और कोई विकल्प भी नहीं है। कमजोर और अबुद्ध आदमी को और अधिक कमजोर एवं पददलित होने से बचाना है तो समृद्ध एवं प्रबुद्ध लोगों को अपने आप पर संयम का बांध लगाना ही होगा।

इस दृष्टि से जैन विश्व भारती संस्थान ने एक नई पहल की है। इसीलिए अहिंसा और शांति-शोध जैसे दुरूह विषय को अपने स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में शामिल किया। सचमुच यह एक साहसिक और लीक से हट कर लिया गया निर्णय है। इस दृष्टि से भी इस पुस्तक का अपना एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ है। आशा की जानी चाहिए कि इस पहल के कुछ परिणाम भी आयेंगे।

जैन विश्व भारती संस्थान
लाडनूं
२६ जनवरी, १९९२

—मुनि सुखलाल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम

लेख	लेखक	पुस्तक
अहिंसा : आचार और विचार		
विश्वशांति और अहिंसा		३
	आचार्य तुलसी	विश्वशांति और अहिंसा
अहिंसा के आधारभूत तत्त्व		१३
	आचार्य तुलसी	अणुविभा, स्मारिका
अहिंसा प्रकाश है		१६
	आचार्य तुलसी	कुहासे में उगता सूरज
अहिंसा ही विकल्प है		१८
	महात्मा गांधी	अहिंसा और सत्य
अहिंसा की शक्ति		२१
	विनोबा भावे	गांधी : जैसा विनोबा ने देखा-समझा
क्रांति और अहिंसा		२८
	आचार्य तुलसी	अणुव्रत : गति-प्रगति
अहिंसा और वीरत्व		३५
	आचार्य तुलसी	अणुव्रत : गति-प्रगति
अहिंसा : शास्त्र ही नहीं शस्त्र भी		३९
	आचार्य तुलसी	कुहासे में उगता सूरज
अहिंसा और मानव-निष्ठा		४१
	काका कालेलकर	जीवन संस्कृति की नई दिशा
अहिंसा की जीवन-शैली		४४
	आचार्य तुलसी	कुहासे में उगता सूरज
गांधी जीवन शैली ने सोच की दिशायें बदली		४६
	घनश्याम दास बिड़ला	जैन भारती १९९० मार्च
अहिंसा के विभिन्न रूप		५१
	आचार्य तुलसी	गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का
खादी और अहिंसा		५३
	आचार्य तुलसी	अणुव्रत : गति-प्रगति
अहिंसा का प्रशिक्षण		५६
	युवाचार्य महाप्रज्ञ	प्रेक्षाध्यान फरवरी १९९१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शांति और अहिंसा उपक्रम ६१
आचार्य तुलसी अणुविभा (स्मारिका)
सार्वभौम अहिंसा के बने ६७
डा० ग्लेन डी पेज अणुविभा (स्मारिका)
हिंसा और अहिंसा ७७
आचार्य तुलसी, गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का
हिंसा की जड़ ७८
युवाचार्य महाप्रज्ञ अहिंसा के अछूते पहलू
हिंसा और अहिंसा शब्द का द्वंद्व ८७
आचार्य तुलसी गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का
हिंसा के कारण : अभाव और अतिभाव ९०
आचार्य तुलसी अणुव्रत गति-प्रगति
आक्रामक मनोवृत्ति के हेतु ९३
आचार्य तुलसी अणुव्रत के अलोक में
हिंसा मनुष्य का स्वभाव नहीं ९७
वैज्ञानिकों का सामूहिक प्रतिवेदन, अणुविभा (स्मारिका)
मन से भी होती है हिंसा १०१
आचार्य तुलसी कुहासे में उगता सूरज
सामूदायिक जीवन और सहिष्णुता १०४
युवाचार्य महाप्रज्ञ अहिंसा के अछूते पहलू
मानविकी पर्यावरण में असंतुलन १०८
आचार्य तुलसी कुहासे में उगता सूरज

युद्ध और शांति

युद्ध की संस्कृति कैसे पनपती है ? ११३
आचार्य तुलसी कुहासे में उगता सूरज
यह समस्या है समाधान नहीं ११६
आचार्य तुलसी कुहासे में उगता सूरज
युद्ध की लपटों में कांपती संस्कृति ११८
आचार्य तुलसी अनैतिकता की धूप : अणुव्रत की छतरी
युद्ध के कटु परिणाम १२१
मुनि सुखलाल विज्ञान के संदर्भ में
विश्व शांति की आचार संहिता १२५
आचार्य तुलसी अणुव्रत के आलोक में
युद्ध और अहिंसक प्रतिकार १२८
आचार्य तुलसी क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युद्ध का समाधान : अहिंसा १३२
आचार्य तुलसी अणुव्रत : गति-प्रगति
अणुबम नहीं अणुव्रत चाहिए १३६
आचार्य तुलसी क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?
एटमी युद्ध टालने की दिशा में पहला प्रयास १३८
आचार्य तुलसी कुहासे में उगता सूरज

समाज और अपरिग्रह

व्यक्ति और समाज १४३
युवाचार्य महाप्रज्ञ, सत्य की खोज : अनेकांत के आलोक में
स्वस्थ समाज-रचना का संकल्प १६७
युवाचार्य महाप्रज्ञ जीवन-विज्ञान
समाज-रचना के आधार १६०
आचार्य तुलसी अणुव्रत : गति-प्रगति
समाजवाद और अहिंसा १७३
आचार्य तुलसी अणुव्रत : गति-प्रगति
शोषण-विहीन समाज-रचना १६७
आचार्य तुलसी अणुव्रत के आलोक में
सामाजिक क्रांति और उसका स्वरूप १६६
आचार्य तुलसी, अनैतिकता की धूप : अणुव्रत की छतरी
अणुव्रत प्रेरित समाज-रचना १७२
आचार्य तुलसी अणुव्रत के आलोक में
शोषण-मुक्त समूह-चेतना १७५
आचार्य तुलसी अणुव्रत : गति-प्रगति
समाजवादी व्यवस्था और हिंसा का अल्पीकरण १७६
आचार्य तुलसी अणुव्रत : गति प्रगति
समाजवादी व्यवस्था और परिग्रह का अल्पीकरण १८२
आचार्य तुलसी अणुव्रत : गति-प्रगति
आवश्यकताओं पर नियन्त्रण ही समाजवाद की नींव १८६
जयप्रकाश नारायण समाजवाद से सर्वोदय की ओर
समूह चेतना का विकास १६१
आचार्य तुलसी कुहासे में उगता सूरज
अर्थ-व्यवस्था के सूत्र १६५
युवाचार्य महाप्रज्ञ समाज व्यवस्था के सूत्र
अर्थतंत्र और नैतिकता २००
आचार्य तुलसी, अनैतिकता की धूप : अणुव्रत की छतरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवसाय-तंत्र और सत्य-साधना २०३
आचार्य तुलसी अणुव्रत के आलोक में
संग्रह की परिणति : संघर्ष २०६
आचार्य तुलसी अणुव्रत के आलोक में
समस्या का मूल परिग्रह-चेतना २०६
आचार्य तुलसी कुहासे में उगता सूरज
परिग्रह का मूल्य २१०
आचार्य तुलसी गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का
धर्म से आजीविका : इच्छा परिमाण २१२
युवाचार्य महाप्रज्ञ, सत्य की खोज : अनेकांत के आलोक में
अपरिग्रही चेतना का विकास २२०
आचार्य तुलसी गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का
समाज-व्यवस्था और अहिंसा २२२
आचार्य तुलसी अणुव्रत : गति-प्रगति
साम्यवाद और अध्यात्म २२४
आचार्य तुलसी, अनैतिकता की धूप : अणुव्रत की छतरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा : आचार और विचार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्वशांति और अहिंसा

समाज में अनेक लोग होते हैं। वे परस्पर एक सूत्र से बंधे हुए होते हैं। वह सूत्र है—परस्परता। अनेक होना समूह है। केवल समूह समाज नहीं बनता। समाज परस्परता के सूत्र से बंधकर ही बनता है। एक धागे में पिरोए हुए मनके माला का रूप लेते हैं। उस धागे का मूल्यांकन करना सबसे अधिक आवश्यक है।

भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्माण शताब्दी मनाई गई। उस अवसर पर एक जैन प्रतीक प्रस्तुत किया गया। उसकी आधार-भित्ति में एक सूत्र अंकित है—"परस्परोपग्रहो जीवानाम्।" यह जैन परम्परा के प्रथम संस्कृत ग्रंथ का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इसका अर्थ है—जीवों में परस्पर उपग्रह-अनुग्रह अथवा उपकार का संबंध है। उद्योगपति अपने मजदूर को वेतन देता है और मजदूर उद्योगपति के हित का साधन करता है तथा अहित का निवारण करता है—यह है परस्पर-उपग्रह। आचार्य अपने शिष्य को ज्ञान देता और उससे अनुष्ठान कराता है। शिष्य आचार्य के अनुकूल प्रवृत्ति करता है, उनके निर्देश को शिरोधार्य करता है। यह है परस्पर-उपग्रह। हमारे जीवन का सूत्र संघर्ष नहीं है। संघर्ष एक विवशता है। वह स्वतंत्र प्रवृत्ति नहीं है। परस्पर-उपग्रह यह उसकी स्वतंत्र प्रवृत्ति है। संघर्ष जीवन है—यह सूत्र मनुष्य को हिंसा की ओर उन्मुख करता है। परस्पर-उपग्रह की धारणा उसे अहिंसा की ओर ले जाती है।

हम सामाजिक जीवन जी रहे हैं। समाज का घटक है व्यक्ति। जैसा व्यक्ति होता है वैसा समाज होता है। जैसा समाज होता है वैसा व्यक्ति होता है। इन दोनों विकल्पों में सच्चाई है, किन्तु सापेक्ष। वर्तमान में समाज की अवधारणा आर्थिक व्यवस्था और परिस्थिति से जुड़ी हुई है। आर्थिक व्यवस्था और परिस्थिति अच्छी है तो व्यक्ति अच्छा होगा, यह मान लिया गया है। इसमें निमित्त को सब कुछ मान लिया है। व्यक्ति की अपनी योग्यता की उपेक्षा की गई है। अच्छाई और बुराई का उपादान या मूल कारण है—व्यक्ति की अपनी योग्यता और उसका निमित्त कारण है—आर्थिक-व्यवस्था और सामाजिक परिस्थिति। व्यक्ति के संदर्भ में इस सिद्धांत की आलोचना करें तो यह तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

जैसा व्यक्ति वैसा समाज—इस सिद्धांत में मूल कारण को सब कुछ मान लिया गया और निमित्त कारण की उपेक्षा की गई इसलिए यह भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिपूर्ण नहीं है। भूल में शक्ति होती है, पर निमित्त का योग मिले बिना उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। समग्रता की दृष्टि से विचार करें तो यह सूत्र बनेगा—व्यक्ति, आर्थिक व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था। इन तीनों में सापेक्ष और संतुलित परिवर्तन हो तभी स्वस्थ समाज या अहिंसक समाज की परिकल्पना की जा सकती है।

सोवियत रूस, चीन आदि अनेक देशों में आर्थिक व्यवस्था और समाज-व्यवस्था के परिवर्तन पर बहुत भार दिया गया। फलस्वरूप वहां व्यवस्थाएं बदल गईं, फिर भी व्यक्ति नहीं बदला। व्यक्ति आज भी वैसा ही है। नियंत्रण की स्थिति में भी आर्थिक और सामाजिक अपराध हो रहे हैं। यदि नियंत्रण को ढीला किया जाए तो अपराध की वृद्धि हो सकती है। कोरा व्यवस्था-परिवर्तन पर्याप्त नहीं है। इसे समाजवादी या साम्यवादी जीवन-प्रणाली के संदर्भ में देखा जा सकता है।

ब्रिटेन, अमरीका, हिन्दुस्तान आदि देशों में लोकतंत्रीय प्रणाली चल रही है। उसमें व्यक्ति को वाणी, लेखन और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्राप्त है। किन्तु व्यक्ति की उपेक्षा नहीं की गई है। हर व्यक्ति को अपनी योग्यता के विकास का समान अवसर दिया गया है। आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था पर पूरा नियंत्रण नहीं है। इसलिए लोकतंत्रीय प्रणाली में एक व्यक्ति अरबपति बन सकता है और दूसरा रोटी के लिए तरसता रह जाता है। जीवन-निर्वाह के साधनों की उपलब्धि की अनिवार्य व्यवस्था नहीं है। व्यक्तिगत स्वामित्व की कोई सीमा नहीं है।

हमारे विश्व की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दोनों (लोकतंत्रीय और साम्यवादी) प्रणालियों में हिंसा के बीज निहित हैं। अब विश्वशांति के लिए एक तीसरी प्रणाली के विकास की आवश्यकता है। जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है—अनेकांतवाद। उसके अनुसार तीसरी जाति निर्दोष होती है। दर्शन के क्षेत्र में नित्यवाद की अवधारणा मान्य है। अनित्यवाद भी सम्मत है। अनेकांत के अनुसार ये दोनों निर्दोष नहीं हैं। इन दोनों का समन्वय कर नित्यानित्यवाद बनता है। वह निर्दोष है। ठीक इसी प्रकार समाजवादी अर्थव्यवस्था का सूत्र—व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा और लोकतंत्र की व्यक्तिगत स्वतंत्रता—इन दोनों का योग कर समाज-व्यक्तिवादी प्रणाली का विकास किया जाए तो विश्व शांति की समस्या को स्थाई समाधान दिया जा सकता है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार "टायनबी" ने रोटी और आस्था के प्रश्न को विश्व के सम्मुख रखा था। रोटी को छोड़कर आस्था और आस्था को छोड़कर रोटी पाने की प्रवृत्ति निर्दोष नहीं हो सकती। जिस प्रणाली में रोटी और आस्था दोनों का समीचीन योग हो, वही प्रणाली विश्व शांति के लिए प्रशस्त हो सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहअस्तित्व

हम एक पृथ्वी पर जी रहे हैं, एक ही सौरमंडल के प्रभाव क्षेत्र में श्वास ले रहे हैं। अन्तर्नक्षत्रीय विकिरण हम सब को प्रभावित कर रहा है। हम सबको अनुकूल वातावरण और पर्यावरण की अपेक्षा रहती है। इस प्राकृतिक स्थिति ने सह-अस्तित्व की धारणा को जन्म दिया है। हमें एक साथ जीना है, एक साथ रहना है। यह हमारी प्रकृति है। इस प्रकृति में कुछ अवरोध भी हैं। प्राकृतिक और भौगोलिक अवरोध कम हैं, कृत्रिम या काल्पनिक अवरोध अधिक हैं। हमने बहुत सारी मान्यताएं और धारणाएं बना ली हैं। उनकी चादर को ओढ़कर हम घूम रहे हैं। इसलिए वास्तविकता के साथ हमारा सीधा संपर्क नहीं होता। चादर की ओढ़नी में ढकी हुई आंखें जो देखती हैं, वही हमारे लिए सच्चाई बनी हुई है। इस चादर से छनकर जो श्वास आ रहा है, वही हमारे लिए शुद्ध प्राणवायु है। खुली आंख से देखने और खुले नाक से सांस लेने का अवसर कम मिलता है, या नहीं मिलता। इसीलिए मनुष्य-मनुष्य के बीच बहुत बड़ी दीवारें खड़ी हैं। वे एक-दूसरे को देख ही नहीं पा रही हैं। साक्षात्कार के बिना एक-दूसरे को समझने का अवसर ही कहां आता है ?

जाति-भेद, रंग-भेद और संप्रदाय-भेद—यह भेद की त्रिपुटी है। इस त्रिपुटी ने मनुष्य को बांट दिया और इतना बांट दिया कि उसके सामने शत्रुता का दर्शन जितना स्पष्ट है, मैत्री का दर्शन उतना स्पष्ट नहीं है। इस शत्रुता के दर्शन ने प्राकृतिक सह-अस्तित्व को विकृति जैसा बना दिया। आज विश्व-मैत्री या विश्व शांति के सिद्धान्त को समझाने के लिए बहुत प्रयत्न की जरूरत पड़ती है। शत्रुता और अशांति को समझाने की कोई जरूरत नहीं है।

एक व्यक्ति हिन्दुस्तान का नागरिक है, दूसरा पाकिस्तान का। यह राष्ट्रीयता का भेद उन्हें बांटे हुए है। हिन्दुस्तान के व्यक्ति में हिन्दुस्तान की भूमि के प्रति जितना लगाव होता है, उतना पाकिस्तानी मनुष्य के प्रति लगाव नहीं है। वास्तव में मनुष्य मनुष्य के अधिक निकट होता है। व्यवहार इससे भिन्न है। व्यवहार की सीमा में पदार्थ के प्रति जितना लगाव है उतना मनुष्य के प्रति नहीं है। जाति, रंग और संप्रदाय की धारणा के प्रति जितना लगाव है उतना मनुष्य के प्रति नहीं है। वास्तविक सत्य और व्यवहार की दूरी सचमुच एक जटिल समस्या है।

दर्शन शास्त्र में तीन प्रकार के विरोध निर्दिष्ट हैं—प्रतिबिध्य-प्रतिबंधक, बध्य-बंधक और सहानवस्थान। बल्ब प्रकाश की रश्मियों को बिखेर रहा था, इतने में किसी ने स्विच ऑफ कर दिया। प्रकाश अंधकार में बदल गया। यह प्रतिबध्य-प्रतिबंधक जाति का विरोध है। सांप और नेवले में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बध्य-बंधक जाति का विरोध है। पानी और आग एक साथ नहीं रह सकते इसलिए उनमें सहानवस्थान जाति का विरोध है।

भेद और विरोध की स्थिति में हम सह अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते। जैन-दर्शन ने इस समस्या का समाधान खोजा। उस समाधान की भित्ति पर अहिंसा की प्रतिष्ठा की गई। अनेकान्त में विरोध के परिहार का एक प्रशस्त दृष्टिकोण है। उसका एक सूत्र है—इस विश्व में सर्वथा विरोध और सर्वथा अविरोध जैसा कुछ भी नहीं है। सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद—ये सत्य नहीं हैं। जहां विरोध अभिव्यक्त है, वहां अविरोध उसके नीचे छिपा हुआ है। इसी प्रकार भेद के नीचे अभेद और अभेद के नीचे भेद तिरोहित रहता है। हम केवल भेद और विरोध को देखते हैं तो हिंसा को बल मिलता है। केवल अभेद और अविरोध को देखते हैं, तो हमारी उपयोगिता की धारणा टूटती है। व्यवहार ठीक से नहीं चलता, इसलिए भेद और अभेद तथा विरोध और अविरोध में सापेक्षता का अनुभव करना, उनमें सामंजस्य स्थापित करना हिंसा की समस्या का समाधान है। इसी आधार पर सह-अस्तित्व के सिद्धांत की क्रियान्विति की जा सकती है।

पदार्थवादी दृष्टिकोण

मनुष्य में अहंकार की वृत्ति है इसलिए वह बड़ा बनना चाहता है। अथवा सबसे बड़ा बनना चाहता है। इस महत्त्वाकांक्षा से पदार्थवाद की आधारशिला निर्मित हुई है। मनुष्य में संवेदन है। वह प्रिय संवेदन चाहता है। इस सुखवादी और सुविधावादी दृष्टिकोण ने पदार्थवाद का प्रासाद खड़ा किया है। पदार्थवाद के प्रासाद की ऊंचाई को छूने वाला कोई भी व्यक्ति नीचे खड़े लोगों की ओर देखना ही नहीं चाहता। आज व्यक्ति-शक्ति अपने अंहकार और सुख-सुविधा की दिशा में लगी हुई है। फिर हम विश्व-शांति और अहिंसा की बात कैसे सोचें और कैसे उसकी क्रियान्विति करें? शांति और अहिंसा कोरा दर्शन ही नहीं है, वह एक आचरण है। सिद्धान्त की अपेक्षा आचरण का पक्ष अधिक कठिन है। पूरे समाज का आचरण महत्त्वाकांक्षा और सुख-सुविधावाद से संप्रेरित है। इसका परिणाम अशांति और हिंसा है। उसे बदलने के लिए हम कैसे सफल हो सकते हैं? यह प्रश्न एक बार नहीं, अनेक बार मन को आंदोलित कर देता है। हम अहिंसा की बात सोचते हैं पर समझ नहीं पाते कि हिंसा के चक्र को कहां से तोड़ें? क्या महत्त्वाकांक्षा को त्यागना इतना सरल है कि चर्चा और चिंतन-मात्र से आदमी उसे छोड़ देगा? क्या सुख-सुविधा को त्यागना इतना सहज है कि आदमी अहिंसा के विचार को पढ़कर सुख-सुविधा से विमुख हो जाएगा? महत्त्वाकांक्षा और सुख-सुविधा की विमुखता नहीं होगी तो शस्त्रीकरण की होड़, युद्ध, अशांति और हिंसा का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चक्र भी नहीं टूटेगा। अमेरिका और रूस शस्त्र-परिशीलन के लिए तैयार होंगे तो कोई तीसरा-चौथा राष्ट्र परमाणु शस्त्रों को बढ़ाने की बात सोचेगा। फिर शक्ति-संतुलन का प्रश्न खड़ा हो जाएगा। शक्ति-संतुलन को बनाए रखने के लिए विकसित राष्ट्रों में फिर शस्त्र-निर्माण की होड़ शुरू हो जाएगी। इस प्रकार जागतिक अशांति और विश्व युद्ध का खतरा हमेशा बना रहेगा।

नि:शस्त्रीकरण युद्ध की समस्या का एक समाधान है किन्तु युद्ध की पृष्ठभूमि पर विचार किए बिना यह समाधान पर्याप्त नहीं है। विस्तारवादी मनोवृत्ति, अपनी राजनीतिक प्रणाली और जीवन-प्रणाली को व्यापक बनाने का प्रयत्न, अपने संप्रदाय में पूरे विश्व को दीक्षित करने का प्रयत्न—यह सब युद्ध की पृष्ठभूमि है। हम लोग यदि विश्व-शांति और युद्ध-वर्जना की बात सोचें तो हमें सबसे पहले पृष्ठभूमि की समस्याओं को सुलझाने की बात सोचनी चाहिए।

अहिंसा : एक शाश्वत धर्म

अहिंसा शाश्वत धर्म है। पर हम उसे शाश्वत धर्म के रूप में स्वीकार नहीं कर रहे हैं। जब-जब मानव-समाज पर खतरे के बादल मंडराते हैं तब भयभीत दशा में अहिंसा की बात याद आती है और उसके विकास के लिए हमारा प्रयत्न शुरू होता है। इस प्रकार हमने अहिंसा को संकटकालीन स्थिति से उबरने का उपाय मान लिया है। इसीलिए अहिंसा का स्वतंत्र विकास नहीं हो रहा है। हिंसा निषेधात्मक प्रवृत्ति है। वह विधायक जैसी बनी हुई है। अहिंसा की प्रवृत्ति विधायक है पर वह निषेधात्मक जैसी बनी हुई है। हिंसा का निषेध अहिंसा है—इस शब्द-रचना से एक भ्रान्ति पैदा हो गई है। इस भ्रान्ति ने हिंसा को पहले नंबर में और अहिंसा को दूसरे नंबर में रखने की धारणा बना दी। इस धारणा से अभिभूत आदमी यह मानकर चल रहा है कि हिंसा जीवन के लिए अनिवार्य है, अहिंसा अनिवार्य नहीं है। जिस दिन अहिंसा की अनिवार्यता समझ में आती है, हिंसा का चक्रव्यूह अपने आप टूट जाता है।

अहिंसा की समस्या

हिंसा को मनुष्य ने मान्यता दे दी है। इस स्थापना की पुष्टि बहुत सरलता से की जा सकती है। आज संहारक अस्त्रों की खोज के लिए हजारों वैज्ञानिक समर्पित हैं। हजारों-हजारों सैनिक प्रतिदिन युद्ध का प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं। अनगिन सैनिक प्रतिदिन युद्ध के अभ्यास में संलग्न हैं। हिंसा के क्षेत्र में अनुसंधान, प्रशिक्षण और प्रयोग—ये तीनों चल रहे हैं। इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिंसा को जीवन में मान्यता प्राप्त है।

अहिंसा विवशता या बाध्यता की स्थिति में मान्य हो रही है। इसलिए उसके बारे में अनुसंधान, प्रशिक्षण और प्रयोग कहीं नहीं हो रहे हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहां कहीं हो रहा है, उसका स्वर इतना मंद और क्षीण है कि हिंसा के नगाड़ों के बीच वह तूती की आवाज भी नहीं बन पा रहा है। अहिंसा की यह सबसे बड़ी समस्या है। हिंसा में मादकता है इसलिए वह संहारक होकर भी प्रिय बन रही है। अहिंसा एक वास्तविकता है फिर भी वह समाज के आकर्षण का विषय नहीं बन रही है। इस समस्या से निपटने के लिए अहिंसा में आस्थावान व्यक्तियों को कुछ नए ढंग से सोचने-करने की जरूरत है।

महामात्य चाणक्य नंदवंश के उन्मूलन में लगा हुआ था। वह छद्मवेश में घूमता हुआ एक बुढ़िया के घर में पहुंचा। बुढिया ने उसका आतिथ्य किया और भोजन के लिए खिचड़ी परोसी। छद्मवंशी चाणक्य ने उसके बीच में हाथ डाला। खिचड़ी गर्म थी। हाथ जल गया। बुढ़िया बोली—तू भी चाणक्य जैसा मूर्ख लगता है। "कैसे मां"—छद्मवंशी चाणक्य ने पूछा। बुढ़िया बोली—चाणक्य अपनी छोटी-सी सेना को लेकर सीधा नंदवंश की राजधानी पर आक्रमण करता है। नंद साम्राज्य की विशाल सेना उसे परास्त कर देती है। यह मूर्खता ही तो है। यदि तू किनारे से खिचड़ी खाता तो धीरे-धीरे बीच की भी ठंडी हो जाती। तेरा हाथ नहीं जलता। चाणक्य ने एक बोध-पाठ पढ़ा बुढ़िया से। पहले गांवों और कस्बों को जीता। अपनी शक्ति बढ़ा ली। फिर राजधानी पर आक्रमण किया। नंद साम्राज्य का पतन हो गया।

हिंसा का साम्राज्य बहुत बड़ा है। उसकी सेना बहुत विशाल है। हम सीधा हिंसा के गढ़ पर आक्रमण करें तो सफल नहीं हो सकते। पहले जनता के मानस को बदलने का प्रयत्न करें। अहिंसा के प्रति आकर्षण पैदा हो। अहिंसा हमारे जीवन की सफलता और शांति का अनिवार्य अंग है। यह बात बचपन से ही मस्तिष्क में बैठ जाए। इसके लिए हमें अहिंसा विषयक मस्तिष्कीय प्रशिक्षण की पद्धति तैयार करनी होगी। हिंसा के लिए जो रसायन उत्तरदायी हैं, उन्हें बदलने की विधि का विकास करना है। हम केवल वाचिक चर्चा और सिद्धान्त की प्रस्तुति कर हिंसा के साम्राज्य से लोहा नहीं ले सकते। उससे लिए हमें हृदय-परिवर्तन या ब्रेन-वाशिंग की पद्धति का सहारा लेना होगा। प्रेक्षाध्यान के अभ्यास और प्रयोग के द्वारा उन रसायनों में बदलाव लाया जा सकता है, जो हिंसा के लिए उत्तरदायी हैं। यह रासायनिक परिवर्तन अहिंसा के विकास की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम होगा।

अहिंसा और शिक्षा-पद्धति

वर्तमान शिक्षा-पद्धति में बौद्धिक विकास पर अत्यधिक भार दिया गया है। आज के महाविद्यालय और विश्वविद्यालय से अच्छे-अच्छे प्राध्यापक,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैज्ञानिक, विधिवेत्ता, प्रशासक, शिक्षाशास्त्री और व्यवसायी निकल रहे हैं। किन्तु उच्च कोटि का नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक व्यक्ति नहीं निकल रहा है। हमारा बायां मस्तिष्क बहुत सक्रिय हो गया है। मस्तिष्क का दायां पटल निष्क्रिय हो रहा है। इस असंतुलन ने पूरे व्यक्तित्व को असंतुलित बना दिया है। यह असंतुलित व्यक्तित्व हिंसा के लिए जिम्मेवार है। अहिंसा के लिए संतुलित व्यक्तित्व का विकास बहुत जरूरी है। हमारी शिक्षा पद्धति में बौद्धिक और भावनात्मक विकास का संतुलन बने तब हिंसा की समस्या को सुलझाने में हमें सुविधा होगी। मस्तिष्क के बाएं पटल के साथ दाएं पटल को भी जागृत किया जाए तो अहिंसा के लिए एक उर्वरा बन जाती है। उसमें अहिंसा का बीज आसानी से बोया जा सकता है और उसके अंकुरण की आशा की जा सकती है।

अहिंसा और संकल्प शक्ति

कोई व्यक्ति हिंसा क्यों कर रहा है? अहिंसक के सामने यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें चेतना के सूक्ष्म-स्तर (अनकॉंसियस माइण्ड) तक जाना जरूरी है। वहां एक अविरति, मनोविज्ञान की भाषा में अव्यक्त इच्छा काम कर रही है। वह हिंसा के लिए अभिप्रेरणा बनी हुई है। उस पर नियंत्रण संकल्प-शक्ति या व्रत-शक्ति के विकास द्वारा ही किया जा सकता है। इसके लिए अणुव्रत का अभियान चलाया जा रहा है। मनुष्य के अचेतन मन में अहंकार है। इसलिए वह अपने आपको सर्वोच्च और दूसरों को हीन देखने में रस लेता है। रंग-भेद और जाति-भेद की समस्या उसी अहंकार से जुड़ी हुई है। आग्रह का भी अहंकार से संबंध है। यही सांप्रदायिक समस्या का मूल बीज है। अणुव्रत आन्दोलन का एक व्रत है—

"मैं मानवीय एकता में विश्वास करूंगा—जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को ऊंच-नीच नहीं मानूंगा, अस्पृश्य नहीं मानूंगा।।"

अहिंसा के विकास के लिए हमारी दृष्टि यह है कि हम केवल हिंसा की वर्तमान घटनाओं के प्रति ही सचेत न रहें किन्तु उन घटनाओं को जन्म देने वाली मूलवृत्ति के प्रति भी सचेत बनें। हिंसा की वर्तमान समस्याओं के लिए निःशस्त्रीकरण का और युद्धवर्जन की दिशा में काम करना जरूरी है। किन्तु यह बहुत अपर्याप्त है। यह ठीक वैसा ही है कि आग लगी और बुझा दी जाए। फिर आग लगी और बुझा दी जाए। आग क्यों लगती है—इसकी खोज न की जाए। आग को बुझाना और आग क्यों लगती है, इस कारण को खोजना समग्रता के लिए ये दोनों बातें जरूरी हैं। हिंसा की वर्तमान समस्या का समाधान करना और उसके मूल स्रोत का परिष्कार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना—वे दोनों काम जरूरी हैं। अहिंसा के क्षेत्र में काम करने वाले लोगों का ध्यान जितना वर्तमान समस्या को सुलझाने के प्रति है उतना मूल स्रोत के परिष्कार के प्रति नहीं है। हमारी दृष्टि में अहिंसा के विकास में यह बहुत बड़ी बाधा है।

शस्त्रीकरण, युद्ध, निरस्त्रीकरण, युद्धवर्जना, शिक्षा, अर्थव्यवस्था ये सब सरकार के अधिकार क्षेत्र में हैं। जनता से इनका कोई संबंध नहीं है। सत्ता की कुर्सी पर बैठे लोग अहिंसा की बात को ध्यान से सुनें, ऐसा कम संभव है। हमें अपनी बात, अहिंसा की बात जनता तक पहुंचानी है। उस जनता तक जो शस्त्रीकरण या निःशस्त्रीकरण का निर्णय तो नहीं ले सकती किन्तु शस्त्रीकरण और निःशस्त्रीकरण का निर्णय लेने वालों के भाग्य का निर्णय कर सकती है। इसके लिए गहन आस्था, तीव्र अध्यवसाय और सतत साधना की जरूरत है। हमें विश्वास है कि अहिंसा के क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्ति में इन सब का उदय होगा।

विश्व-शांति और अहिंसा

आज हम बहुत निकट आ गए हैं। दूरियां कम हो गई हैं। पहले हम व्यक्ति की बात सोचते थे, फिर समाज की। आजकल हम विश्व की बात सोचते हैं। यह क्रमिक विकास व्यक्ति से समाज और समाज से विश्व बहुत महत्त्वपूर्ण है। हम यथार्थ को न भुलाएं। चेतना का केन्द्र भी व्यक्ति है। व्यक्ति की चेतना का केन्द्र भी व्यक्ति है और सामूहिक चेतना का केन्द्र भी व्यक्ति है। व्यक्ति की चेतना का परिष्कार किए बिना विश्व शांति का सपना पूर्ण नहीं हो सकता। शांति की बात व्यवस्था के साथ चले तो व्यक्ति को गौण किया जा सकता है। व्यवस्था का कमजोर या शक्तिशाली पहलू है—नियंत्रण। उसके बिना व्यवस्था नहीं चलती। नियंत्रण के साथ शांति की पौध पनप नहीं सकती। चाहे पहले करें और चाहे अन्त में, व्यक्ति व्यक्ति में सामूहिक चेतना को जगाना ही विश्व-शान्ति का मूल मंत्र है। इस सामूहिक चेतना का पुराना नाम समता की चेतना है।

नियंत्रण की अवधारणा के साथ सैनिक शासक और तानाशाह पनपते रहे हैं। हम राजतंत्र से लोकतंत्र तक पहुंचे हैं। इस विजययात्रा का मूल्य कम नहीं है। इससे अगली यात्रा शान्तितंत्र की होनी चाहिए। लोकतंत्र में जो शासक आते हैं उनमें अहिंसा के प्रति आस्था जरूरी नहीं है। यद्यपि लोकतंत्र और अहिंसा में निकट का संबंध है, फिर भी लोकतंत्रीय शासन को भी तानाशाही के आस-पास पहुंचा दिया गया है। शांतितंत्र की प्रणाली लोकतंत्र से भिन्न नहीं होगी। किन्तु उसका शासक अहिंसा में आस्था रखने वाला हो—यह अनिवार्य शर्त होगी। अब राजनीतिक प्रणाली का प्रयाण लोकतंत्र से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शांतितंत्र की दिशा में होना चाहिए। उसी अवस्था में हम विश्व-शांति की कल्पना कर सकते हैं।

अहिंसा : विकास का व्यावहारिक कार्यक्रम

अन्तर्राष्ट्रीय कांफ्रेंस विश्व शांति के लिए आयोजित हो रही है। कांफ्रेंस से विश्व शांति हो जाए तो इससे बड़ा सहज सुलभ कोई वरदान नहीं हो सकता। सरकारें भी विश्व शांति के लिए कांफ्रेंस आयोजित करती हैं और वे ही शस्त्रीकरण के लिए चुपचाप काम करती जाती हैं। यह दोहरा रूप एक भ्रांति पैदा कर रहा है। एक ओर शांति का प्रयत्न, दूसरी ओर उसकी जड़ में प्रहार करने वाला शस्त्रों के विकास का प्रयत्न। किन्तु यह प्रयत्न सरकारी नहीं है। यह विश्व-शांति के लिए जनता की आकांक्षा से निकला हुआ प्रयत्न है। जनता की आकांक्षा है—युद्ध न हो। उसकी आय से प्राप्त धनराशि का शस्त्रों के लिए प्रयोग न हो। इस आकांक्षा को सरकार पूरा नहीं करने देती। इस कांफ्रेंस की निष्पत्ति जन-जागरण अभियान के रूप में होनी चाहिए।

आज अहिंसा का कोई शक्तिशाली मंच नहीं है। अहिंसा के क्षेत्र में काम करने वाले लोग भी बिखरे हुए हैं। उनमें न कोई संपर्क है और न एकत्व का भाव। परस्पर विरोधी विचार वाले राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को एक मंच बना लिया। वहां बैठकर वे मिलते हैं, बातचीत करते हैं और समस्या का समाधान खोजते हैं। अहिंसा में आस्था रखने वाले न कभी मिलते हैं, न कभी बातचीत करते हैं और न कभी समस्या का सामूहिक समाधान खोजते हैं। इस कांफ्रेंस से एक नई दिशा उद्घाटित हुई है। एक ऐसे विश्व-व्यापी अहिंसा मंच—अहिंसा सार्वभौम की पृष्ठभूमि तैयार हो, जहां बैठकर हिंसा की विभिन्न समस्याओं पर सामूहिक चिंतन किया जा सके और हिंसक घटनाओं की समाप्ति के लिए निर्णय लिए जा सकें। विश्व शान्ति की दिशा में यह एक शक्तिशाली चरण होगा।

अहिंसा के क्षेत्र में काम करने वाले लोग अहिंसा की दृष्टि से प्रशिक्षित भी कम हैं और उसके लिए जितनी साधना चाहिए, वह भी प्रतीत नहीं होती। इस कमी की पूर्ति के लिए भी एक कार्यक्रम बनाना चाहिए, जिससे तपे हुए कार्यकर्त्ता इस क्षेत्र में आएं और अहिंसा की बात जन-जन तक पहुंचाएं।

शान्ति सेना का यत्र-तत्र निर्माण हुआ है। किन्तु व्यापक स्तर पर उसका निर्माण नहीं हुआ है। समर्थ शान्ति सेना के निर्माण की संभावना पर चिंतन किया जाए।

अहिंसा का यह त्रिसूत्री कार्यक्रम विश्वशान्ति के लिए बहुत उपयोगी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकता है। यह हमारे चिंतन का केन्द्रीय बिन्दु बनना चाहिए। कोई अन्य कार्यक्रम भी प्रस्तावित किया जा सकता है। सबसे बड़ी बात है अहिंसा की आस्था को पुष्ट करना। अहिंसा की आस्था का अर्थ है—विश्व-शान्ति को पोषण देना। हम सब इस दिशा में प्रयत्नशील बनें।

हमारा प्रयत्न सार्वभौम और जागतिक हो। अहिंसा सार्वभौम का कार्य आगे बढ़े—यही मंगल कामना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा के आधारभूत तत्त्व

अशान्ति और हिंसा तथा शान्ति और अहिंसा—ये दो युगल हैं। जैसे अशान्ति और हिंसा को कभी अलग-अलग नहीं देखा जा सकता, वैसे ही शांति और अहिंसा को विभक्त नहीं किया जा सकता। अहिंसा को मैं व्यापक संदर्भ में देखता हूं।

अणुव्रत उस व्यापकता की एक व्यावहारिक संहिता है।

भेद हमारी उपयोगिता है। बांटना, विभक्त करना सुविधा है। इस उपयोगिता और सुविधा को हमने वास्तविक मान लिया और उसके आधार पर मानव-जाति को टुकड़ों में बांट दिया। जाति और रंगभेद के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में एक घृणा की दीवार खड़ी हो गई। हीनता और उच्चता का एक अभेद्य किला बन गया। यह कहना अतिप्रसंग नहीं होगा कि इस जाति और रंगभेद के कारण हिंसा को निरंतर बढ़ावा मिल रहा है। मनुष्य में हीनता और अहं की ग्रन्थि सहज ही होती है। यह जातिवाद और रंगवाद इन दोनों ग्रंथियों को खुलकर खेलने का मौका दे रहा है। मनुष्य जाति का एक बहुत बड़ा भाग हीनता की ग्रंथि से ग्रस्त है तो दूसरा भाग अहं की ग्रंथि से रुग्ण है। क्या जातिवाद को समाप्त नहीं किया जा सकता? जाति काल्पनिक है। उसे समाप्त करने की बात सोच भी लें पर रंगभेद एक यथार्थ है। वह कोरी कल्पना नहीं है। उसकी समाप्ति होने पर भी हिंसा की समस्या सुलझेगी नहीं। इसलिए मैं सोचता हूं—अहिंसा की दिशा में हमारी यात्रा भीतर से शुरू हो। जातिभेद और रंगभेद के होने पर भी हिंसा न भड़के, घृणा को अपना पंजा फैलाने का अवसर न मिले, ऐसा कुछ सोचना है और वह भीतरी यात्रा से ही संभव है। मैं अहिंसा की अन्तर्यात्रा में विश्वास करता हूं। हम मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम का इतना सशक्त वातावरण बनाएं कि उसमें घृणा को जन्म लेने का मौका ही न मिले। इतिहास साक्षी है कि समाज की धरती पर जितने घृणा के बीज बोए गए, उतने प्रेम के बीज नहीं बोए गए। यदि आज हम इस ऐतिहासिक यथार्थ को बदलने की दिशा में चलें तो हमारा नई दिशा में प्रस्थान होगा। मैं इस सम्मेलन में उस नई दिशा में प्रस्थान करने के लिए आप सबसे अनुरोध करता हूं।

वैचारिक स्वतंत्रता को रोकना किसी भी दृष्टि से वांछनीय नहीं है। उस वैचारिक स्वतंत्रता के आधार पर ही अनेक धर्म-सम्प्रदाय विकसित हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। उनमें प्रायः सभी में प्रेम, मैत्री और अहिंसा की बात न्यूनाधिक मात्रा में कही गई है; किन्तु धर्म का आचरण बहुत कम हुआ है। उसका अनुगमन या अनुसरण अधिक हुआ है। हमारा ध्यान अनुयायियों की संख्या पर केन्द्रित है। आचरण पर केन्द्रित नहीं है। अनुयायी और धार्मिक—ये दोनों भिन्न हैं। अनुयायी करोड़ों हो सकते हैं। उनमें धार्मिक कितने हैं, यह विमर्शणीय बिन्दु है। अनुयायियों की संख्या अधिक और धार्मिकों की संख्या कम होने के कारण ही साम्प्रदायिक हिंसा को उत्तेजना मिलती रही है। क्या अहिंसा को विश्व-धर्म घोषित किया जा सकता है ? जहां हिंसा है, वहां धर्म नहीं है। धर्म वहीं है जहां अहिंसा है। क्या यह अवधारणा साम्प्रदायिक कट्टरता से होने वाली हिंसा को रोकने में सफल हो सकती है ? यह चिन्तन का एक बिंदु है। इस बिन्दु पर हमें चर्चा करनी है और किसी ऐसे निष्कर्ष पर पहुंचने का प्रयत्न करना है, जिससे धर्म या सम्प्रदाय के नाम पर हिंसा को फैलाने का अवसर न मिले।

राज्य-सत्ता की अपनी उपयोगिता है। उसे समाप्त करने की बात सोची नहीं जा सकती। यदि सोची जाय तो वह कितनी व्यावहारिक हो सकती है, यह प्रश्नचिह्न ही है। किन्तु राज्यसत्ता के साथ हिंसा की बढ़ोतरी हो रही है, वह आज की जटिल समस्या है। शस्त्रीकरण को राज्यसत्ता का अनिवार्य सुरक्षा कवच माना गया है और माना जा रहा है। आज जिस गति से संहारक-शस्त्रों का विकास हो रहा है, उससे पूरी मानव जाति संत्रस्त है। निःशस्त्रीकरण की चर्चा चल रही है। इस कान्फ्रेन्स के साथ भी निःशस्त्रीकरण की बात जुड़ी हुई है। यह कान्फ्रेंस जन-प्रतिनिधियों की है, राज्यसत्ता के प्रतिनिधियों की नहीं है। शस्त्रीकरण की शक्ति राज्यसत्ता के हाथ में है। क्या जन-प्रतिनिधियों की बात पर राज्य सरकारें ध्यान देंगी ? शक्ति-संतुलन को विश्व-शान्ति का आधार माना जा रहा है। उस स्थिति में राज्य सरकारें जन-प्रतिनिधियों की बात पर कैसे ध्यान देंगी ? यह बात सहज ही तर्कसंगत लगती है, पर इस तर्क के सामने हमें निराशा की सांस नहीं लेनी है। जन-शक्ति शस्त्रीकरण की शक्ति से भी अधिक बलवान है। अहिंसा में आस्था रखने वाले यदि अपनी बात जनता तक पहुंचा सकें, उनकी आस्था और लगन अदम्य हो तो एक न एक दिन राज्य सरकारों को उनकी बात पर ध्यान देने के लिए बाध्य होना पड़ सकता है। सही बात यह है कि अहिंसा में विश्वास रखने वाले लोग विश्वमंच पर ऐसे वातावरण का निर्माण करने में सफल नहीं हुए हैं जिससे वे राज्यसत्ता के शासक वर्ग को प्रभावित कर सकें। अब हमें अहिंसा के मूलभूत आधार तत्त्वों को नहीं भुलाना चाहिए :

१. हम सब मनुष्य हैं।

२. मनुष्य में विवेक-चेतना जागृत होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. लोभ, स्वार्थ आदि कारणों से उस विवेक-चेतना पर मूर्च्छा का आवरण आता है।

४. उस मूर्च्छा के आवरण को हटाया जा सकता है।

५. जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय भेद-रेखाओं के नीचे जो अभेद है, मौलिक एकता है, इसका अनुभव किया जा सकता है, कराया जा सकता है।

६. मनुष्य में अच्छाई के बीज हैं, उन्हें अंकुरित किया जा सकता है।

इन सबके लिए एक तीव्र प्रयत्न की जरूरत है। प्रस्तुत सम्मेलन उस तीव्र प्रयत्न की अभीप्सा को जगा सके तो अहिंसा का एक शक्तिशाली अस्त्र के रूप में प्रयोग किया जा सकेगा। यह अस्त्र संहारक नहीं होगा, मानव जाति के लिए बहुत कल्याणकारी होगा। इस कल्याणकारी उपक्रम की सफलता के लिए मैं आह्वान करता हूं कि अहिंसा की दिशा में सोचने वाले सब लोग मंच पर आएं और एक स्वर से बोलें। एक दिशा में उन सबके चरण आगे बढ़ें। इस मंगल-कामना के साथ अग्रिम सफलता के लिए फिर मैं शुभकामना करता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा प्रकाश है

अहिंसा प्रकाश है, हिंसा अंधकार है। अहिंसा सत् है, हिंसा असत् है। अहिंसा अमृत है, हिंसा मृत्यु है। अहिंसा करुणा है, हिंसा घृणा है। अहिंसा सह-अस्तित्व है, हिंसा अलगाववादिता है। अहिंसा समता है, हिंसा क्रूरता है। अहिंसा अदृष्ट है, हिंसा दृष्ट है। अदृष्ट में जो आनन्द मिलता है, वह दृष्ट में नहीं मिल सकता। अहिंसा में जो सुख-चैन निहित है, वह हिंसा में नहीं हो सकता। यह शाश्वत सत्य है। तीर्थंकरों ने इस सत्य का संगान किया है। जो लोग इस संगान को सुनकर भी अनसुना कर देते हैं, वे सुख-शान्ति का रास्ता नहीं खोज सकते।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में लिखा है—मनुष्य के लिए हरीतकी माता की तरह हितकारक है। कभी ऐसा प्रसंग आ सकता है कि माता कुपित होकर अपनी सन्तान का अनिष्ट कर दे, पर हरीतकी पेट में जाकर कभी नुकसान नहीं पहुंचाती। इस प्रतीक को अहिंसा के साथ घटित किया जा सकता है—मनुष्य के लिए अहिंसा माता की तरह हितसाधक है। मां कभी अपनी संतान का अहित कर सकती है, किन्तु अहिंसा का पालन किया जाए तो वह कभी अहित-कारक नहीं हो सकती। अहिंसा हमारी मां है। हमने भूल यह की कि अहिंसा का सम्मान करना नहीं सीखा। अहिंसा ही एकमात्र रास्ता है सुख-शान्ति का। पर हमने उसका भी विकल्प खोजना शुरू कर दिया। राजनैतिक पार्टियां आज नेतृत्व का विकल्प ढूंढ़ रही हैं। उन्हें विकल्प मिल सकता है, पर अहिंसा का कोई विकल्प नहीं है। यदि संसार को शान्ति से रहना है तो उसे अहिंसा की शरण में जाना ही होगा।

अहिंसा सार्वकालिक और सार्वभौमिक उपाय है। इसके द्वारा कठिन से कठिन समस्या का समाधान हो सकता है। अभी २९ जुलाई १९८७ को कोलम्बो में भारत के प्रधानमंत्री राजीव गांधी और श्रीलंका के राष्ट्रपति जयवर्धने के बीच हुआ समझौता इसकी जीती-जागती मिसाल है। तमिलों और सिंहलियों के मध्य चार वर्षों से चल रहे हिंसात्मक विवाद का अहिंसा-त्मक हल इस बात का साक्षी है कि अहिंसा का कोई विकल्प नहीं है और हिंसापूर्ण उपायों की निष्फलता अनिवार्य है। ऐसे प्रसंगों पर प्रारम्भ से ही अहिंसात्मक नजरिया काम में लिया जाए तो हिंसा को कभी खुलकर खेलने का मौका नहीं मिल सकता।

मनुष्य विसंगतियों का जीवन जीता है। वह चाहता है प्रकाश और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाल रहा है अंधकार को। वह चाहता है शान्ति और उपाय खोज रहा है अशान्ति के। वह बात करता है अहिंसा की और अपनी शक्ति लगा रहा है शस्त्र-निर्माण में। शस्त्रों में परम्परा होती है। कोई भी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र शस्त्र-निर्माण करेगा तो उसका पड़ोसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र भी उस प्रतिस्पर्धा में कूदना चाहेगा। जबकि शस्त्रों के अनियंत्रित एवं अविवेकपूर्ण प्रयोग से होने वाले खतरों की चिन्ता सबको है। इन विसंगतियों से निबटने के लिए शस्त्र की ओर नहीं, उस चेतना की ओर ध्यान देना होगा जो शस्त्र को बनाती है। मनुष्य की चेतना और चिन्तन से शस्त्र की बात निकल जाएगी, तभी अहिंसा को निर्बाध रूप से काम करने का अवसर प्राप्त होगा।

मनुष्य को काम करना है तो सबसे पहले उसे सक्षम बनना होगा। अहिंसा की क्षमता अहिंसा में निष्ठा रखने वालों की क्षमता पर भी निर्भर है। हिंसक व्यक्ति हिंसा के प्रति जितने निष्ठाशील हैं, क्या अहिंसक व्यक्तियों में अहिंसा के प्रति उतनी निष्ठा है? निष्ठा के अभाव में अहिंसा का रास्ता अपना भी लिया तो क्या होगा? अहिंसा के प्रति गहरी निष्ठा है तो फिर किसी भी स्थिति में हिंसा का विकल्प उठ नहीं सकेगा।

अहिंसा एक अखण्ड सत्य है। उसे टुकड़ों में बांटा नहीं जा सकता। एशिया, यूरोप और अमेरिका की अहिंसा अलग-अलग नहीं हो सकती। यदि हम चाहते हैं कि अहिंसा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रभावशाली बने तो उसके लिए तीन काम करने होंगे—शोध, प्रशिक्षण और प्रयोग। अहिंसक शक्तियां संगठित होकर अहिंसा के क्षेत्र में रिसर्च करें, अहिंसा-प्रधान जीवन शैली का प्रशिक्षण दें और हिंसा के मुकाबले में अहिंसा का प्रयोग करें तो निश्चित रूप से अहिंसा का वर्चस्व स्थापित हो सकता है।

हमारी आखिरी मंजिल अहिंसा है। हम इस दिशा में एक-एक कदम ही आगे बढ़ाते रहें तो हमें अहिंसा मां का संपूर्ण संरक्षण उपलब्ध हो सकता है। माटी का एक दीया भी अंधकार की सघनता को भेदने में सक्षम है। इसी प्रकार अहिंसा की दिशा में उठा हुआ एक-एक पग भी मंजिल तक पहुंचने में कामयाबी दे सकेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा ही विकल्प है

बन्धुत्व का अर्थ यह नहीं कि जो आपके भाई बनें, जो आपको चाहें, उन्हीं के आप भाई बनें। यह तो सौदा हुआ, बदला हुआ। बंधुत्व में व्यापार नहीं होता। मेरा धर्म तो मुझे यह शिक्षा देता है कि बन्धुत्व मनुष्य मात्र के साथ ही नहीं, प्राणी मात्र के साथ होना चाहिए।.....यह बात मैं यह दिखाने के लिए करता हूं कि यदि हम अपने शत्रु के साथ भी प्रेम करने के लिए तैयार न हों तो हमारा बंधुत्व कुछ नहीं, एक ढकोसला है। दूसरी तरह से इसे यों कह सकता हूं कि जिसने अपने हृदय में बंधुत्व-भाव को स्थान दिया है, वह यह कहने का अवसर नहीं देगा कि उसका कोई शत्रु है।.....

शत्रु को बन्धु कैसे समझें ?

सवाल यह होता है कि जो हमें अपना शत्रु समझते हैं, उनके साथ प्रेम किस तरह करें ? प्रतिदिन मुझे हिन्दू, मुसलमान और ईसाई लोगों की चिट्ठियां मिलती हैं, जिनमें वे कहते हैं कि यह बात गलत है कि वे शत्रु को प्यार कर सकते हैं। हिन्दू लिखते हैं कि जो गाय हमारे प्राणों के समान प्रिय है, उसे मारने वाले मुसलमान के साथ प्रेम किस तरह हो सकता है ? ईसाई पूछते हैं कि अस्पृश्यता मानने वाले, अछूत समझकर अपने भाइयों को दलित करने वाले हिन्दुओं के साथ प्रेम किस प्रकार करें ? मुसलमान लेखक पूछता है कि बुतपरस्त के साथ मुहब्बत की जा सकती है ? इन तीनों से मेरा यह कहना है कि आपका बन्धुत्व बेकार है, यदि आप अपने पत्र में वर्णित लोगों को न चाह सकते हों। इस तिरस्कार भाव का अर्थ क्या है ? इसके मूल में भय है या असहिष्णुता है ? यदि हम सब एक ईश्वर की संतान हैं तो एक-दूसरे से क्यों डरें, अथवा अपने से भिन्न मत रखने वाले से द्वेष क्यों करें ? किंतु जिस कृत्य से हम घृणा करते हों उसे क्या किसी मुसलमान को करने दें ? मेरा बन्धुत्व उत्तर देता है—हां। इसमें इतनी बात और जोड़ता हूं—आप अपनी बलि चढ़ा दीजिए, यदि आप अपनी प्रिय वस्तु की रक्षा करना चाहते हैं तो बिना किसी पर हाथ उठाये उसके लिए मर जाइए। मुझे ऐसी घटनाओं का अनुभव है। आपके अन्दर यदि प्रेम के साथ कष्ट सहने की हिम्मत हो तो आप पाषाण-हृदय को भी पानी-पानी कर सकेंगे। बदमाश यदि आप से सवाया हो तो आप हाथ उठाकर क्या करेंगे ? वह आपको जीतकर अधिक बदमाशी न करेगा ? दुष्टता की आग विरोध के घी से क्या और नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धधकती ? क्या इतिहास इस बात का साक्षी नहीं है ? और क्या इतिहास में ही ऐसे उदाहरण नहीं मिलते कि अहिंसा की पराकाष्ठा को पहुंच जाने वालों ने बड़े-बड़े विकराल पशुओं को अपने वश में कर लिया है ? पर इस पराकाष्ठा की अहिंसा को जाने दें । इसके लिए तो यहां शूरवीर योद्धा से भी अधिक बहादुरी की जरूरत है । और जिसके प्रति आपके मन में तिरस्कार हो उसके साथ लड़कर मर जाने के डर से बैठे रहने की अपेक्षा तो लड़ लेना अच्छा है । कायरता और बन्धुत्व परस्पर विरोधी हैं । संसार शत्रु के साथ प्रीति करने की बात को स्वीकार नहीं करता । ईसा के अनुयायी युरोप में भी अहिंसा के सिद्धांत का मजाक उड़ाया जाता है ।.....यह मुझे कहना होगा कि यदि शत्रु को चाहने का सिद्धांत स्वीकार न करें तो बन्धुत्व की बात करना हवा में महल बनाना है ।..... हमें अपने मनुष्यत्व का पूरा भान नहीं इसलिए वैर नहीं छोड़ा जाता ।

डार्विन कहता है--हम बन्दर के वंशज हैं । यदि यह सच हो तो हम अभी मनुष्य की दशा को प्राप्त नहीं कर पाये हैं । एना किंग्सफर्ड ने लिखा है कि मैंने पेरिस में मनुष्य के रूप में हिंस्र शेर, भालू और सांप विचरते हुए देखा है । इस पशुत्व को मिटाने के लिए मनुष्य को भय छोड़ने की आवश्यकता है । इस भय को अपने अन्दर बल उत्पन्न करके दूर किया जा सकता है, हथियार से सज्जित होकर नहीं । महाभारत ने वीर का भूषण वा गुण क्षमा बताया है । जनरल गार्डन की एक मूर्ति है । उसकी वीरता बताने के लिए उसके हाथ में तलवार नहीं, एक छड़ी दिखाई गई है । यदि मैं शिल्पकार होता और गार्डन की मूर्ति बनाता तो मैं उन्हें शिष्टता के साथ सीना ताने हुए खड़ा और यह कहते हुए बनाता—चाहे जितने भी प्रहार करो, बिना भय एवं वैर के उन्हें झेलने के लिए यह सीना खुला हुआ है । यह है मेरे वीर का आदर्श । ऐसे वीर जगत् में अमर हुए हैं । ईसाई धर्म ने भी ऐसे शूरवीरों को जन्म दिया है, हिन्दू धर्म और इस्लाम ने भी दिया है ।' जातियों के निर्वैर हो जाने के भी उदाहरण हैं । क्वेकर तथा टालस्टॉय-वर्णित दुखो बोर का इतिहास क्या यही नहीं कहता ?

निर्वैर हो सकते हैं

युरोप तथा भारत के कितने ही बड़े-बड़े लेखक कहते हैं कि मनुष्य जाति निर्वैर हो जाए, ऐसा समय कभी नहीं आ सकता । इसी बात पर मेरा विवाद है । मैं तो उलटा यह कहता हूं कि जब तक मनुष्य निर्वैर नहीं होता तब तक वह मनुष्य ही नहीं बन सकता ।

हम चाहें या न चाहें, हमें इसी रास्ते में जाना होगा और आज मैं आप से यह कहने आया हूं कि लाचार होकर इस रास्ते जाने की अपेक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वेच्छा से क्यों नहीं जाते ? बात जरा विचित्र है कि मुझे ईसाइयों के सामने ऐसी बात करनी पड़ती है। हिन्दुओं के सामने भी यही कहना पड़ता है। कितने ही ईसाई मुझसे कहते हैं कि ईसा की निर्वैरता का उपदेश केवल १२ शिष्यों के लिए ही था। हिन्दुस्तान में अहिंसा के विरोधी कहते हैं कि उससे नामर्दी फैलेगी। मैं आपसे कहने के लिए आया हूं कि यदि भारतवर्ष अहिंसक न बनेगा तो उसका सर्वनाश समझिए; दूसरी कौमों का भी नाश समझिए। भारत एक भारी भूखण्ड है; वह यदि हिंसक हो जाए तो और खंडों की तरह वह भी दुर्बलों पर जबरदस्ती करेगा और यदि ऐसा हुआ तो जरा उसकी कल्पना कीजिए।

मेरी राष्ट्रीयता

मेरी राष्ट्रीयता में प्राणिमात्र का समावेश होता है; संसार की समस्त जातियों का समावेश होता है। यदि भारत को अहिंसा का कायल कर सकूं तो भारत सारे जगत् को कुछ चमत्कार दिखा सकेगा। मैं नहीं समझता कि भारत दूसरे राष्ट्रों के चिताभस्म पर खड़ा होगा। मैं चाहता हूं कि वह आत्मबल प्राप्त करे और दूसरे राष्ट्रों को भी बलवान् बनाये। दूसरे राष्ट्र बल का मार्ग नहीं दिखा रहे हैं, इसलिए मुझे इस अचल सिद्धांत का आश्रय लेना पड़ा है कि मैं कभी उस विधान को स्वीकार नहीं करूंगा जिसका आधार पशु-बल हो।

राष्ट्रपति विल्सन ने चौदह सिद्धांतों की रचना की और उन पर कलश चढाते हुए कहा—'यदि हम इसमें सफल न हुए तो हथियार तो है ही।' मैं इसे उलट कर कहना चाहता हूं कि हमारे सब पार्थिव शस्त्र बेकार हुए हैं, इसलिए किसी नये शस्त्र को खोजें। चलो, अब प्रेम का शस्त्र, सत्य का शस्त्र लें। यह शस्त्र जब हमें मिल जायेगा तब हमें किसी दूसरे की जरूरत न रहेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा की शक्ति

क्या दुनिया में और क्या भारत में, हमेशा सन्त, सत्पुरुष हुए हैं और उन्होंने लोगों को आध्यात्मिक मूल्य समझाये हैं। लोग सुनते आये, जितना समझ सके, समझते गये; जितना अमल कर सकते थे, उतना अमल करते आये और अमल न हो सका तो इसे अपनी लाचारी मानकर मूल्यों का आदर करते आये। यह मानते रहे कि व्यवहार में यह नहीं चलेगा।

लेकिन जब युग की मांग और संतों के उपदेश का संयोग होता है, तब क्रांति होती है। गांधीजी के बारे में हमें यह देखने को मिला। गांधीजी ने कहा, हिंसा का प्रतीकार अहिंसा से करो, असत्य का प्रतीकार सत्य से करो। उन्होंने निःशस्त्र प्रतीकार करना सिखाया। यों तो यह पुरानी बात है, कोई नयी नहीं। यह तो हिन्दुस्तान की संस्कृति का ही फूला-फला स्वरूप है। भगवान् बुद्ध, महावीर और अनेक संतों ने हमें यही सिखाया। लेकिन जब गांधीजी की जबान पर यह बात आयी, तो उसका क्रांतिकारी अर्थ प्रकट हुआ, क्योंकि उसके लिए ऐतिहासिक भूमिका थी।

एक ज्वलन्त ऐतिहासिक भूमिका

पहले के जमाने में हिन्दुस्तान में शस्त्र थे। यह नहीं कि सबके हाथ में थे, लेकिन सबको शस्त्र रखने की छूट थी। ब्राह्मण भी चाहे तो शस्त्र रख सकते थे। लेकिन भारत ने अहिंसा का एक प्रयोग किया कि शस्त्र सीमित रहें। शस्त्रों की जरूरत तो पड़ती है, उस हालत में क्या करें? तब यह निश्चय किया कि सबके नहीं, केवल एक वर्ग के हाथ में शस्त्र रहें, बाकी सब लोग शस्त्र छोड़ दें। ऐसा एक प्रयोग भारत ने किया। परिणाम यह हुआ कि अहिंसा का विचार भारत में पैठ गया। फिर भी 'शस्त्र द्वारा रक्षण' की बात तो कायम रही और उतने अंशों में अहिंसा दुर्बल ही रही।

लेकिन अंग्रेजों ने आकर एक बेजोड़ काम किया, जैसा पहले किसी ने नहीं किया था। अंग्रेजों ने शस्त्र छीन लिये और हिन्दुस्तान की जनता को बिलकुल निःशस्त्र बना दिया। ऐसा पहले किसी भी राजा ने कहीं नहीं किया था। इसका एक कारण तो यह था कि किसी भी राजा में इतनी ताकत नहीं थी। दूसरा कारण, प्रजा को एक बार निःशस्त्र करने पर कहीं बाहर से आक्रमण हो जाए तो उसके रक्षण की जवाबदारी अकेले राजकर्ता पर आ पड़ती है। ऐसी ताकत उनमें नहीं थी, इसलिए अब तक किसी ने जनता को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकदम निःशस्त्र नहीं बनाया। लेकिन अंग्रेजों ने यह किया। उन्होंने प्रजा को संपूर्ण निःशस्त्र बना दिया। किसी भी कारण, कोई भी मनुष्य, बिना अनुमति के शस्त्र रख नहीं सकता था।

ऐसी स्थिति में हिन्दुस्तान के सामने एक बड़ा सवाल खड़ा हो गया—वह या तो हमेशा के लिए अंग्रेजों का गुलाम बना रहे या फिर कोई नया अधिक शक्तिशाली शस्त्र शोध निकाले। जनता के हाथ में शस्त्र नहीं थे, इस हालत में यदि निःशस्त्र मुकाबला करने की परम्परा न होती, तो हिन्दुस्तान कायम का गुलाम रह जाता। लेकिन इतने बड़े देश के लिए हमेशा गुलाम रहना असंभव था। अतः निःशस्त्र मार्ग की खोज करने की ऐतिहासिक आवश्यकता पैदा हुई। इसीमें से महात्मा गांधी आये। वे न आये होते तो दूसरा कोई आता। यद्यपि उनकी जो शिक्षा थी और जिस समूह में से वे आये थे, उसके संस्कार की दृष्टि से तो गांधीजी का आना ही स्वाभाविक था।

गांधी : गुजरात की संस्कृतिरूपी आम का फल

गांधीजी स्वयं गुजरात की संस्कृतिरूपी आम के फल थे। इस प्रदेश में जो तपस्या हुई, उसके परिणामस्वरूप गांधीजी यहां पैदा हुए थे। गांधीजी गुजरात में पके, यह कोई चमत्कार नहीं और न मात्र भाग्य की बलिहारी है। उसके पीछे एक तत्त्व है। गुजरात के दही में ही ऐसा कुछ है, जिससे ऐसा मक्खन निकल पाता है। गुजरात का सबसे ऊपर तैर आने वाला एक गुण है, वहां की आम जनता द्वारा अपनायी हुई सार्वत्रिक अहिंसा। इसी कारण गांधीजी का जन्म गुजरात में हुआ है, ऐसा मैं मानता हूं।

यों देखा जाए तो यह बहुत छोटी चीज लगती है, लेकिन गुजरात की आम जनता ने मांसाहार का पूरा-पूरा त्याग किया है—ऐसी घटना दुनिया में और कहीं देखने को नहीं मिलती। मांसाहार-परित्याग का आन्दोलन हमारे पूर्वजों ने चलाया था। हजारों वर्षों तक उन्होंने यह चलाया। इसमें उन्होंने खूब तपस्याएं भी कीं। परिणामस्वरूप हिन्दुस्तान में आज ऐसी स्थिति मौजूद है कि मांस खानेवाले लोग हैं जरूर, लेकिन वे भी इसे गौण मानते हैं, बहुत अच्छी बात नहीं मानते। यानी शाकाहार की प्रतिष्ठा भारत में स्वीकार हो चुकी है। इतना जबरदस्त प्रयोग हिन्दुस्तान में हुआ, यह दुनिया भर में हिन्दुस्तान की विशेषता है। फिर हिन्दुस्तान में भी खासकर गुजरात की विशेषता है कि यहां का सामान्य जनसमुदाय भी मांसाहार छोड़ चुका है।

यह छोटी-मोटी घटना नहीं है। यह जो अहिंसा है, उसी के परिणामस्वरूप गांधीजी जैसी विभूति गुजरात में पकी और सारी दुनिया के दुःखों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का निवारण एक विशिष्ट प्रकार के प्रतीकार से हो सकता है, इसका उसे दर्शन हुआ।

जमाने की मांग का बल

खैर, मैं कह यह रहा था कि निःशस्त्र प्रतीकार के मार्ग की खोज करने की एक ऐतिहासिक आवश्यकता निर्मित हुई और उसमें से महात्मा गांधी आये। यों तो उनकी बात लाखों लोग न मानते। बहुत होता तो उनको मुझ जैसे दो-चार चेले मिल जाते। लेकिन यह तो सारे देश में एक विचार फैला और उसका टूटा-फूटा अमल भी हुआ। अंग्रेजों द्वारा हथियार रखवा लिये जाने से एक विशिष्ट परिस्थिति निर्मित हुई। इससे गांधीजी की अहिंसा की बात को जमाने की मांग का बल मिला।

यहां अंग्रेजों का राज्य शक्तिशाली था, उनकी पकड़ जोरदार थी। उनका मुकाबला कैसे किया जाए? इसकी अहिंसक युक्ति गांधीजी ने सिखायी। उन्होंने कहा कि "हम निर्वैर भी रहेंगे और सामना भी करेंगे।" दुनिया को यह एक बड़ा विचार मिला। उसमें निर्वैरता और प्रतीकार-वृत्ति दोनों मिल गये। परिणामस्वरूप समाज के लिए एक मार्ग खुला। निर्वैरता से प्रतीकार की शक्ति बढ़ी और प्रतीकार से निर्वैरता की। गांधीजी ने हमें ऐसी युक्ति बतायी कि सारे बड़े-बड़े शस्त्र बेकार बन गये। युक्ति यह कि अंग्रेजों को राज्य चलाने के लिए हजारों आदमियों का और करोड़-करोड़ जनता का सहयोग जरूरी है, वह सहयोग देना बन्द कर दिया जाय। ऐसा करें तो चाहे जितने शक्तिशाली अंग्रेजों का कुछ न चलेगा। हम सहयोग नहीं देंगे तो वे हमें मारेंगे या सतायेंगे, फिर भी हम उन्हें सहयोग नहीं देंगे। मर जायेंगे, लेकिन आपकी मरजी के मुताबिक काम न करेंगे। ऐसे आत्मबल की युक्ति गांधीजी ने सिखायी।

निर्भयतापूर्वक 'ना' कहने की शक्ति

एक आदमी को राक्षस ने पकड़ा। राक्षस उससे खूब काम कराता। आराम का तो नाम नहीं। जरा चूं-चपड़ की कि राक्षस धमकी देता कि "खा जाऊंगा।" उसे बैठने ही न देता। आखिर उस आदमी ने सोचा कि कब तक ऐसा चलेगा? इसलिए एक दिन उसने कह ही दिया कि "जा, काम नहीं करता, तुझे खाना हो तो खा जा।" लेकिन राक्षस ने उसे खाया-वाया नहीं, क्योंकि एक बार खा जाने पर उसका काम कौन करता? बाद में आदमी को हिम्मत आ गयी। उसने कहा : बगैर मजदूरी लिये काम नहीं करूंगा" तो राक्षस मजदूरी भी देने लगा।

संक्षेप में सार यह कि यह 'ना' कहने की शक्ति, 'आपके गलत काम में सहयोग नहीं दूंगा' यह कहने की हिम्मत, हममें आनी चाहिए। ऐसा करते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए मरना पड़े तो मर जायं। मृत्यु से हम न डरें। आत्मा कभी मरता नहीं, इसलिए हम नहीं मरते। मनुष्य में ऐसी निर्भयता आनी चाहिए। प्रेम से सब एक होकर निर्भयतापूर्वक सामनेवाले को जवाब दें कि आपके गलत काम में मदद नहीं करेंगे। यह है असल अहिंसा।

डरते-डरते घर में बैठे रहें और लड़ाई में न जायं तो अहिंसा हो गयी, ऐसा नहीं। बल्कि लड़ाई में जाकर कहना चाहिए कि मैं मरने के लिए तत्पर हूं, लेकिन मारूंगा नहीं। यह ताकत है अहिंसा की और यही खरी शक्ति है। छोटा-सा बालक भी अहिंसा की शक्ति से हिंसा के बड़े राक्षस का मुकाबला कर सकता है। उसे इतना समझाना चाहिए कि 'मर जायेगा तो भी क्या होनेवाला है? यहां कायम रहनेवाला कौन है? भगवान् ने तेरे लिए जो दिन तय किया होगा, उसी दिन मरेगा, नहीं तो कभी नहीं।' ऐसी अहिंसा की शक्ति के सामने अणु-शक्ति भी कुछ नहीं कर सकती। यह युक्ति गांधीजी ने सिखायी। वास्तव में यह हमारे पुरातन ऋषि-मुनियों की युक्ति है। उसे ही फिर से गांधीजी ने हमारे सामने रख दिया। उन्होंने एक कदम आगे रखा और हमें सिखाया कि यह अहिंसा तो ऐसी जबरदस्त शक्ति है कि उसके द्वारा हम बड़े-बड़े सवालों को हल कर सकते हैं। उन्होंने इस अहिंसा की शक्ति का राजनैतिक क्षेत्र में प्रयोग करके बताया।

हमें अहिंसा का आत्म-प्रत्यय नहीं हुआ

लेकिन दुनिया और भारत के लोगों को भी कुछ शंका रह गयी है कि हमें जो स्वराज्य मिला है, वह केवल अहिंसा की शक्ति से नहीं। यह सही है कि स्वराज्य की प्राप्ति में दुनिया की परिस्थिति का भी काफी हिस्सा है। लेकिन मूल बात यह कि हमें अपने भीतर चाहिए उतना अहिंसा का अनुभव नहीं हुआ। वीर को शोभा दे, ऐसा अहिंसा का प्रयोग हमने किया नहीं। गांधीजी ने हमें वीरों की अहिंसा सिखाने की कोशिश की, फिर भी हमारी अहिंसा लाचारी की अहिंसा थी। गांधीजी जिस तरह का प्रतीकार चाहते थे, वैसा प्रतीकार न हो सका। लोगों को उन पर श्रद्धा थी और लोग उनके पीछे गये। लेकिन वह बलवानों की नहीं, दुर्बलों की अहिंसा थी। गांधीजी के मार्गदर्शन में यहां जो अहिंसक लड़ाई चली, उसमें हमने अहिंसा का टूटा-फूटा आचरण किया। मन में तो द्वेष रखते थे और ऊपर-ऊपर से अहिंसा का आचरण दिखाते थे। परिणामतः स्वराज्य आया, फिर भी हमें प्रतीति नहीं हुई कि हमने अहिंसा से स्वराज्य हासिल किया है। इस कारण अहिंसा का मजा खतम हो गया। अहिंसा की शक्ति का कुछ चमत्कार तो हमने देखा, फिर भी उस शक्ति का हमें अपने भीतर प्रत्यय नहीं मिला।

इसीलिए आज तक हिंसा-अहिंसा के सवाल का अंतिम हल बहुतों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन में नहीं हुआ है। कुल मिलाकर लोग ऐसा मान लेते हैं कि अहिंसा के बचाव के लिए थोड़ी हिंसा तो करनी ही पड़ती है। पुराने जमाने में तो भले-भले लोग ऐसा मानते थे। लेकिन आज गांधीजी के हो जाने के बाद भी हमारे मन में इस सम्बन्ध में एक समझौता हो गया है। पहले के धर्मों ने ऐसा ही किया है। उन्होंने मान लिया कि अहिंसा उत्तम है जरूर, लेकिन वह व्यक्तिगत जीवन में। समाज में तो हिंसा के साथ थोड़ा समझौता करना ही पड़ता है। ऐसा न किया हो, तो फिर रविवार के दिन पूरी श्रद्धा से बाइबिल पढ़ना और शेष छह दिन नये-नये हथियार गढ़-गढ़कर उनका ढेर लगाते जाना कैसे बनता ? ये बेचारे मानते हैं कि आगे चलकर जो समाज आयेगा, उसके लिए अहिंसा बहुत उपयोगी साबित होगी, लेकिन नजर के सामने जो समाज है, उसमें तो हिंसा वगैरह का व्यवहार चलाना ही पड़ेगा। इस तरह गांधीजी ने जो शिक्षण हमें दिया, उसे लोग गौण मानते हैं। इसका कारण यह है कि समाज में अभी तक नैतिक साधन की चाहिए उतनी प्रतिष्ठा नहीं हुई।

गांधी के अनुयायी या तिलक के ?

इसलिए मैं बहुत बार कहता हूं कि हम सब गांधीजी के अनुयायी भले कहलाते हों, लेकिन वास्तव में हममें से कई तिलक महाराज के ही अनुयायी हैं। लोकमान्य ने 'गीता-रहस्य' में अहिंसा का बहुत गौरव किया है, लेकिन बाद में कहा है कि 'इसका स्थान व्यक्तिगत जीवन में है, सार्वजनिक जीवन में अहिंसा नहीं चल सकती।' हममें से बहुत सारे लोकमान्य की इस मान्यता का ही व्यवहार में अनुसरण करते हैं और समाज-जीवन में आचरण करने का सवाल आता है, तब हिंसा-अहिंसा के बारे में समझौता कर लेते हैं।

इसलिए फिर राइफल-क्लब खोलना हो, तो भी गांधीजी का नाम लेकर ही खोलते हैं। दावा किया जाता है कि 'डरकर भागने की अपेक्षा हिम्मतपूर्वक मरना बेहतर है।' और देखिये न ! दिल्ली में खुद गांधीजी की समाधि के पास बंदूकधारी सिपाही पहरा देता है। अहिंसा के पुजारी के साथ ऐसे बर्ताव से जरूर चोट लगती है। लेकिन ऐसे समय में तो विनोद कर लेता हूं। मराठी में कहावत है : 'अति झाले, हसु आलें।' मैं विनोद में कहता हूं कि यह तो गांधीजी की ही भूल है कि उन्होंने मरने के लिए दिल्ली पसंद की। दिल्ली में तो सब दिल्ली के ढंग पर ही होगा न ? हां, ये सैनिक समाधि के प्रति आदर के रूप में अपने शस्त्र नीचे रखकर खड़े रहते हैं, इसलिए प्रतीकात्मक रूप से ऐसा अर्थ निकल सकता है कि हिंसा अहिंसा के आगे सिर झुका रही है।

क्या केवल सुविधा का धर्म पालकर ही सन्तोष मानना है ?

लेकिन वास्तव में बात यह है कि अब तक हमें अहिंसा की शक्ति का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूरा-पूरा भान नहीं हुआ। नहीं तो गांधीजी के नाम पर ऐसा न चलता। गांधीजी ने मुख्य जोर इसी बात पर दिया था कि अहिंसा का ध्यान केवल व्यक्तिगत जीवन तक ही नहीं, सार्वजनिक जीवन में भी उसका स्थान है। बाकी, क्या अहिंसा की बातें धर्मों ने कम कही हैं? जैन-धर्म तो व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा का कितना बारीक विचार करता है? प्राणीमात्र को कष्ट न हो, इसका भी खयाल रखता है। जैनी जंतुओं का नाश होना भी सहन नहीं कर सकते, जब कि दूसरी ओर वे ही लोग सेना का बचाव करते हैं। उन्होंने मांसाहार का भी निषेध किया है, लेकिन सेना तो चाहिए। इस तरह हमने सब धर्मों के साथ समझौता किया है। कहते हैं कि धर्म तो व्यावहारिक होना चाहिए; ऐसा धर्म, जो सारे धर्म का सफाया कर सकता है, ऐसा सुविधावाला धर्म, जो हमारी सुविधा के अनुसार बरते। धर्म के लिए कोई असुविधा, कठिनाई उठाने को तैयार नहीं।

लेकिन मेरा कहना यह है कि भले ही दूसरे सब ऐसा कहें, पर गांधी-वाले भी ऐसा ही कहते हैं तो गांधीजी का आना और जाना सारा व्यर्थ हुआ। अगर इस तरह गांधी-विचार का अर्थ करेंगे, तो बापू पर हम बहुत अन्याय करेंगे।

हकीकत यह है कि हिंसा-अहिंसा के विषय में हमारे मन में अब तक सफाई हुई ही नहीं। इसीसे इतने वर्षों में भी देश में हिंसा कम नहीं हुई। लोगों के मन में अब भी वह पड़ी है। लोग सोचते हैं कि गांधीजी और सुभाषबाबू इन दोनों के दो मार्ग हैं, देश को दोनों की जरूरत है और दोनों एक होंगे, तभी देश का काम होगा। वे यह मानते हैं कि जैसे हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के संयोग से पानी बनता है, वैसे ही देश का काम पार लगाने के लिए गांधीजी और सुभाषबाबू दोनों के मार्गों की जरूरत है। लोगों के मन में भ्रम है कि दोनों के संयोग से ही आज काम चल रहा है।

अणु-युग में विज्ञान का आह्वान

लेकिन वास्तव में आज दुनिया अहिंसा की तरफ तेजी से आगे बढ़ रही है। विज्ञान ने आज मनुष्य के सामने एक समस्या पैदा कर दी है, जो पहले नहीं थी। हिंसा के जो साधन पहले मौजूद थे, उनसे कुछ प्रश्न हल होते थे, इसलिए हिंसा पलती थी। हिंसा से लाभ भी होता था, नुकसान भी। जितना लाभ होता, उतना हिंसा को आश्रय मिलता। लेकिन अब अणु-शस्त्र आये हैं, तो अब या तो अहिंसक समाज बनेगा या मानव-जाति ही खतम हो जायगी। यह समस्या विज्ञान ने मनुष्य के सामने खड़ी कर दी है। अणु-शस्त्रों के शोध के बाद आत्यंतिक हिंसा और आत्यंतिक अहिंसा एक-दूसरे के सामने हाथ बढ़ा रही है। मेरी श्रद्धा है कि ये अणु-शस्त्र मनुष्य को अहिंसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की ओर ले जायेंगे, नहीं तो मानव-जाति खतम हो जाएगी। ईश्वर अगर संहार नहीं चाहता तो अहिंसक समाज-रचना अनिवार्य है। इसलिए मुझे विश्वास है कि दुनिया आज अहिंसा की तरफ तेजी से आगे बढ़ रही है।

गांधीजी की मृत्यु के बाद बहुत सन्देश आये। उनमें जनरल मैकआर्थर का सन्देश था कि 'किसी-न-किसी दिन दुनिया को गांधीजी की बात ही सुननी पड़ेगी। उसके बिना कोई चारा नहीं।' उसे ऐसा बोलना पड़ रहा है, क्योंकि अणु-अस्त्रों के कारण एक विनिष्ट परिस्थिति निर्मित हुई है।

अतएव हिंसा आज बीते जमाने की चीज हो गई है और गांधीजी की अहिंसा की बात हमारे जमाने के बिलकुल अनुकूल है। इसलिए अब यदि हम अपनी सामाजिक और आर्थिक आजादी के सवाल अहिंसा की शक्ति से हल करें, तो दुनिया में निःशस्त्र प्रतीकार असरकारक साबित होगा और दुनिया को एक मार्ग मिल जाएगा। आज हिंसा कर-करके थकी दुनिया उसे छोड़ने को तैयार हो जाए, ऐसी परिस्थिति है। इसलिए हमें अहिंसा का चमत्कार सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में करके बताना है। सामाजिक सवाल अहिंसा से हल हो सकते हैं, ऐसी प्रतीति दुनिया को करानी है। गांधीजी के नेतृत्व में अहिंसा के मार्ग से स्वराज्य प्राप्त किया है, उसके बाद अब हमें यह काम करना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रांति और अहिंसा

क्रांति का अर्थ होता है अचानक हो जाने वाला एक व्यापक परिवर्तन। आज की परिस्थितियों में जिस परिवर्तन की संभावना नहीं लगती है, कल वही परिवर्तन जब हमारे सामने आ जाता है अथवा कल उस परिवर्तन के लिए जब व्यापक भूमिका तैयार हो जाती है, हम उसे क्रांति कहते हैं। देशव्यापी परिवर्तन के लिए माध्यम भी देशव्यापी होने जरूरी होते हैं। इस दृष्टि से हमारे सामने तीन रास्ते आते हैं—संविधान, हिंसा और अहिंसा। जयप्रकाश जी ने इन्हें कानून, कत्ल और करुणा भी कहा है। व्यक्ति के सामाजिक जीवन में आरम्भ से ही इन तीनों का कमोबेश स्थान रहा है।

संविधान का मुख्य उद्देश्य व्यवस्था को बनाए रखने का होता है। वैसे समाज के विकास का दायित्व भी इस पर होता है, किन्तु समाज के आमूलचूल परिवर्तन का वाहक यह नहीं होता। यह परिवर्तन तो होता भी तभी है जब लोग कानून से ऊपर उठकर सत्ता अपने हाथ में ले लेते हैं। संविधान किसी क्रांति के लिए नहीं होता किन्तु स्वीकृत व्यवस्था की सुचारुता के लिए होता है। इस स्थिति में उससे किसी क्रान्ति की अपेक्षा करना संगत नहीं होगा।

अब प्रश्न हिंसा और अहिंसा का ही शेष रह जाता है। हिंसा और अहिंसा के माध्यमों में भी अहिंसा सदा प्राथमिक स्थान पर आरूढ़ रही है। जगत् में ऐसा एक भी प्राणी नहीं हो सकता जो हिंसा, रक्तपात और युद्ध के पक्ष में हो। जब उसका अभीप्सित अन्य साधनों से नहीं मिलता, तब वह हिंसा का सहारा लेता है। हिंसा में विश्वास रखने वाले साम्यवादी लोग भी यह स्वीकार करते हैं। यदि अहिंसा से क्रांति संभव हो तो इससे उत्तम रास्ता दूसरा कोई हो नहीं सकता। किन्तु दुर्भाग्यवश विश्व के इतिहास मे ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता, जब अहिंसा से कहीं क्रांति आई हो। यही कारण है, लोगों का झुकाव अहिंसा से हटकर हिंसा की ओर ही रहा।

अहिंसा किसी भी क्रांति या व्यापक परिवर्तन के लिए सर्वथा अक्षम है, इसे कभी स्वीकारा नहीं जा सकता। सचाई यह है कि हिंसा भी अहिंसा पर जाकर विश्राम लेती है। वह अन्त तक कभी निभ ही नहीं सकती। इसलिए अहिंसा से क्रांति की संभावना को संपूर्णतः समाप्त नहीं किया जा सकता। हमारे प्राचीन साहित्य में मिलता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नैव राज्यं न राजासीत्, न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः, रक्षिताः स्म परस्परम्॥

—न वहां कोई राज्य था, न कोई राजा था, न कोई दण्ड था, न कोई दण्ड देने वाला था। सारी प्रजा धर्म से ही परस्पर रक्षित थी। ये सारे उल्लेख कल्पना मात्र हों, यह तो नहीं माना जा सकता। फिर साम्यवाद की परिणति भी शासन-विहीन राज्य (Stateless State) में होती है। यानी उसकी अन्तिम परिणति भी अहिंसा में ही होती है। इस स्थिति में अहिंसा से संपूर्ण संभावना को निकाल लें, यह उचित नहीं होगा।

इतिहास में ऐसे उदाहरण चाहे न मिलते हों, जहां अहिंसा से किसी क्रांति का सूत्रपात हुआ हो, पर ऐसे उदाहरण अनेक मिलेंगे जहां हिंसा ने थककर आखिर अहिंसा में ही विश्राम लिया है। क्या यह स्वयं हिंसा की असफलता का ज्वलन्त प्रमाण नहीं है? फिर इतिहास में ऐसा भी कोई उदाहरण नहीं मिलता, जब हिंसक क्रांति केवल हिंसा के बल पर अपनी मंजिल तक पहुंच पाई हो। मेरा तो विश्वास है कि कोई भी क्रांति यदि संपूर्ण रूप से हिंसा के आधार पर चली होती, तो आज तक मनुष्य जाति कभी की ही समाप्त हो गयी होती। हम सोचते हैं कि क्रांति से देश को आर्थिक समाधान मिल जाएगा, राजनैतिक समस्याएं सुलझ जाएंगी। हमारा सोचना शायद गलत न भी हो। किन्तु इतना मैं अवश्य कह सकता हूं कि वह क्रांति यदि हिंसा से आई तो हो सकता है वे प्रश्न एक बार हल हो भी जाएं। किंतु उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप होने वाले परिणाम इससे भी अधिक भयंकर होंगे। खुजली के रोग का ऐलोपैथी में इलाज तो है, लेकिन कहते हैं कि उस दवा से दूसरे-दूसरे इतने रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जो उससे भी अधिक भयंकर होते हैं। ठीक यही स्थिति हिंसक क्रांति की होती है और इसके परिणाम आज का विश्व कुछ अंशों में भोग भी रहा है।

इस प्रकार क्रांति की सफलता और स्थायित्व मैं केवल अहिंसा में ही देखता हूं। यहां इतना अवश्य स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मैं यहां अहिंसा की सूक्ष्म परिभाषा में नहीं जा रहा हूं। अहिंसक क्रांति से मेरा तात्पर्य है, बिना किसी रक्तपात, हिंसा, युद्ध और शस्त्रास्त्र के सहयोग से होने वाली क्रांति। सूक्ष्म अहिंसा में तो किसी प्रकार का दबाव भी नहीं दिया जा सकता। उसे तो केवल हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत ही मान्य होता है। केवल हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त के आधार पर हम समग्र समाज-व्यवस्था को बनाए रखें अथवा वर्तमान समाज-व्यवस्था में एक क्रांतिकारी परिवर्तन लायें, यह बहुत कम व्यावहारिक लगता है। किन्तु अहिंसा के साथ यदि सामूहिक दबाव या बाध्यता को स्वीकार कर लेते हैं, तब वह क्रांति के लिए सबसे अधिक सफल और उपयुक्त साधन बन जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा निस्तेज क्यों ?

मैं इसका कारण अहिंसक लोगों की अहिंसा के प्रति होने वाली ईमानदारी की कमी मानता हूं। वे अहिंसा की आवाज तो अवश्य उठाते हैं, किन्तु वह आवाज केवल कंठों से आ रही है, हृदय से नहीं। गांधीजी ने राजनीति में भी अहिंसा का प्रयोग करना चाहा और आज उसके ठीक उल्टा अहिंसा में राजनीति का प्रयोग हो रहा है। यही कारण है, अहिंसा आज निस्तेज हो रही है।

अहिंसा के निस्तेज होने का दूसरा कारण भी है। अहिंसा का अर्थ होता है किसी दूसरे प्राणी को न मारना, दूसरे को तकलीफ न देना, सबके साथ मैत्री और प्रेम-भाव रखना। इसमें अपने लक्ष्य के लिए स्वयं के मरने का, बलिदान होने का कहीं निषेध नहीं है और न ही उसे हिंसा ही माना गया है। किन्तु आज का अहिंसक जैसे मारने से परहेज करता है (पता नहीं उसमें मारने का साहस भी है या नहीं), उससे अधिक अपने मरने का, अपने को तकलीफ होने का और अपने प्राणों के प्रति प्रेमाकुल होने का ध्यान रखता है। उसने अपने नहीं मरने को भी अहिंसा का एक अंग बना लिया है। यह जड़ता की पराकाष्ठा है। कोई भी सिद्धांत बिना आत्म-बलिदान के सफल होना असंभव है। स्वयं हिंसा भी बलिदान के अभाव में सफल नहीं हो सकती। फिर अहिंसा, जिसका आधार ही त्याग और बलिदान है, बिना उनके कैसे सफल हो सकती है ? आज अहिंसा को ईमानदार और बलिदानी व्यक्तियों की आवश्यकता है, अन्यथा इसकी आवाज का मूल्य अरण्य-रोदन से अधिक नहीं होगा।

इसमें सन्देह नहीं कि आज के मनुष्य ने भौतिक, आर्थिक और बौद्धिक दृष्टि से काफी विकास किया है। विकास की इस भूमिका पर पहुंचने के बाद भी इस प्रकार की निर्ममतापूर्ण घटनाओं का घटित होना इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि भौतिक, आर्थिक, बौद्धिक अथवा अन्य किन्हीं भी मूल्यों पर आधारित प्रगति मानवीय मूल्यों के आधार के अभाव में वांछनीय परिणाम नहीं ला सकती। भौतिक विकास का अर्थ ही है प्रतिस्पर्धा का उभार, जिसका परिणाम संघर्ष और टकराव ही हो सकता है। मानवीय एकता और समान सम्बन्धों की अनुभूति के अभाव में हस्तगत होने वाली शक्ति विकास का नहीं, विनाश का ही कारण बनती है। इसलिए मेरे विचार से विकास का मानदण्ड बौद्धिक और भावना पक्ष दोनों का संतुलित रूप होना चाहिए।

अमरीका में चल रहे वर्णात्मक संघर्ष की भूमिका में यह सहृदयता का अभाव ही काम कर रहा है। गोरे लोग अपने को ऊंचा मानते हैं। काले लोग उस होटल में खाना न खाएं, जिसमें वे खाते हैं। उन क्लबों के सदस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न हों, जिनके वे हैं। वे उनके साथ बैठें-घूमें नहीं। उनके बच्चे उनके (गोरों के) बच्चों के साथ खेलें नहीं, पढ़ें नहीं, साथ-साथ रहें नहीं और बातचीत न करें। इस प्रकार सहृदयता का अभाव ऊंच-नीच के दर्प को जन्म देता है। दर्प दूसरे के प्रति घृणा के भाव पैदा करता है, घृणा का प्रतिकार आतंक उत्पन्न करता है और आतंक अपनी सुरक्षा के लिए हिंसा का सहारा लेता है।

सहृदयता का अभाव, ऊंच-नीच का दर्प, घृणा और आतंक—ये हिंसा के बीज हैं। जब तक मानवीय एकता, समानता और स्वतंत्रता के मूल्यों का विकास नहीं होगा, ये बीज फलते-फूलते रहेंगे और अपने विषफलों से लोगों में उन्माद भरते रहेंगे।

आत्मख्यापन की मनोवृत्ति भी इस प्रकार की घटनाओं में यदा-कदा कारण बनती है। एक अमरीकन इतिहासज्ञ इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि इन हत्याओं के षड्यन्त्र में व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षाएं अधिक काम करती हैं। उसके मत में पश्चिम के लोग आज आत्म-प्रसिद्धि के रोग से इतने ग्रस्त हो गये हैं कि वे येन-केन-प्रकारेण उसे प्राप्त करना चाहते हैं। किंग की हत्या के बाद जर्मन युवक नेता की हत्या इस तथ्य को अधिक पुष्ट करती है। व्यक्ति सोचता है कि किसी महापुरुष की हत्या कर सारे संसार में वह अचानक प्रसिद्ध हो जाएगा। कुछ भी हो, आज जो यह मानसिक और पागलपन बढ़ता जा रहा है, उसकी रोकथाम हुए बिना ये समस्याएं सुलझ सकें, यह सर्वथा असम्भव है।

किंग की हत्या अहिंसा की पराजय नहीं, किन्तु महान् विजय है। इससे हिंसा की कायरता स्पष्ट परिलक्षित होती है। अहिंसा की अजेय शक्ति का यह एक ज्वलन्त उदाहरण है कि अहिंसा-निष्ठ एक नन्हा-सा आदमी भी समूचे देश की शक्ति को चुनौती दे सकता है। किंग ने अपना बलिदान देकर अहिंसा को बहुत तेजस्वी बनाया है।

अब प्रश्न यह है कि अहिंसा-निष्ठ लोग इस चुनौती का सामना कैसे करें? बहुत ही जटिल और उलझन भरा प्रश्न है यह। किन्तु यह निश्चित है कि हिंसा के हाथों अहिंसा हतप्रभ नहीं हो सकती। अपेक्षा यही है, कि इस प्रकार की घटनाओं से अहिंसा-निष्ठ लोग न निराश बनें और न ही उत्तेजित और उद्विग्न बनें। किंग की हत्या के बाद नीग्रो लोगों ने अमेरीका में आगजनी, लूटपाट और हत्याकाण्ड के जो दृश्य उपस्थित किए, अहिंसा में इनको वांछनीय नहीं कहा जा सकता। हिंसा तो यह चाहती ही है कि अहिंसा में उत्तेजना आए, वह भड़के और मेरा सहारा ले। अहिंसा-निष्ठ व्यक्ति इस प्रकार की परिस्थिति में यदि उत्तेजित हो जाते हैं तो मानना चाहिए, यह हिंसा की ही विजय है। काले लोगों से घृणा करने वालों ने किंग के शरीर की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हत्या की थी, किन्तु बाद में उसकी जाति के लोगों ने आगजनी और उत्पात के दृश्य उपस्थित कर उसकी आत्मा की हत्या करने का प्रयास किया। कितना अच्छा होता, नीग्रो जाति अपने प्यारे नेता के निधन से प्रेरित होकर दुगुनी शक्ति से उसके मिशन को पूरा करने में लग जाती! उसके द्वारा संचालित होने वाले अहिंसात्मक अभियान को हतप्रभ नहीं होने देकर अपनी आहुति से उसे और अधिक प्रज्वलित करती। किंग की पत्नी ने अपने पति के अभाव में स्वयं उस रैली की कमान संभालकर सचमुच ही एक आदर्श उपस्थित किया, जिसके आयोजन की पूर्व-भूमिका में किंग को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा था।

यह अहिंसा का परीक्षण-काल है। अहिंसावादी लोगों का यह कर्तव्य है कि वे अहिंसा को वीर्यहीन न बनने दें। इस दृष्टि से उन लोगों का अहिंसा की दिशा में संगठित चिन्तन और संगठित प्रयत्न होना चाहिए। जन-जन के लिए अहिंसा तभी व्यवहार्य और ग्राह्य बन सकती है जब उसमें प्रतिरोध की शक्ति आए। निर्वीर्य अहिंसा में आज के युग की आस्था नहीं हो सकती। मेरी दृष्टि से अहिंसा तभी वीर्यवान हो सकती है जब उसे संगठित चिन्तन और संगठित प्रयत्न का आधार मिले।

यह मैं अहिंसा की दुर्बलता मानता हूं कि उसके अनुयायियों का संगठन नहीं हो पाता। कुछ अहिंसा-निष्ठ व्यक्तियों का संगठन में इसलिए विश्वास भी नहीं है कि वे उसमें अहिंसा का खतरा देखते हैं। मैं अहिंसा की वीर्यवत्ता के लिए संगठन को उपयोगी समझता हूं। हिंसा वहां है जहां बाध्यता हो। साधना के सूत्र पर चलने वाले प्रयत्न व्यक्तिगत स्तर पर जितने शुद्ध होते हैं, समूह के स्तर पर भी उतने ही शुद्ध हो सकते हैं। सामूहिक अभ्यास से उस शुद्धता में तेजस्विता और अधिक निखर आती है।

अहिंसा को सफल बनाने के लिए उसके व्यवस्थित प्रशिक्षण की भी आज नितान्त अपेक्षा है। स्थान-स्थान पर प्रशिक्षण-केन्द्रों की व्यवस्था हो और अहिंसा के व्यापक स्तर पर प्रयोग किए जाएं तो मैं समझता हूं अहिंसा के प्रति जन-जन का आकर्षण स्वयं बढ़ेगा; हिंसा के प्रति लोगों की कोई आस्था नहीं है। सब लोग अच्छी तरह जानते हैं कि हिंसा किसी भी समस्या का समाधान बन नहीं सकती। लेकिन अहिंसा के प्रशिक्षण और पथ-दर्शन के अभाव में उन्हें विवशता से हिंसा का पथ स्वीकार करना पड़ता है। मैं आशा करता हूं, इस प्रकार की घटनाओं से प्रेरित होकर अहिंसा-निष्ठ लोग अहिंसा के प्रशिक्षण तथा प्रयोगों की ओर विशेष ध्यान देंगे।

अहिंसात्मक प्रतिकार का स्वरूप क्या होगा?

अहिंसात्मक प्रतिरोध कार्यक्रम में उसके अनुरूप भूमिका का होना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जरूरी है। उस भूमिका की दृष्टि से मैं सबसे पहला स्थान अहिंसा के प्रशिक्षण को दूंगा। निष्ठा की बात भी प्रशिक्षण के अभाव में चल नहीं सकती।

किसी भी समस्या के समाधान में हिंसा और अहिंसा दोनों साधन सदा से प्रयोग में आते रहे हैं। किन्तु प्रश्न यहां पर परम्परा का है। रूस और अमरीका दोनों देश आणविक युद्ध में सक्षम हैं। फिर भी वे निरन्तर इस युद्ध को टालने का प्रयत्न करते हैं। आखिर क्यों? इसीलिए कि इससे एक नयी परम्परा का जन्म होता है, जिसका भविष्य बिलकुल धुंधला है।

अहिंसा अपने आप स्वस्थ विचार है। किन्तु उसकी परम्परा तब तक नहीं बन सकती जब तक उसका सफल प्रयोग-परीक्षण न हो। उस प्रयोग-परीक्षण की पूर्व तैयारी में अहिंसा का प्रशिक्षण सबसे बुनियादी कार्य है।

अहिंसात्मक प्रतिरोध के विचार में हमें कुछ मान्यताएं या निश्चित सूत्र भी स्थिर करने होंगे। इसके लिए सबसे पहले देश, काल और परिस्थितियों का ज्ञान होना आवश्यक है। परिस्थितियों को देखते हुए किस कार्य को किस रूप में हाथ में लिया जाए, किस रूप से उसका संचालन किया जाए, इन सबके विवेक के बिना यह कार्य आगे नहीं बढ़ सकता। गांधीजी अपने सत्याग्रह आन्दोलन में अनेक मोड़ लिया करते थे। कभी वे आन्दोलन को तेज करते, कभी मंद करते और कभी स्थगित भी कर देते। इनके पीछे एक ही कारण था—देश, काल और परिस्थितियों का संतुलन बनाये रखना।

दूसरे, निर्णय में विवेक-जागरण के साथ-साथ निर्णेता का तटस्थ और विनम्र दृष्टिकोण होना नितान्त आवश्यक है। तटस्थता और विनम्रता अहिंसात्मक प्रतिरोध के आधार-स्तम्भ हैं। किसी भी विचार के प्रति पूर्वाग्रह और अहंभाव उनमें निभ नहीं सकते। पक्ष-विशेष में बंधकर प्रतिरोध की बात करना स्वयं हिंसा है।

तीसरे, इसमें दृष्टिकोण और प्रवृत्ति की विशुद्धता का होना अनिवार्य है। किसी एक के प्रति सद्भाव और दूसरे के प्रति दुर्भाव या दूसरे को हानि पहुंचाकर भी अपनी बात का समर्थन इसमें नहीं होना चाहिए।

दुर्भाव, बल-योग और बाध्यता—ये साधन स्वयं हिंसा से संपृक्त हैं। किसी भी विचार या पक्ष के विरोध में प्रतिरोध होते हुए भी अहिंसा यह अनुमति नहीं देती कि हमारे दिलों में विरोधी के प्रति दुर्भाव या घृणा के भाव हों। भारत-चीन युद्ध के संदर्भ में स्वर्गीय पंडित नेहरू ने यही कहा था—'स्थितिवश हमें चीनियों के साथ लड़ना पड़ रहा है तो हम लड़ेंगे। किन्तु हमारे दिलों में उनके प्रति दुर्भाव या घृणा के भाव नहीं होने चाहिए।' मानवीय समता, एकता, स्वतंत्रता और सह-अस्तित्व की अनुभूति में से ही अहिंसा प्रसूत होती है।

इसके बाद अहिंसात्मक प्रतिरोध का करणीय पक्ष हमारे समक्ष आता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। उसके लिए जन-बल को बटोरना होगा। उस बल के लिए साधारण जन-मानस को यही प्रतीत होना आवश्यक है कि आवेग आवेग को उपशांत नहीं कर सकता। हिंसा हिंसा को खत्म नहीं कर सकती। आग आग को नहीं बुझा सकती। यह प्रतीति जिस दिन कसौटी पर चढ़कर जनता के समक्ष आएगी, वह एक आश्वासन का स्वर होगा और जनता स्वयं उस स्वर के साथ अपना स्वर जोड़ देगी।

हम एक व्यावहारिक उदाहरण लें। मिलावट के विरुद्ध, रिश्वत के विरुद्ध अथवा अन्य किसी सामाजिक बुराई के विरुद्ध हर कोई आदमी आश्वासन चाहता है। वह चाहता है, उसे शुद्ध वस्तु मिले, बिना रिश्वत के उसका कार्य सधे। अब मिलावट या रिश्वत के विरुद्ध यदि कहीं आवाज उठती है तो जनता का समर्थन मिलना स्वाभाविक है और जिस चीज के विरुद्ध जन-मत तैयार हो जाता है, वह कार्य कभी चल नहीं सकता। इस प्रकार अहिंसात्मक प्रतिरोध में मुझे हिंसात्मक प्रतिरोध की अपेक्षा अधिक क्षमता, सफलता और सहजता दीखती है। ध्यान देने की बात इतनी ही है कि उसका सूत्र-संचालन तटस्थता, विनम्रता, दृष्टिकोण और प्रवृत्ति की विशुद्धता और समता के साथ हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा और वीरत्व

अहिंसा-निष्ठ समाज या व्यक्ति दया और करुणा-प्रधान अवश्य होता है किन्तु इस कारण उसमें वीरत्व और पौरुष नहीं हो सकता, इसे मैं मिथ्या आरोप या भ्रम समझता हूं। आरोप उनका है, जिनकी अहिंसा में निष्ठा नहीं है और भ्रम उनका है, जिन्होंने अहिंसा को समझा नहीं। यह तभी संभव है, जब दया और करुणा के साथ वीरत्व और पौरुष का विरोध हो। मैं इनमें विरोध तो देखता ही नहीं, प्रत्युत एक-दूसरे में एक-दूसरे का साहचर्य आवश्यक मानता हूं। आज एक-दूसरे में एक-दूसरे का साहचर्य नहीं है। इसीलिए जिस प्रकार दया और करुणा लांछित हैं, वैसे ही वीरत्व और पौरुष भी लांछित हैं।

भारतीय दार्शनिकों ने अहिंसा पर बहुत सूक्ष्मता से विचार किया है। अनेक धर्म-ग्रन्थों ने भारतीय जीवन-पद्धति में अहिंसा का विधान भी दिया है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उन्होंने प्रतिकार का निषेध किया हो। जहां समाज में संपत्ति और अपरिग्रह है, उस संपत्ति और परिग्रह की सुरक्षा का निषेध कोई भी धर्म-ग्रन्थ नहीं कर सकता।

भारत-पाक-संघर्ष के समय मैं दिल्ली में था। वहां एक बार सहसा दिनकरजी मिले। उन्होंने छूटते ही कहा—'आप लोगों के सामने तो अभी विकट समस्या होगी, भारत और पाक के बीच युद्ध जो चल रहा है। आप न तो युद्ध को अच्छा मानते हैं, न उसका समर्थन करते हैं और न युद्ध में भाग लेने के लिए अपने अनुयायियों को आदेश ही देते हैं। आदेश तो दूर, भाग लेने का निषेध भी करते हैं। अब इस नाजुक समय में आपके सिद्धान्तों की रक्षा कैसे संभव है?'

यह एक भ्रमपूर्ण प्रश्न है जो एक-दो व्यक्तियों तक सीमित नहीं, व्यापक रूप लिए है। हम युद्ध को न अच्छा मानते हैं और न समर्थन ही करते हैं—यहां तक इस कथन में अवश्य सचाई है। किन्तु युद्ध में भाग लेने का निषेध करते हैं, यह कहना सही नहीं। क्योंकि जब तक समाज के साथ परिग्रह जुड़ा हुआ है, मैं हिंसा और युद्ध की अनिवार्यता देखता हूं। परिग्रह के साथ लिप्सा का गठबन्धन होता है। लिप्सा भय को जन्म देती है, और भय निश्चित रूप से हिंसा और संघर्ष का आमंत्रण है। समाज में जीने वाला और समाज की सुरक्षा का दायित्व ओढ़ने वाला आदमी युद्ध के अनिवार्य कारणों को देखता हुआ भी उसे नकारने का प्रयत्न करे, इसे मैं खण्डित मान्यता मानता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं जब जैन इतिहास के पन्ने पलटता हूं तब मेरे सामने ऐसे अनेक जैन राजा और मंत्रियों के नाम आते हैं, जिन्होंने अपने राज्य का संचालन बड़ी कुशलता से किया। अनेक जैन-सेनापतियों का परिचय पाता हूं, जिन्होंने अपने सेनापतित्वकाल में अनेक युद्ध बड़ी वीरता से लड़े और विजयी होकर लौटे। यदि जैन-धर्म या अहिंसा उन्हें कायर बना देती तो यह सब कैसे होता? प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के समय भरत-बाहुबली के बीच महान संग्राम हुआ था। अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के समय राजा कोणिक और चेटक के बीच जब कि वे दोनों ही भगवान् महावीर के शिष्य थे, इतिहास-प्रसिद्ध भयंकर युद्ध हुआ। इन सब उदाहरणों से स्पष्ट होता है, परिग्रह और सत्ता की स्थिति में युद्ध की स्थिति अनिवार्य रही है और अहिंसा में विश्वास रखने वाले भी उस स्थिति में सदा कर्तव्य-परायणता और वीरता के साथ भाग लेते रहे हैं, क्योंकि वे परिग्रह, हिंसा और अहिंसा—इन सबकी आवश्यकताओं और सीमाओं से अपरिचित नहीं थे।

परिग्रह, लिप्सा, भय और हिंसा—इनमें कार्य-कारण-भाव होता है। एक को स्वीकारते हुए हम दूसरे को नकार नहीं सकते। अपरिग्रह के साथ अहिंसा की बात अवश्य निभ सकती है। अपरिग्रह, अभय और अहिंसा—यह एक पूरा वृत्त है। किन्तु परिग्रह का दायित्व स्वीकार करने वाला उसकी सुरक्षा के समय अहिंसा की बात करे, इसे मैं निरी कायरता मानता हूं।

सामाजिक व्यक्ति के लिए युद्ध एक अनिवार्य कोटि की हिंसा है—एक ऐसी हिंसा जिसका परिहार समाज में जीने वाला आदमी नहीं कर सकता। हां, इतना अवश्य है, मैं युद्ध में होने वाली हिंसा को अहिंसा नहीं मानता। कुछ धर्म-ग्रंथों ने युद्ध में लड़ने को धर्म और स्वर्ग तथा अपवर्ग-प्राप्ति का साधन बताया है। मैं इससे सहमत नहीं। यह तो स्वयं अहिंसा का खण्डन है।

भारत सैकड़ों वर्षों तक गुलाम रहा। इस गुलामी का कारण अहिंसा को मानना, मेरे विचार से एक अज्ञानपूर्ण बात होगी। इतिहास स्वयं इस बात का साक्षी है कि अहिंसा के उत्कर्षकाल में देश ने सदा सब प्रकार से उन्नति की है। भगवान महावीर और गौतम बुद्ध के अहिंसा और करुणा के उपदेशों का प्रभाव उनके बाद करीब पन्द्रह सौ वर्षों तक चलता है। गुप्त-साम्राज्य, जो कि भारत के इतिहास में स्वर्णिम युग कहा जाता है, वह भी इसी अवधि में पनपा था। पन्द्रह सौ वर्षों का इतिहास आज भी अपनी गौरव भरी विजय-गाथाएं गा रहा है।

उसके बाद अहिंसा का प्रभाव घटने लगा। अहिंसा का उपदेश देने वाले धर्म सम्प्रदाय स्वयं आपसी झगड़ों में उलझ गए। कलह, ईर्ष्या और विद्वेष ने राजनीति, समाज और धर्म—किसी को भी अछूता नहीं छोड़ा। धर्म के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम पर स्थान-स्थान पर मल्ल-युद्ध और अखाड़ेबाजी होने लगी। सारा देश छोटी-छोटी इकाइयों में बंट गया और वे छोटी-छोटी इकाइयां भी सम्प्रदाय, जाति और वर्ण के अनेक टुकड़ों में विभक्त हो गयीं। दिन-प्रतिदिन क्रिया-काण्डों का जोर भी बढ़ता गया। ये सब ऐसे कारण थे, जिन्होंने भारत के बाहर से भी टुकड़े-टुकड़े कर डाले और भीतर से भी उसे अशक्त और निर्बल बना दिया।

अहिंसा-निष्ठा के कारण भारत गुलाम रहा, यह बात भी समझ में आ जाती, यदि भारतीय लोग युद्ध-विमुख हो जाते। जबकि स्थिति यह है कि पिछले हजार वर्षों में भारत-भूमि पर छोटे-छोटे सैकड़ों युद्ध लड़े गए हैं। छोटी-छोटी रियासतों की सीमाएं प्रायः अशान्त रही हैं। जब यहां बराबर युद्ध होते रहे हैं, यहां की नस-नस में हिंसा का प्रवाह रहा है, फिर अहिंसा-निष्ठा कैसी ?

संक्षेप में, मेरे विचारों में अहिंसा वीरों का आभूषण है। अहिंसा स्वतंत्रता का प्राण है। गुलामी स्वयं हिंसा है। भगवान् महावीर ने जैसे प्राण-वध को हिंसा माना है, दास-प्रथा को भी हिंसा माना है। गुलामी और अहिंसा का आपस में कोई ताल-मेल नहीं है। इस प्रकार अपनी ही कायरता, रणनीति की अकुशलता, क्रियाकाण्डों का बाहुल्य और आपसी कलह और फूट के कारण शताब्दियों तक पलने वाली भारत की गुलामी को अहिंसा के साथ नत्थी नहीं किया जा सकता।

अहिंसात्मक प्रतिरोध

मेरे विचार से इन स्थितियों में अहिंसा की आवाज का मूल्य और अधिक बढ़ जाता है। पानी का सदा महत्त्व रहता है, लेकिन अकाल के समय उसका मूल्य अधिक बढ़ जाता है। युद्ध के समय शांति का मूल्य और अधिक बढ़ जाता है। हिंसा के समय अहिंसा का मूल्य-स्थापन स्वयं प्रकृति है।

प्रश्न अब अहिंसा के मूल्य का ही नहीं, उसकी प्रतिष्ठा का है। मैं मानता हूं, यह अहिंसा का परीक्षा-काल है, अहिंसा के प्रयोग का काल है। इस स्वर्णिम अवसर का लाभ उठाते हुए अहिंसा यदि इन समस्याओं का समाधान देती है तो उसका तेजस्वी रूप स्वयं प्रतिष्ठित हो जाएगा अन्यथा वह बेकार रह जाएगी।

देश की आजादी के संदर्भ में गांधीजी ने अहिंसा को केन्द्र में प्रतिष्ठित किया था। परिणामतः बिना किसी खून-खराबे के भारत को आजादी मिली। इसके साथ ही लोगों के दिलों में अहिंसा के प्रति आस्था भी बढ़ी। किन्तु बाद में अहिंसा को केन्द्र-स्थान नहीं दिया गया, उसे पार्श्व-स्थान मिला, एक नीति के रूप में स्थान मिला। यही कारण है, अहिंसा का तेजस्वी रूप सामने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं आ पाया। लोगों ने इस नीति की दुर्बलता को अहिंसा की दुर्बलता माना। इस प्रकार राष्ट्र के मानस में आजादी के समय अहिंसा के प्रति जमने वाली आस्था और उसकी शक्ति में होने वाला विश्वास धीरे-धीरे कम हो गया।

फिर भी सचाई यह है कि हिंसा चाहे अपने चरम सीमा तक पहुंच जाए, पर उसका मूल्य-स्थापन नहीं हो सकता, क्योंकि वह हमारी प्रकृत अवस्था नहीं है। तूफान और उफान किसी अवधि विशेष तक ही प्रभावित कर सकते हैं। वे न स्थायी हो सकते हैं और न उनकी प्रतिष्ठा ही हो सकती है।

मूल्य-स्थापना की संभावना में मुझे जो सबसे बड़ी बाधा दिखाई पड़ती है, वह है अहिंसा के प्रति दृढ़ आस्था की कमी। पर्याप्त आस्था का प्रभाव मुझे जनता में ही नहीं दिखता, स्वयं अहिंसा में विश्वास रखने वाले लोगों में भी नहीं है। इसलिए अहिंसात्मक प्रतिकार की बात से पहले अहिंसक व्यक्तियों में अहिंसा के प्रति अटूट निष्ठा उत्पन्न करना अत्यधिक आवश्यक है। फिर भी अहिंसा के मूल्य-स्थापन की संभावना में मुझे कोई संदेह नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा शास्त्र ही नहीं, शस्त्र भी

मनुष्य शान्ति का इच्छुक है। वह शान्ति से जीना चाहता है। उसकी शान्ति में किसी प्रकार की बाधा पहुंचती है तो वह अस्थिर हो जाता है। शान्ति के लिए इतनी गहरी तड़प होने पर भी वह अशान्ति से घिर जाता है, क्योंकि शान्ति का अमोघ साधन है अहिंसा। जब तक अहिंसा की चेतना नहीं जागती है, अल्प मात्रा में जागती है, तब तक व्यक्ति हिंसा के सहारे चलता है। हिंसा एक प्रकार का उद्वेग है। उद्वेग के साथ शान्ति का दूर का रिश्ता भी नहीं है। उद्वेग की उपस्थिति में शान्ति सांस ही नहीं ले सकती। इसलिए उद्वेगमूलक प्रवृत्ति से बचाव करना जरूरी है।

हिंसा जीवन का एक खतरनाक मोड़ है। यह ऐसा मोड़ है, जहां घुमाव है, फिसलन है और अंधेरा है। घुमावदार मोड़ों पर प्रकाश की समुचित व्यवस्था हो और ट्रैफिक पुलिस सावधान हो तो दुर्घटनाएं कम होती हैं। इसी प्रकार अंधेरे रास्ते सीधे हों तो उन्हें सुविधा से पार किया जा सकता है, पर आगे कुछ भी दिखाई न दे सके, ऐसे मोड़ों पर हर पल मौत का साया मंडराता रहता है।

अहिंसा का रास्ता कुछ लम्बा अवश्य है, पर वहां न तो कुछ खतरनाक मोड़ है, न फिसलन है और न अंधकार है। ऐसे रास्ते पर व्यक्ति निश्चिन्तता के साथ आगे बढ़ता है और समय से पहले मंजिल तक पहुंच जाता है। अहिंसा के दो अंग हैं—सापेक्षता और सह-अस्तित्व। इनका स्रष्टा है अनेकान्त। आज संसार एक ऐसे मोड़ पर खड़ा है, जहां से आगे बढ़ने के लिए उसे अनेकान्त की जरूरत है। किसी भी व्यक्ति, वस्तु या घटना को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना और विरोधी युगलों में समन्वय स्थापित करना—यह अनेकान्त है। यही सापेक्षता और सह-अस्तित्व का आधार है। अनेकान्त की बैसाखी के सहारे मनुष्य शान्ति की दिशा में प्रस्थान कर सकता है और शान्ति से जीवन यापन कर सकता है। अनेकान्त को नहीं समझा गया तो किसी भी समय विश्व-युद्ध भड़क सकता है।

हत्या न करना, न सताना, दुःख न देना अहिंसा का एक रूप है। यह अहिंसा की पूर्णता नहीं। उसका आचारात्मक पक्ष है। विचारात्मक अहिंसा इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है। विचारों में उतर कर ही अहिंसा या हिंसा को सक्रिय होने का अवसर मिलता है। वैचारिक हिंसा अधिक भयावह है। उसके परिणाम अधिक घातक हैं। विचारों की शक्ति की थाह पाना बहुत मुश्किल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जिन लोगों ने इसमें थोड़ा भी अवगाहन किया है, वे विचार-चिकित्सा के नाम से नयी चिकित्सा-विधि का प्रयोग कर रहे हैं। इस विधि में हिंसा, भय, निराशा जैसे नकारात्मक विचारों की कोई मूल्यवत्ता नहीं है। अहिंसा एक मात्र पोजिटिव थिंकिंग पर खड़ी है। पोजिटिव थिंकिंग अनेकान्त की उर्वरा में ही पैदा हो सकती है। अनेकांत के बिना विश्व-शांति की कल्पना ही नहीं हो सकती।

शान्ति का दूसरा बड़ा कारण है—त्याग की चेतना के विकास का प्रशिक्षण। भोगवादी वृत्ति से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। यदि व्यक्ति को शान्ति से जीना है तो उसे त्याग की महिमा को स्वीकार करना होगा, त्याग की चेतना का विकास करना होगा। आचार्य भिक्षु ने सब प्रकार के उपचारों से ऊपर उठकर साफ शब्दों में कहा—'त्याग धर्म है : भोग धर्म नहीं है।' 'संयम धर्म है : असंयम धर्म नहीं है।'—यह वैचारिक आस्था व्यक्ति में अहिंसा की लौ प्रज्वलित कर सकती है।

बात विश्व शान्ति की हो और विचारों में घोर अशान्ति व्याप्त हो तो शान्ति किस दरवाजे से भीतर प्रवेश करेगी? एक ओर शांति पर चर्चा, दूसरी ओर घोर प्रलयंकारी अणु अस्त्रों का निर्माण! क्या यह विसंगति नहीं है? ऐसी विसंगतियां तभी टूट सकेंगी, जब अणु अस्त्रों के प्रयोग पर नियंत्रण हो जाएगा।

जिस प्रकार पानी मथने से घी नहीं मिलता, वैसे ही हिंसा से शान्ति नहीं होती। शान्ति के सारे रहस्य अहिंसा के पास हैं। अहिंसा से बढ़कर कोई शास्त्र नहीं है, शस्त्र भी नहीं है। आवश्यकता है इस संदर्भ में कुछ नया खोजने की। जब तक हम नयी खोज-यात्रा के निष्कर्ष तक नहीं पहुंच पाएंगे, अहिंसा की क्रियान्विति कोरी कल्पना बनकर रह जाएगी। कल्पना के चोगे को उतारे बिना विश्व-शान्ति का सपना कभी साकार नहीं हो सकेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा : जीवन-संस्कृति की नई दिशा

मनुष्य को भूख लगे और खाने की चीज उसके पास हो फिर भी वह नहीं खाये, ऐसा कभी हो सकता है ? यह मनुष्य स्वभाव के विरुद्ध है। पेट में भूख हो, और हाथ में खाद्य-पदार्थ हो तो मनुष्य उसे न खाए, यह तो न कभी हुआ और न हो ही सकता है।

लेकिन तपस्या करने वाले केवल मुट्ठी भर साधु ही नहीं, बल्कि हजारों और लाखों धार्मिक लोग एकादशी, शिवरात्रि, पर्युषण, रमजान अथवा लेंट के नाम से मनुष्य स्वभाव के विरुद्ध फाका करते, व्रत रखते, पाए जाते हैं।

यौवन हो और विकार को तृप्त करने का मौका भी हो, ऐसी हालत में मनुष्य ने क्या कभी विषय-सेवन छोड़ा है ? यह मनुष्य स्वभाव के विरुद्ध है। इसमें शायद 'कुदरत का द्रोह' भी है। कहा जाता है मनुष्य चाहे तो संयम का और ब्रह्मचर्य का दंभ कर सकता है; लेकिन कुदरत ने यह शक्ति सामान्य मनुष्य को दी ही नहीं है। धार्मिक साधना के कारण जिनकी चित्तवृत्ति विकृत हो गई हो, वे भले ही इसमें कामयाब हो जाएं, किन्तु सामान्य मनुष्य के लिए यह असंभव है।

ऐसा होते हुए भी असंख्य विधवाएं अपने विकारों पर विजय पाकर पवित्र शान्तिमय जीवन व्यतीत करती हैं और समाज को संयम का गौरव सिखाती हैं। विरागी साधुओं की बात नहीं, हजारों और लाखों महत्त्वाकांक्षी तरुण अपनी महत्त्वाकांक्षा के लिए विकारों को दबा लेते हैं। इतना ही नहीं किन्तु उन्हें भूल भी जाते हैं। और ऐसे भी असंख्य सामान्य पति-पत्नी हैं, जो गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए भी, यदि किसी कारणवश उन्हें एक दूसरे का वियोग सहन करना पड़े, तो पारस्परिक प्रेम की उत्कटता के कारण ही अपने विकारों को मार सकते हैं और आजन्म ब्रह्मचारियों से भी अधिक उच्च कोटि की निर्विकारिता अनुभव कर सकते हैं।

अगर झूठ बोलने से या वचन भ्रष्ट होने से मनुष्य को कामनातीत मुनाफा हो सकता है, तो क्या मनुष्य सत्य पर डटा रह सकता है ? नहीं। लोभ का वेग असाधारण होता है। मनुष्य शायद काम-विकार पर विजय पा सके लेकिन लोभ छोड़ने वाला कोई बिरला ही मिलेगा।

ऐसा होते हुए भी केवल हरिश्चन्द्र ही नहीं, कर्ण ही नहीं, रामचंद्र ही नहीं, किन्तु हजारों बनिये, किसान और कारीगर पाये जाते हैं जो अपने वचन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए चाहे जितना नुकसान सहन करते हैं। मत्सर के बारे में भी यही कहा जा सकता है।

संकट देखकर भाग जाना और अपनी जान बचाना कुदरत का कानून है। बड़े-बड़े हाथी, शेर और सिंह भी जब तक अपने मन में डर पैदा नहीं होता, तभी तक लड़ते हैं। लेकिन आत्मविश्वास, विजय का निश्वास, नष्ट होते ही दुम दबाकर ऐसे बेतहाशा भागते हैं कि उन्हें कोई रोक नहीं सकता। मृत्यु से न डरना एक परमहंस के लिए भले ही संभव हो परन्तु सामान्य मनुष्य के लिए यह बात असंभव हो तो आज हम देखते हैं कि मुट्ठी भर या हजार दो हजार लोग भी नहीं, किसी भी जाति के लोग भी नहीं, किंतु तमाम दुनियां भर के सामान्य लोग आग बुझाने के प्रयत्न में होने आदि सांसर्गिक रोगों के दौरे के वक्त मरीजों की सेवा करने में और युद्ध में एक दूसरे का खून करते समय अपनी जान की बिलकुल परवाह नहीं करते। तोप के गोले के सामने तोपखाने पर कब्जा करनेवाले बहादुर सिपाही सामान्य मनुष्य जाति के ही प्रतिनिधि होते हैं। वे कोई असाधारण औलिया नहीं होते।

अगर मुझे कोई गालियां दे, तो जवाब में मैं उसे गालियां न दे दूं, यह कैसे हो सकता है? क्या मैं अपने मन को धोये बिना कायर की तरह बैठ सकता हूं? हर्गिज नहीं। किसी ने गाली दी तो मैं उसे ऐसा जवाब दूंगा कि जिंदगी भर याद करता रहे। असंस्कारी और कमीने लोग ऊपर की तरफ रहते हैं और करते भी हैं। लेकिन दुनिया भर के सामान्य सज्जन कहते हैं कि गाली का जवाब गाली से देने से प्रतिपक्षी को नुकसान होगा या नहीं, हम नहीं जानते? किंतु हमारी जबान तो भ्रष्ट हो ही जाएगी। गालियां देने वाले का हलाल हम जरूर करेंगे, किन्तु ऐसे हीन रास्ते से नहीं, जिसमें हमारा ही अधःपात हो।

अहिंसावादी भी कहते हैं कि हम अत्याचारी का अत्याचार थोड़े ही बर्दाश्त करने वाले हैं? उसका हम ऐसा इलाज करेंगे कि फिर वह अत्याचार का नाम ही न ले। लेकिन वह इलाज उसका अनुकरण करके नहीं, किंतु ऐसे ढंग से करेंगे जिससे उसे अपने जीवन के प्रति शर्म आ जाये और वह अपना स्वभाव ही भूल जाये।

तब स्वचक्र अथवा परचक्र के अवसर पर मनुष्य का प्रतिपक्षी को मारने के बदले उसके सामने निडर खड़े होना और बिना आक्रमण किए मरने के लिए तैयार होना असंभव क्यों माना जाता है?

जिन सिपाहियों ने फौजी सालीम पाई, उन पर चाहे पत्थरों और गोलियों की बौछार क्यों न होती रहे, मगर जब तक सेनापति से लड़ने का आदेश नहीं मिलता, तब तक वे चुपचाप सब कुछ सहते रहते हैं। न वे भागते हैं, न हाथ उठाते हैं, डटे रहकर मार खाते रहते हैं और मर मिटते हैं। वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिपक्षी के विस्मय और आदर के पात्र होते हैं।

तब ऐसा क्यों न माना जाये कि सत्याग्रही सेना एक ऐसी ही बड़ी फौज है, जिसे यहां सदा से हुक्म दे रखा है कि "तुम मरने के लिए तैयार रहो, लेकिन किसी को मारने का नाम भी मत लो।"

यह बात मनुष्य के लिए असंभव नहीं है।

जब इस्लाम के पैगम्बर किसी लड़ाई में लड़ रहे थे, तब किसी ने आकर पूछा—नमाज का वक्त हो गया है, हम लड़ते रहें या नमाज पढ़ें? हमारा नमाज छोड़कर मरना ठीक है या लड़ना छोड़कर नमाज पढ़ना ठीक है? नबी साहब ने हुक्म दिया—शत्रु के प्रहार भले ही होते रहें, तुम लड़ना छोड़ कर रणक्षेत्र में ही नमाज पढ़ लो। चन्द लोग मारे जाएंगे शायद अधिक मर जाएंगे लेकिन नमाज न पढ़ना गुनाह होगा जो करने का हमें हक नहीं है। पैगम्बर के सैनिक न तो कोई बड़े महात्मा थे, न विद्वान्। उन्होंने पैगम्बर की नसीहत मान ली, आगे वैसा ही किया। नतीजा यह हुआ कि मुसलमानों में असाधारण शक्ति आ गई और उनकी यह वीरोचित निष्ठा देखकर प्रतिपक्षी भी उनका मान करने लगे।

यह सब कैसे हुआ? कैसे होता आया है? एक ही जवाब है, जब मनुष्य श्रद्धा रखता है, तब वह श्रद्धावान् होता है। श्रद्धावान् होने में बलिदान देने की तैयारी करता है। बलिदान देने से औरों के लिए नमूना पेश करता है और अंत में यह असाधारण वीर-कर्म भी सब मनुष्यों के लिए मामूली बात हो जाती है।

इसीलिए हम कभी यह नहीं कह सकते कि अहिंसा सामान्य मनुष्य के शक्ति के बाहर की चीज है या श्वेत साधुओं और वैरागियों का ही धर्म है। संयम ही संस्कृति मात्र की बुनियाद है। न्याय, प्रेमनिष्ठा, ईमान, कानूनपरस्ती प्रत्येक की बुनियाद में संयम तो है ही। वही संयम की मात्रा अहिंसा के लिए भी काफी है। केवल राजनेताओं को इतना विश्वास करना चाहिए कि वह सम्भव है और उसी में मनुष्य जाति का लाभ है।

अहिंसा सामान्य मनुष्य के लिए असंभव नहीं है। इतना समझने के बाद अहिंसा का चमत्कारपूर्ण प्रभाव अपरिहार्य कैसे होता है, यह बात समझनी चाहिए। इस श्रद्धा के अभाव में ही अहिंसा धर्म के प्रति निष्ठा शिथिल हो सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसक जीवन-शैली

जीवन की दो शैलियां हैं—अहिंसा-प्रधान और हिंसा-प्रधान। अहिंसा-प्रधान जीवन-शैली का प्रयोग अध्यात्म के क्षेत्र में सदा से मान्य रहा है। पर सामाजिक और राष्ट्रीय सन्दर्भों में अहिंसा का प्रयोग करने वाले बहुत कम व्यक्ति हुए हैं। इस युग में महात्मा गांधी ने जीवन की हर समस्या का समाधान अहिंसा के धरातल हर खड़े होकर खोजने का प्रयास किया। उस समय के अनेक राजनीतिविदों ने उसके महत्त्व को समझा और उसे स्वीकार किया। गांधीजी ने समाज और राज्य के संचालन में अहिंसा की जो धारा बहायी, वह उनके असमय में चले जाने से क्षीण हो गई। इससे उन लोगों को बात करने का अवसर मिल गया जो शस्त्र में विश्वास करते थे और अहिंसा की मखौल उड़ाते थे। कुछ साम्यवादी देश भी उनके साथ थे क्योंकि वे अहिंसा को मानते ही नहीं थे।

अहिंसा एक शाश्वत सत्य है। समय की आंधी इसे धूमिल कर सकती है, पर समाप्त नहीं कर सकती। इस युग में हिंसाधर्मी लोगों की करतूतों से अहिंसा की तेजस्विता मंद होती जा रही थी। ऐसे समय में सहसा एक धमाका-सा कर दिया सोवियत नेता गोर्बाच्योव और भारत के प्रधानमंत्री राजीव गांधी की वार्ता के बाद जारी किए गए घोषणापत्र ने। उस घोषणापत्र से यदि गोर्बाच्योव और राजीव गांधी को अलग कर दिया जाए तो ऐसा लगेगा कि वह घोषणापत्र राजनीति का नहीं, अध्यात्म का है।

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का आधार बनाने की बात किसी भी राष्ट्रनेता के दिमाग की उपज हो, बहुत विलक्षण बात है। इस एक नीति पर ही सही रूप में अमल हो सके तो 'स्टारवार' की विभीषिका अपने आप समाप्त हो जाएगी।

मानव-जीवन को अमूल्य मानना, अहिंसा को सामाजिक जीवन का आधार मानना तथा भय और सन्देह के स्थान पर सद्भाव और विश्वास का वातावरण निर्मित करना अध्यात्म की धरती पर ही सम्भव हो सकता है।

परमाणु हथियार-मुक्त अहिंसक विश्व बनाने के लिए ठोस कार्यक्रम को क्रियान्वित करने की बात कोई साधु-संन्यासी तो कर सकता है, किन्तु राजनीति के मंच से ऐसी घोषणा किसी भी परिस्थिति में अभिनन्दनीय हो सकती है। गोर्बाच्योव का साम्यवादी मन अहिंसा की पूजा में इस तरह जुड़ सकता है, किसी को कल्पना भी नहीं होगी। समाचार-पत्रों में जिसने भी उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घोषणापत्र को पढ़ा, एक बार तो वह निर्वाक् रह गया होगा।

अमेरिका और रूस विश्व की दो बड़ी शक्तियां हैं। इनमें से एक शक्ति का भी झुकाव अहिंसा की ओर होता है तो इससे तीसरी दुनिया के राष्ट्रों को बड़ा बल मिलता है।

हिंसा से हिंसा बढ़ती है। शस्त्रों की परम्परा चलती है। ऐसी स्थिति में किसी भी बड़े राष्ट्र की सत्ता पर आरूढ़ व्यक्ति के मन में अहिंसा को प्रतिष्ठा देने का मनोभाव जागता है, यह एक ऐसा बदलाव है, जिसकी पिछले कई दशकों से प्रतीक्षा थी।

२७ नवम्बर १९८६ को दिल्ली में प्रसारित भारत और सोवियतसंघ का दस-सूत्री घोषणापत्र कोई अजूबा नहीं है, अहिंसा की विजय है, अध्यात्म की विजय है। कोई भी शांतिप्रिय व्यक्ति, समाज या देश उससे आश्वस्त हो सकता है। स्वयं आश्वस्त होने तथा दूसरों को आश्वस्त करने का यह उपक्रम केवल दस्तावेज बनकर ही न रह जाए, इसके लिए अहिंसा में आस्था रखने वाले सभी व्यक्तियों, संगठनों और राष्ट्रों को एकजुट होकर काम करना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसक जीवन शैली के प्रयोग

श्री हरमन कैलनबैक एक जर्मन सज्जन थे। उन्होंने भरी जवानी में जर्मन सेना में सिपाही का काम किया था और जीवन का एक भाग व्यतीत करने के लिए वे दक्षिण अफ्रीका गये थे। स्थपति (शिल्पकार) के नाते वे बड़े कुशल थे। आमदनी बहुत अच्छी थी। अकेले राम थे। न ऊधो का लेना, न माधो का देना। इसलिये ऐशो-आराम और ठाटबाट की बात का तो कहना ही क्या? शादी नहीं की थी, इसलिए जिन्दगी भी गैर-जिम्मेदार थी। जीवन की नयी-नयी लहरों के अनुभव के जिज्ञासु ठहरे। इसलिए अनेक पाश्चात्य व्यक्तियों की तरह वे भी जिस विषय की ओर ध्यान देते, उसी में डूब जाते थे। श्री कैलनबैक अपने धंधे के साथ-साथ जीवन के दूसरे पहलुओं की ओर भी ध्यान देते थे। अन्तरात्मा को कुछ संतोष मिले, ऐसी चीजों की भी शोध करते थे। उनके साथ अन्याय न करता होऊं तो शायद यह भी हो सकता है कि केवल जीवन में विविधता लाने के स्थूल हेतु से ही वे इस तरह के काम करते हों। कुछ भी हो, किन्तु अपने काम-धंधे और वैभव से उन्हें जो आनन्द मिलता था, उससे उन्हें संतोष नहीं था। यह संतोष वे ढूंढा करते थे।

जोहानिस्बर्ग में थियासॉफिकल सोसायटी की शाखा थी। वहां वे अपनी धार्मिक वृत्ति को पोषण देने जाया करते थे और क्षुधा की शान्ति के लिये निरामिष भोजनगृह में जाते थे। इन दो संस्थाओं में गांधीजी से उनकी भेंट हुई।

श्री कैलनबैक स्वभाव के सरल और बड़े भोले थे। साथ ही जिज्ञासु वृत्ति के थे। ट्रान्सवाल में प्रचलित रंग-भेद की वृत्ति भी उनमें काफी मात्रा में थी। हिन्दुस्तानियों को देखने में भी उन्हें घृणा आती थी। परन्तु जिसे वे जीवन की विविधता मानते थे, उसमें गांधीजी जैसे एक हिन्दुस्तानी को प्रवीण और रंगा हुआ देखकर गांधीजी की ओर उनका ध्यान गया। तो उनके मन में एक प्रश्न उठा कि क्या हिन्दुस्तानियों जैसी संस्कारहीन जाति में जीवन को विविधता युक्त और समृद्ध बनाने के प्रयोग करने वाले गांधी जैसे प्रवीण मनुष्य भी हो सकते हैं? पर बाद में वे गांधीजी से सम्बन्ध कायम करने की कोशिश करने लगे। दोनों मिलकर चर्चा करते थे।

एक दिन उन्होंने गांधीजी को अपने यहां भोजन का निमंत्रण दिया। गांधीजी ने कृतज्ञतापूर्वक निमंत्रण को इस शर्त पर स्वीकार किया कि उनके साथ श्री काछलिया और एक दो अन्य साथियों को भी निमंत्रण दिया जाए;

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और कैलनबैक रजामन्द हों तो गांधीजी खुद उन्हें अपने साथ ले जायें। कैलनबैक के हृदय में उस समय अन्य हिन्दुस्तानियों को अपने यहां आमंत्रण देने की उमंग तो नहीं थी। परन्तु गांधीजी के प्रति उनके हृदय में आदर पैदा हो गया था। उस आदर के कारण उन्होंने यह शर्त स्वीकार की और दूसरे दो-तीन साथियों को भी कैलनबैक ने निमंत्रण दिया।

इस प्रकार गांधीजी ने श्री कैलनबैक के हृदय में काली चमड़ी के प्रति बैठी हुयी घिन को मिटाने का पहला कदम उठाया और श्री कैलनबैक को उसी दिन मालूम हो गया कि हिन्दुस्तानियों में भी बहुत से लोग ऐसे हैं जिन्हें बुद्धिशाली और संस्कारी माना जा सकता है। इस भ्रम के दूर होने पर तो श्री कैलनबैक गांधीजी के दफ्तर में जाने लगे। दोनों के बीच धर्म और आहार के विषय में अनेक चर्चायें होने लगीं। और साथ ही टॉल्स्टॉय तथा रस्किन की पुस्तकें खरीद कर वे पढ़ने लगे।

इस नये स्वाध्याय से गांधीजी के आदर्शों के प्रति उन्हें अधिक आकर्षण हुआ। गांधीजी ने अपने कुटुम्ब को नेटाल भेज दिया था। कैलनबैक ने गांधीजी को अपने साथ ही रहने का आमंत्रण दिया। प्रेमभाव से दिये गये आमंत्रण को उन्होंने स्वीकार कर लिया। इस समय तो गांधीजी और कैलनबैक में दोस्ती का सम्बन्ध पक्का हो चुका था। जोहानिस्बर्ग में दो-तीन मील दूर 'माउन्ट व्यू' नामकी सुन्दर जगह है, वहां जोहानिस्बर्ग में व्यवसाय करने वाले बहुत से धनवान गोरों के बंगले थे। वहीं कैलनबैक का भी बंगला था। वहां दोनों मित्रों ने साथ रहने का निश्चय किया।

गांधीजी वहां रहने चले गये। परन्तु कैलनबैक का मौज-शौक उन्हें खटका। मकान घर का होने पर भी वे केवल अपनी सुख-सुविधाओं पर हर महीने लगभग १२०० रुपये खर्च कर डालते थे। साधारणतः सौ सवा सौ रुपये काफी थे। इतनी ज्यादा फिजूलखर्ची गांधीजी को खटकी।

गांधीजी वहां रहने लगे, उनके दूसरे ही दिन शाम को कैलनबैक ने कहा : "सैर का समय हो गया। चलो, घूमने चलें।"

"जोहानिस्बर्ग में रहने वाले लोग तो यहां घूमने आते हैं, तब हम क्या वापस जोहानिसबर्ग की तरफ जायें? हवा तो यहां की अच्छी है। और घूमना श्रम के लिये ही हो तो चलो खुरपी पकड़ो। बगीचे में ही काम करेंगे तो शारीरिक श्रम भी हो जायेगा; साथ ही बगीचे का काम भी हो जायेगा।" यह कहकर गांधीजी ने कैलनबैक को बगीचे के काम में लगाया, खुद भी काम में लगे और दोनों काम करते-करते अनेक विषयों पर बातें करने लगे।

इस प्रकार सवेरे और शाम दोनों आदमी बगीचे में नियमित रूप में काम में लग जाते। थोड़े दिन में श्री कैलनबैक को मालूम हो गया कि बगीचे के लिये जो दो माली रखे गये हैं उन पर खर्च करना अब फिजूल है। इस-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिये उन्हें अलग कर दिया।

एक दिन गांधीजी स्नान करने से पहले अपना कमीज धो रहे थे। कैलनबैक को यह मालूम हुआ तो वे बोल उठे : "अरे भाई, आप क्यों धो रहे हैं ? यह धोबी है न ?" गांधीजी ने जबाब दिया : "कल से मैंने अपने कपड़े आप ही धोना शुरू कर दिया है। मुझे इतनी फुरसत मिलती है और मुझ में इतनी ताकत भी है। इसलिए अपने कपड़े तो मैं खुद ही धोऊंगा।"

अब श्री कैलनबैक क्या करते ? गांधीजी अपने कपड़े खुद धोयें और कैलनबैक धोबी से धुलवायें, यह कैसे हो सकता था ? उसी समय से उन्होंने भी अपने कपड़े खुद धोना शुरू कर दिया। नतीजा यह हुआ कि धोबी भाई भी निठल्ले हो गये, और उन्हें भी विदा मिल गई।

गांधीजी दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह की लड़ाई में दूसरी बार जिस दिन जेल से छूटने वाले थे उस दिन श्री कैलनबैक एक नयी मोटर खरीद कर गांधीजी को जेल के दरवाजे पर लेने गये। गांधीजी जेल से बाहर आये। सबसे मिले। श्री कैलनबैक ने मोटर में बैठने की प्रार्थना की। गांधीजी ने पूछा : "किसकी मोटर है ?" श्री कैलनबैक ने बताया : "मेरी है। अभी खरीदकर लाया हूं।"

"किसलिये खरीद लाये ?" गांधीजी ने पूछा।

"आपको ले जाने के लिए। मेरे जी में आया कि आपको नयी मोटर में ले जाऊं।" श्री कैलनबैक ने संकोच से जबाब दिया। "अच्छा तो कैलनबैक यह मोटर तुम अभी नीलाम-घर पहुंचा आओ। मैं इसमें नहीं बैठूंगा। मेरे लिये तुम्हें यह मोह क्यों ? तुम पहुंचा कर वापस आओ, तब तक मैं यहीं खड़ा रहूंगा।"

श्री कैलनबक तुरन्त मोटर को नीलाम-घर पर छोड़ आये। वे लौटे तब तक गांधीजी अपने को लेने आये हुये दूसरे मित्रों के साथ वहीं खड़े रहे और बाद में सब पैदल चलकर अपने-अपने घर गये।

श्री कैलनबैक ने कुछ मास गांधीजी के साथ बिताये। इस अर्से में आहार के परिवर्तन पर बातचीत चली। दोनों अलोना और उबला हुआ खाना खाते थे। परन्तु हमारा आहार भी अप्राकृतिक है। सूर्य के ताप से पका हुआ भोजन ही कुदरती माना जा सकता है। पकी हुई खुराक को फिर आग पर हम या तो अपनी स्वादेन्द्रिय को पोषण देने के लिये पकाते हैं या अपनी गलत आदत के कारण पकाते हैं।

इस चर्चा पर दोनों ने फलाहार करने का निश्चय किया। जरूरत हो तो सिर्फ गेहूं की रोटी फलों के साथ खाना तय किया। परन्तु यह विचार करने पर रसोइया भी अनावश्यक मालूम हुआ। फिर तो रसोइये के लिये अपना ही खाना बनाने का काम रह जाता था। इसलिये उसे भी विदा कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया गया। इस तरह करते-करते थोड़े अर्से में गांधीजी ने कैलनबैक को सब झंझटों से मुक्त कर दिया। और हर महीने १२०० रुपये खर्च करने वाले कैलनबैक का खर्च घटकर १०० से १२० रुपये मासिक पर आ गया।

दिनोंदिन श्री कैलनबैक में विलक्षण परिवर्तन होता गया और हिन्दुस्तानियों के प्रति उनकी ममता इतनी बढ़ गई कि वे हिन्दुस्तानीमय बन गए। पश्चिमी ढंग के रहन-सहन में उन्हें अस्वाभाविकता लगने लगी, जरूरत से ज्यादा टीम-टाम मालूम हुई और छिछलापन जान पड़ा। हिन्दुस्तानी रहन-रहन उन्हें कुदरत के अधिक अनुकूल और अधिक समीप प्रतीत हुआ। सन् १९१३-१४ में फिनिक्स आश्रम में हिन्दुस्तानी वेश में फिरते हुए किसी गौरांग साधु का ख्याल करता हूं, तो मेरी आंखों के सामने छोटी सी धोती पहिने नंगे बदन बगीचे में सावधानी से फल-फूलों की देखभाल करते हुए श्री कैलन बैक आकर खड़े हो जाते हैं।

मैं पूछता : "मिस्टर कैलनबैक! आप इन पौधों की काट-छांट करते हैं, तब इतनी बारीकी और सावधानी क्यों रखते हैं?"

जबाब में गंभीर बनकर कहते : 'मिस्टर रावजीभाई! क्या आप नहीं जानते हैं। कोई डॉक्टर छोटे बच्चे को नश्तर लगाते समय जितनी सावधानी रखता है, उतनी ही सावधानी फल-फूल के वृक्षों की कांट-छांट करते वक्त रखनी चाहिये। यह 'प्रूनिंग'—काट-छांट इन पेड़ों के वास्तविक विकास के लिये ही की जाती है। हमारी तरह वनस्पति में भी जीव होता है। उसे लापरवाही से काट डालें और कटे हुए स्थान पर जरूरी लेप वगैरह न लगायें, तो उस पेड़ को दुःख हो और उसका दुःख बढ़ जाये। मैं तो इस वनस्पति में यह सुख-दुःख की भावना देखता हूं।"

मैं इस दयामय हृदय को समझता और मन ही मन उसे प्रणाम करता था। काम करते हुये कई बार जब कोई उनसे टकरा जाता और पश्चिमी पद्धति के अनुसार जरा विवेकपूर्वक बोल उठता : Very Sorry—'बड़ा अफसोस है,' तो कैलनबैक तुरन्त बोल उठते : Please don't speak a lie; you do not seem to be sorry—'मेहरबानी करके झूठ न बोलिये; आपको अफसोस हो रहा है, ऐसा दीखता नहीं है।' इस प्रकार उन्हें बाहरी—ऊपरी शिष्टाचार भी पसंद नहीं था।

फिनिक्स आश्रम की सोलह जनों की मंडली को व्यवस्था करने के लिये उन्होंने वॉल्क्रस्ट में दो-तीन दिन पहले ही डेरा डाला था। उन्होंने किसी गोरे सज्जन के मकान का एक कमरा थोड़े दिन के लिये किराये पर ले लिया था। बाद में जब गोरे लोगों को मालूम हुआ कि श्री कैलनबैक हिन्दुस्तानी सत्याग्रहियों की मदद करने वाले हैं और इसीलिये यहां आये हैं, तो उन्होंने कमरा खाली करने को कहा। श्री कैलनबैक खुशी से अपना बिस्तर लेकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वहां चले आये जहां हिन्दुस्तानी मोहल्ले में हमने अपना पड़ाव डाला था।

मैंने उनसे पूछा : "मिस्टर कैलनबैक, आपको यहां रहना अटपटा तो नहीं लगेगा ?"

उन्होंने हंसते-हंसते जवाब दिया :—'मेरे जीवन में एक समय ऐसा था जब मैं रंग की घृणा से भरा हुआ था। लेकिन आज तो कोई गन्दा हिन्दुस्तानी बच्चा रोता हो तो उसे प्रेम से उठाकर उसके नाक का रींट साफ करके उसे खेलाते-खेलाते छाती से लगा लेने का मन हो जाता है।" ऐसे सरल-हृदय श्री कैलनबैक के जीवन का लाभ हम भारत में न उठा सके। उनके हृदय में उमंग तो बहुत थी कि 'भाई, गांधीजी के साथ हिन्दुस्तान जाऊंगा और उस प्राचीन पुण्य भूमि में रहकर नयी-नयी साधना करूंगा।' परन्तु भगवान् की ऐसी इच्छा नहीं थी। वे गांधीजी के साथ हिन्दुस्तान आने के लिए रवाना हुए थे; दोनों इंगलैंड होकर यहां आने वाले थे। परन्तु उनके इंगलैंड पहुंचते ही ब्रिटेन यूरोप की लड़ाई में कूद पड़ा। श्री कैलनबैक को जर्मन होने के कारण एक निश्चित समय के लिये वहीं रहना पड़ा। सरकार ने उन्हें गांधीजी के साथ हिन्दुस्तान आने की इजाजत नहीं दी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा के विभिन्न रूप

जैनधर्म में जितना मूल्य अहिंसा का है उतना ही सत्य का है। वास्तव में अहिंसा और सत्य—ये दो हैं ही नहीं। जहां अहिंसा नहीं है वहां सत्य नहीं होता। मूल में महाव्रत एक है और वह है—अहिंसा। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये सब उसी के सापेक्ष रूप हैं। अहिंसा वाणी के क्षेत्र में सत्य का रूप ले लेती है। पर-वस्तु के क्षेत्र में वह अचौर्य का रूप ले लेती है। इन्द्रिय-विषयों के क्षेत्र में वह ब्रह्मचर्य का रूप ले लेती है। अर्थ के क्षेत्र में वह अपरिग्रह का रूप ले लेती है। इस प्रकार विभिन्न सम्पर्कों में एक ही अहिंसा अनेक रूपों में प्रकट हो जाती है। साधारण लोग अहिंसा के विभिन्न पर्यायों को सरलता से समझ सकें, इसलिए उसके सत्य, अचौर्य आदि विभिन्न नाम रखे गए। तत्त्व की गहराई में जाएं तो अपरिग्रह अहिंसा से विभिन्न नहीं है और अहिंसा अपरिग्रह से भिन्न नहीं है। ब्रह्मचर्य, अचौर्य और सत्य के लिए भी यही बात है।

हिंसा क्या है? असत्प्रवृत्ति मात्र हिंसा है। प्राणवध उसका एक अंग है। असत्य बोलना, चोरी करना आदि सब असत्प्रवृत्तियां हैं इसलिए ये सब हिंसा के प्रकार हैं। फिर भी न जाने ऐसा क्यों हुआ कि धार्मिक लोगों के मन में जीव-वध के प्रति जितनी ग्लानि है उतनी असत्य, अप्रामाणिकता, वासना और संग्रह के प्रति नहीं है। इससे यह प्रतीत होता है कि अहिंसा का हृदय पकड़ा नहीं गया।

भगवान् महावीर ने स्थान-स्थान पर कहा है कि जो व्यक्ति हिंसा नहीं करता तो दोनों का परित्याग नहीं करता, वह सम्यग्-दर्शन को नहीं जानते। इस सूत्र में हिंसा और परिग्रह—दोनों पर समान बल दिया है। फिर भी हमारे धार्मिकों का ध्यान जितना हिंसा को छोड़ने की ओर जाता है उतना परिग्रह को छोड़ने की ओर नहीं जाता। इसलिए असत्य और अप्रामाणिकता की वृत्ति कम नहीं होने पाती।

हमें इस प्रश्न को गहराई से समझ लेना है कि सत्य आदि महाव्रतों की सम्यग् आराधना करके ही हम अहिंसा की सम्यग् आराधना कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिए उसका बोध होना नितान्त अपेक्षित है। जैन तीर्थंकरों ने अहिंसा का जो विराट् रूप हमारे सामने प्रस्तुत किया था वह हमारी धारणा में स्पष्ट नहीं है। इसलिए हम अहिंसा के बारे में कुछ विचित्र-सी कल्पना कर लेते हैं। यदि उसका विराट् रूप हमारी कल्पना में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आ जाये तो बहुत सारी भ्रांतियां और कठिनाइयां अपने-आप समाप्त हो जाएं।

अहिंसा का प्रारम्भ चित्त की शुद्धि से होता है। वह जीवन का संयम है। उसकी पृष्ठभूमि है—चित्त की निर्मलता। जिसका चित्त कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) से कलुषित होता है, उसके जीवन में अहिंसा का विकास नहीं हो पाता। जिसका अपने मन पर नियंत्रण नहीं होता और जो अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाता, उसके जीवन में अहिंसा कैसे आ सकती है? यदि ऐसा व्यक्ति अपने-आपको अहिंसक मानता है तो वह अहिंसा के साथ मखौल ही है।

घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, वासना और दुराग्रह—ये सब जीवन में पलते रहें और अहिंसा भी सधती रहे, शायद ऐसा मान लिया गया है किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। कुछ लोग जीव न मारने तक ही अहिंसा को सीमित कर देते हैं। जीवों को न मारना निश्चित ही अहिंसा है किन्तु अहिंसा उतनी ही नहीं है। वह उससे भी बहुत आगे है। जो लोग अहिंसा को सीमित अर्थ में देखते हैं, उन्हें किसी चींटी के मर जाने पर पछतावा होता है किन्तु दूसरों पर झूठा मामला चलाने में पछतावा नहीं होता है। बहुत बड़े अप्रामाणिक साधनों से पैसा कमाने में उन्हें हिंसा का अनुभव नहीं होता। अपने क्षुद्र स्वार्थ की पूर्ति के लिए दूसरों का बड़े-से-बड़े अहित करने में उन्हें हिंसा का अनुभव नहीं होता। यह कैसी अहिंसा है? ऐसा लगता है कि अहिंसा की परिभाषा अपने स्वार्थ के सन्दर्भ में कर ली गयी है। जहां स्वार्थ का प्रश्न है वहां मनुष्य को हिंसा करने में संकोच नहीं होता और जहां अपने स्वार्थ में कोई बाधा नहीं पहुंचती वहां अहिंसा का अभिनय किया जाता है। यह अहिंसा के प्रति न्याय नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खादी और अहिंसा

गृहस्थ अहिंसा और अपरिग्रह को सम्पूर्णतया स्वीकार नहीं कर सकता इसलिए अपने जीवन-निर्वाह के लिए उन साधनों को अपनाना चाहता है, जिनमें हिंसा और परिग्रह की अल्पता हो। किसी भी प्रकार के उद्योग का सर्वथा अभाव हो, यह कठिन है, किन्तु उसका तारतम्य अवश्य होता है। खादी-उद्योग में मैं अल्पारंभ, अल्प-हिंसा और अल्प-परिग्रह देखता हूं। जैन आगमों में अहिंसा का सूक्ष्म विश्लेषण देते हुए बड़े कल-कारखानों को महा-आरम्भ और महा-परिग्रह का स्थान बताया गया है। मैं इस निर्णय में सबसे बड़ा यही लाभ देखता हूं कि यह अल्प-हिंसाजन्य वस्त्र है।

खादी वस्त्रों के प्रति होने वाले सम्मान का आज अवश्य अवमूल्यन हुआ है किन्तु खादी के मूल में ठहरे हुए मूल्यों का महत्त्व आज भी कम हुआ हो, ऐसा मैं नहीं मानता। महात्मा गांधी ने जिन कारणों से चरखा आंदोलन का सूत्रपात किया, उनमें अहिंसा के साथ-साथ और भी अनेक कारण थे। विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार, राष्ट्र की गिरती हुई आर्थिक स्थिति, स्वावलम्बन, गरीबी, बेकारी, बेरोजगारी, गांवों का विकास आदि अनेक राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान उन्होंने इस चरखे में देखा और इसलिए उन्होंने इस पर विशेष जोर दिया। इसमें से अधिकतर समस्याएं आज भी देश के सामने मुंह बाए खड़ी हैं। किन्तु चरखे का अवमूल्यन हो जाने और बड़े-बड़े कल कारखानों को अधिक प्रोत्साहन मिलने से देश की स्थिति दिन-प्रतिदिन उलझती ही जा रही है।

विनोबाजी कहा करते थे कि चरखा गांधी की सबसे बड़ी सूझ है। इसका आशय यही है कि गांधीजी की सर्व-हित और सर्वोदय की कल्पना इस चरखे से ही साकार की जा सकती है। उन्होंने अपने सपनों का जो भारत अपनाया था, उसके आधार में चरखा ही था। चरखा यानी बेकारी और बेरोजगारी को दूर करने का साधन; चरखा यानी स्वदेशी वस्त्रों का उत्पादन, जिनसे विदेशी वस्त्रों के आयात पर स्वयं असर जाए; चरखा यानी जनता की गरीबी को दूर करने का सरलतम उपाय, जिससे राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से स्वयं समृद्ध हो; और चरखा यानी ग्रामों की आत्मनिर्भरता, ग्राम खुशहाली और ग्रामों का विकास। लेकिन गांधीजी के बाद इस आवाज में ढीलापन आ गया। परिणाम स्पष्ट है कि देश में गरीबी, बेकारी और बेरोजगारी ज्यों की त्यों कायम है, आर्थिक दृष्टि से भी वह अब तक आत्म-निर्भर नहीं बना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज गांव के लोग शहरों की ओर दौड़े आ रहे हैं। शहर की आबादी बहुत अधिक तेजी से बढ़ रही है और गांव खाली होते जा रहे हैं।

गांधीजी पहला महत्त्व मनुष्य के श्रम को देते थे। वे अर्थ और सत्ता का केन्द्रीकरण होना ठीक नहीं समझते थे। केन्द्रीकरण का अर्थ है शहरों का विकास। एक बड़ी मिल की स्थापना का मतलब होता है हजारों मजदूरों का गांवों को छोड़कर शहर में आना। उस एक मिल के उत्पादन का मतलब है लाखों हाथों का बेकार हो जाना। अमरीका जैसे धनाढ्य देश में भी आज बेकारी की समस्या है। इसका एकमात्र कारण अर्थ का केन्द्रीकरण ही है। भारत सरकार ने स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद बड़े कल-कारखानों को अधिक प्रश्रय दिया। परिणामस्वरूप लघु-उद्योग स्वयं पिट गए। आज स्थिति यह है कि जहां पाकिस्तान चरखा-उद्योग से एक बहुत बड़ा लाभ कमा रहा है, वहां भारत घाटा उठा रहा है।

खादी का अवमूल्यन इसदृष्टि से अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि कुछ लोगों ने इससे अनुचित लाभ उठाने की कोशिश की है, किन्तु अहिंसा, सादगी और श्रम का वह आज भी सक्रिय प्रतीक है और देश की अनेक समस्याओं का समाधान भी इसमें दीखता है।

केन्द्रीकरण का अर्थ है शक्ति का एक जगह में सिमट आना। जहां सबमें काम करने वाली शक्ति और सबके काम आने वाली शक्ति एक स्थान पर सिमट आती है, वहां एक के सिवा सबका शक्ति-शून्य होना स्वाभाविक है। वह शून्यता फिर एक नयी शक्ति को जन्म देती है जिसमें वर्तमान व्यवस्था से जूझने का सामर्थ्य होता है।

हम औद्योगिक क्रांति को ही लें। इस क्रांति के बाद विश्व में बड़े-उद्योगों का विस्तार हुआ है, किन्तु हिंसा, तनाव और यांत्रिकता भी क्या इसी क्रांति की देन नहीं हैं? बड़े-बड़े कल-कारखाने स्थापित हुए और वहां लाखों-लाखों मजदूर काम करने लगे। फिर उनकी यूनियनें बनीं और एक नयी शक्ति का उदय हुआ। उसके बाद थोड़े से आपसी असंतोष के साथ ही हड़ताल, घेराव, सत्याग्रह, लूटमार, तोड़-फोड़ आदि हिंसात्मक प्रवृत्तियों का जन्म हो गया। फिर उनको दबाने के लिए सत्ता ने अति नियंत्रण का सहारा लिया। आज स्थिति यह है कि उद्योगपति और मजदूर—ये दो ऐसे वर्ग बन गए हैं जिनके बीच निरन्तर संघर्ष अनिवार्य है। इस प्रकार केन्द्रीकरण, सामूहिक हिंसा और अति-नियंत्रण—ये क्रमशः एक-दूसरे के अनिवार्य परिणाम हो गए हैं।

विकेन्द्रीकरण से हिंसा और संघर्ष के अवसर नहीं के बराबर होते हैं। वहां एक का नुकसान दूसरे पर असर नहीं डाल सकता। एक मिल के बंद होने का मतलब है हजारों व्यक्तियों का बेकार होना। हजारों के बेकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने का मतलब है एक बहुत बड़े समूह में असंतोष, रोष और आक्रोश का जन्म होना, जिसका परिणाम एकमात्र हिंसा ही हो सकता है।

विकेन्द्रित व्यवस्था में विकास का सबको समान अवसर मिलता है। सब-के-सब समान स्तर पर विकास कर सकें, यह वहां भी संभव नहीं होता। किन्तु समान अवसर की सुलभता से किसी के दिल में असंतोष या रोष जैसी स्थिति को उत्पन्न होने का मौका नहीं मिलता। हिंसा, अति-नियंत्रण, तनाव आदि को जिस व्यवस्था में अवकाश नहीं मिलता और समता तथा समानता को जिस व्यवस्था में पनपने का अवकाश मिलता है, यह अपने आपमें एक बड़ी आध्यात्मिक उपलब्धि है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा का प्रशिक्षण

अहिंसा का प्राणतत्त्व क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर यदि मुझे देना हो तो उत्तर होगा—हृदय-परिवर्तन। हृदय-परिवर्तन के बिना अहिंसा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। हृदय-परिवर्तन का पर्यायवाची शब्द हो सकता है भावात्मक परिवर्तन। हृदय हमारे शरीर का वह क्षेत्र है जहां भाव जन्म लेते हैं और वे शरीर, वाणी और मन को प्रभावित करते हैं। आयुर्वेद के अनुसार हृदय दो हैं। एक फुफ्फुस के नीचे और दूसरा मस्तिष्क में। प्रेक्षा ध्यान की पद्धति के अनुसार मस्तिष्कीय हृदय की पहचान अवचेतक (हाइपोथेलेमस) से की गई है। वह भावधारा का उद्गम स्रोत है। वहां भाव जन्म लेते हैं और अभिव्यक्त होते हैं। शरीर-विज्ञान के अनुसार अन्तःस्रावी ग्रन्थियां मनुष्य के व्यवहारों और आचरणों को प्रभावित करती हैं। उन ग्रंथियों में मुख्य ग्रन्थि है पीयूष ग्रन्थि। उसका नियामक है अवचेतक (हाईपोथेलेमस)।

हिंसा की उपज के सन्दर्भ अनेक हैं—

जातीय और रंग भेद की समस्या
असंतुलित समाज व्यवस्था
असंतुलित राजनैतिक व्यवस्था
शस्त्रीकरण की समस्या
सांप्रदायिक समस्या
मानवीय संबंधों में असंतुलन
आर्थिक स्पर्धा और अभाव
मानसिक तनाव
वैचारिक मतभेद
भावात्मक असंतुलन
व्यक्तिगत रासायनिक असंतुलन

इनमें प्रथम सात संदर्भ वस्तु जगत् (आब्जेक्ट) से संबंध रखते हैं। अन्तिम चार संदर्भ अन्तर्जगत् (सब्जेक्ट) से संबंध रखते हैं। अहिंसा प्रशिक्षण की प्रणाली पर विचार करते समय इन दोनों संदर्भों पर ध्यान देना आवश्यक है। किसी एक ही तत्त्व से हिंसा की समस्त समस्याओं का समाधान हो जाये इसमें हमारा विश्वास नहीं है, सब रोगों की एक दवा वाली कहावत हमारी दृष्टि में बहुत सार्थक नहीं है। वस्तु जगत् से सम्बन्ध रखने वाली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसा को कम करने और अहिंसा को प्रतिष्ठित करने के लिए आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया। उसके आधार पर प्रशिक्षण के सूत्र भी खोजे गये हैं।

हिंसा का संदर्भ	अहिंसा प्रशिक्षण का सूत्र
१. असंतुलित समाज व्यवस्था	अहिंसक जीवन-शैली का प्रशिक्षण
२. असंतुलित राजनैतिक व्यवस्था	लोकतंत्रीय जीवन-शैली का प्रशिक्षण
३. शस्त्रीकरण की समस्या	मानवीय अस्तित्व की सुरक्षा का प्रशिक्षण
४. जातीय और रंगभेद की समस्या	मानवीय एकता का प्रशिक्षण
५. सांप्रदायिक समस्या	धर्म या सत्य की मौलिक एकता का प्रशिक्षण
६. मानवीय संबंधों का असंतुलन	समता और आत्म-तुला के सिद्धांत का प्रशिक्षण
७. आर्थिक स्पर्धा और अभाव	व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा तथा उपभोग की सीमा का प्रशिक्षण।

अन्तर्जगत् से सम्बन्ध रखने वाली हिंसा को कम करने के लिए अनेकांत का प्रशिक्षण और प्रेक्षा ध्यान के प्रयोग उपयोगी हैं:—

मानसिक तनाव	कायोत्सर्ग और श्वास प्रेक्षा का प्रशिक्षण
वैचारिक मतभेद	अनेकांत का प्रशिक्षण
भावात्मक असंतुलन	चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा और लेश्या-ध्यान का प्रशिक्षण
व्यक्तिगत रासायनिक असंतुलन	प्रेक्षा ध्यान के पांच चरणों का प्रशिक्षण

व्यक्ति और समाज

वर्तमान चिंतन की अभिमुखता समाज से अधिक है। व्यक्ति गौण है—समाज प्रमुख है। समाज में परिवर्तन, समाज का सुधार, समाज का विकास चिन्तन के ये बिन्दु हैं। व्यवस्था और कानून को सामाजिक बनाया जा सकत है। उनका सम्बन्ध वस्तु और दण्ड-शक्ति से है इसलिए उन्हें सब पर समा रूप से लागू किया जा सकता है। अहिंसा का सम्बन्ध अन्तर्जगत् और हृद परिवर्तन से है इसलिए उन्हें सब पर समान रूप से लागू नहीं किया ज सकता। अहिंसा दण्डशक्ति का स्थान नहीं ले सकती। उसके द्वारा समाज व शासित नहीं किया जा सकता। उक्त विचार अहिंसा की दुर्बलता और हिं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के समर्थन के लिए पर्याप्त शक्तिशाली है। इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि समाज को अहिंसा की अपेक्षा अच्छी व्यवस्था की जरूरत है।

इस निष्कर्ष में जो सच्चाई है उसे मैं उलटने का प्रयत्न नहीं कर रहा हूं किन्तु सच्चाई का दूसरा पहलू, जिसकी हमेशा उपेक्षा की जाती है, उसे प्रस्तुत करना चाहता हूं। व्यवस्था के बारे में जितना ध्यान दिया गया, उतना ध्यान व्यवस्था के संचालन करने वाले के बारे में नहीं दिया गया। व्यवस्था समाज के लिए होती है। उसे संचालित करने वाला व्यक्ति होता है। व्यवस्था बहुत अच्छी है किन्तु यदि उसे संचालित करने वाला व्यक्ति अच्छा नहीं है तो क्या अच्छी व्यवस्था अच्छा परिणाम लाएगी? व्यवस्था को संचालित करने वाला व्यक्ति अच्छा है और व्यवस्था अच्छी नहीं है तो भी समस्या सुलझ नहीं पाएगी। अनेकान्त या समग्रता का दृष्टिकोण यह है—अच्छी व्यवस्था और उसे संचालित करने वाला अच्छा व्यक्ति, दोनों का योग। अहिंसा के प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य है—अच्छे व्यक्ति का निर्माण अथवा अहिंसानिष्ठ व्यक्ति का निर्माण।

व्यक्ति को अहिंसा से प्रशिक्षित किया जा सकता है, समाज और राष्ट्र को नहीं। इस अवधारणा को सापेक्ष दृष्टि से ही स्वीकार किया जा सकता है। व्यक्ति और समाज को विभक्त नहीं किया जा सकता। व्यक्ति समाज से प्रभावित होता है और समाज व्यक्ति से प्रभावित होता है। दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। व्यक्ति का अन्तर्जगत् उसकी वैयक्तिकता है। उसका विस्तार है समाज। सामाजिक परिवर्तन या क्रांति चाहे राजनैतिक हो या आध्यात्मिक, हम व्यक्ति को गौण नहीं कर सकते। प्रेक्षा ध्यान को भले ही हम सामाजिक अहिंसा के साथ सीधा न जोड़ें किन्तु परोक्षतः सामाजिक अहिंसा के साथ उसका सम्बन्ध स्वाभाविक है।

व्यक्तित्व का रूपांतरण सरल कार्य नहीं है। हर व्यक्ति में विधायक और निषेधात्मक—दोनों भावों के स्रोत विद्यमान रहते हैं। निषेधात्मक भाव हिंसा को जन्म देते हैं और विधायक भाव अहिंसा को। सामाजिक वातावरण निषेधात्मक भावों को अधिक उभारता है इसलिए जाने-अनजाने में हिंसा की समस्या जटिल होती रहती है। आज उसकी जटिलता शिखर पर है। प्रेक्षा-ध्यान निषेधक भावों से अप्रभावित रहने का प्रयोग है। यदि हम विधायक भाव के स्रोतों के साथ अपना सम्पर्क स्थापित कर सकें तो निषेधक भावों से अप्रभावित रहना हमारे लिए सरल है। चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा का आशय है—कषाय क्षेत्र पर अपना नियंत्रण स्थापित करना। व्यक्तित्व या चेतना के रूपांतरण का यह मौलिक सूत्र है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा का प्रशिक्षण : अनुप्रेक्षा के प्रयोग

व्यक्तित्व के रूपांतरण के लिए अनुप्रेक्षा के प्रयोग बहुत सफल रहे हैं। इस प्रयोग में मस्तिष्क और पूरे शरीर को शिथिल कर सुझाव दिये जाते हैं, साथ-साथ रंगों का ध्यान भी किया जाता है। ध्वनि और रंग—ये दोनों अन्तश्चेतना या अवचेतन मन को प्रभावित करते हैं, पुराने संस्कारों और अर्जित आदतों का क्षय हो जाता है, नए संस्कारों और नई आदतों के निर्माण की भूमि प्रशस्त हो जाती है। नौ चरणों में सम्पन्न होने वाला यह प्रयोग संकल्प-शक्ति, आत्म-विश्वास और आत्म-निरीक्षण की क्षमता को जागृत करता है। अहिंसा के विकास के लिए पांच अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास अनिवार्य है—

अभय की अनुप्रेक्षा
सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा
करुणा की अनुप्रेक्षा
मैत्री की अनुप्रेक्षा
स्वावलम्बन की अनुप्रेक्षा।

शिक्षा और अहिंसा

अहिंसा के प्रशिक्षण को व्यापक बनाने के लिए उसे शिक्षा के साथ जोड़ना आवश्यक है। सामाजिक स्वास्थ्य, वैयक्तिक स्वास्थ्य और मानसिक शांति के लिए अहिंसा का प्रशिक्षण सर्वाधिक आवश्यक है। शिक्षा में उसकी इतनी उपेक्षा क्यों की गई, इसका उत्तर मुझे नहीं मिल रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और शस्त्रीकरण ने मानव-समाज को इस सच्चाई की ओर दृष्टिपात करने के लिए विवश किया है। इस विवशता में जो स्ववशता निकली है, वह सुनहले भविष्य के लिए सुनहला वर्तमान है। १९ नवम्बर, १९९० में जो अहिंसा का अभिलेख लिखा गया, वह इस युग के इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है। नाटो तथा वारसा संधि देशों के चौंतीस राष्ट्राध्यक्षों ने युगान्तरकारी निःशस्त्रीकरण संधि पर हस्ताक्षर कर शीतयुद्ध को अन्तिम विदाई दे दी। शीतयुद्ध का वातावरण नई साझेदारी और आपसी मैत्री में बदल गया। इससे पूर्व मध्यम दूरी के लघु प्रक्षेपास्त्रों के परिसीमन की संधि कर सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव और अमेरिकी राष्ट्रपति ने नया अध्याय खोला था। निष्कर्ष साफ है कि शीतयुद्ध, भय, तनाव और शस्त्रीकरण के वातावरण में विश्व की व्यवस्था सम्यक् प्रकार से चल नहीं सकती। आखिर हिंसा से अहिंसा की ओर प्रस्थान करना ही होता है। यदि अहिंसा की शिक्षा स्कूली शिक्षा के साथ हो तो नए नेतृत्व की सफलता के लिए नए क्षितिज हमारे सामने उपस्थित हो सकते हैं। विद्यार्थी को प्रेक्षा ध्यान के प्रयोग जीवन विज्ञान के नाम से करवाए जाते हैं। उससे नैतिक शिक्षा और अहिंसा की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिक्षा—दोनों की संपूर्ति हो जाती है।

अहिंसा के व्यावहारिक प्रयोग और अहिंसा का प्रशिक्षण

विश्व के अनेक अंचलों में अहिंसक समाज की रचना की दृष्टि से अनेक व्यावहारिक प्रयोग चलाए जा रहे हैं। उनकी सार्थकता पर कोई प्रश्न-चिह्न नहीं लगा सकता। ये प्रयोग समाज को व्यावहारिक प्रशिक्षण देते हैं। यह स्वीकार करने में भी मुझे कोई कठिनाई नहीं है। फिर भी एक बात शेष रह जाती है और वह है अहिंसा की सामान्य प्रशिक्षण पद्धति की। हृदय परिवर्तन हुए बिना अहिंसा के क्षेत्र में किए जाने वाले प्रयोग कितने चिरंजीवी और कितने सफल होते हैं, यह अपने आप में एक समस्या है। इस समस्या का अहिंसा के क्षेत्र में काम करने वालों ने अनुभव किया होगा। प्रेक्षा ध्यान अहिंसा का वस्तुनिष्ठ प्रयोग नहीं है। वह केवल आंतरिक चेतना का रूपांतरण या हृदय-परिवर्तन का प्रयोग है।

हमारा अभिमत है—हृदय-परिवर्तन के बिना सामाजिक विषमता को दूर करने और आर्थिक असमानता को मिटाने की जो बात कही जाती है, वह क्रियान्वित नहीं होती। बुराई को रोकने का शक्तिशाली माध्यम है, दण्डशक्ति का प्रयोग। बुराई की चेतना को बदलने का शक्तिशाली प्रयोग है, हृदय-परिवर्तन। अहिंसा में आस्था रखने वाला दण्डशक्ति पर भरोसा नहीं करता। उसका विश्वास हृदय-परिवर्तन पर होता है। इस अपेक्षा से कहा जा सकता है—प्रेक्षा ध्यान सामाजिक विषमता और आर्थिक असमानता के उन्मूलन का प्रयोग है।

आचार्यश्री तुलसी द्वारा अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया गया। उसके प्राण तत्त्व ये हैं—

अनावश्यक हिंसा न हो,

निरपराध की हिंसा न हो,

जातीय घृणा समाप्त हो, जाति-भेद और रंग-भेद के आधार पर हीनता और उच्चता की भावना समाप्त हो।

सांप्रदायिकता के आधार पर संघर्ष न हो।

मादक वस्तुओं के सेवन की प्रवृत्ति मिटे।

यह वर्तमान की ज्वलंत समस्याओं के समाधान की दिशा में होने वाला महान् संकल्प है। इनके लिए आंतरिक चेतना के रूपान्तरण या हृदय-परिवर्तन का प्रायोगिक उपक्रम है—प्रेक्षाध्यान।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शांति और अहिंसा-उपक्रम

अंधकार था, है और रहेगा। इसे दूर करने के लिए मनुष्य ने दीया जलाया, आज भी जलाता है और भविष्य में जलाता रहेगा। अंधकार की सत्ता त्रैकालिक है तो प्रकाश का अस्तित्व भी त्रैकालिक है। ऐसा कभी नहीं होता, जब अंधकार हो और प्रकाश का कोई उपाय न हो। अंधकार जितना सघन होता है, प्रकाश की अपेक्षा उतनी ही अधिक होती है। अंधकार रहेगा ही—यह सोचकर मनुष्य कभी दीया जलाना बंद नहीं करता। अंधकार के विरुद्ध उसका संघर्ष तब तक चलता रहेगा जब तक उसे प्रकाश की आवश्यकता रहेगी।

हिंसा थी, है और रहेगी। अहिंसा के लिए प्रयत्न हुआ है, हो रहा है और होता रहेगा। हिंसा और अहिंसा—दोनों की सत्ता त्रैकालिक है। हिंसा जितनी प्रबल होगी अहिंसा के लिए उतना ही तीव्र प्रयत्न करना होगा। संसार से हिंसा कभी समाप्त नहीं होगी, यह सोचकर मनुष्य की अहिंसक चेतना ने कभी उच्छ्वास लेना बंद नहीं किया। हिंसा के मुकाबले में अहिंसा की शक्ति कम नहीं है। अपेक्षा है उस शक्ति को जगाने की। शक्ति का जागरण तभी संभव है, जब उसका बोध हो, शोध हो, प्रशिक्षण हो और प्रयोग हो।

संभव है अहिंसा का प्रशिक्षण

हिंसा मनुष्य के संस्कारों में रहती है। निमित्तों का योग पाकर वह प्रकट होती है। आचारांग सूत्र में हिंसा के तीन कारण बताए गए हैं—प्रतिशोध, सुरक्षा और आशंका। कारण कुछ भी रहे हों, हिंसा का प्रशिक्षण नियमित रूप से चलता है। उसमें उत्तरोत्तर दक्षता बढ़ रही है। उसके लिए नए-नए साधन विकसित हो रहे हैं। आगे-से-आगे नई तकनीक खोजी जा रही है। अनेक प्रसंगों में इसका खुला प्रयोग भी हो रहा है। लगता है महावीर की इस वाणी को समर्थन मिल रहा है कि "अत्थि सत्थं परेण परं"—शस्त्र आगे से आगे तीक्ष्ण होता है, उसकी परम्परा चलती है।

अहिंसा के प्रयोग की बात तो दूर, उसके प्रशिक्षण की भी कोई व्यवस्था नहीं है। अहिंसा का उपदेश बहुत दिया जाता है। उसके गुणगान बहुत किए जाते हैं। पर उसके प्रशिक्षण की बात कौन सोचते हैं। ऐसी स्थिति में यह आशा कैसे की जा सकती है कि अहिंसा आएगी और वह जीवन शैली से जुड़ेगी? अधिक लोगों को तो यह विश्वास ही नहीं है कि अहिंसा कुछ कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकती है या उसका प्रशिक्षण दिया जा सकता है। हमारी मान्यता यह है कि अहिंसा में असीम शक्ति है और उसका प्रशिक्षण दिया जा सकता है।

अहिंसा का सैद्धान्तिक स्वरूप

अहिंसा-प्रशिक्षण के स्वरूप का निर्धारण किया जाए तो उसके दो रूप हो सकते हैं—सैद्धान्तिक और प्रायोगिक। सैद्धान्तिक प्रशिक्षण में दार्शनिक सत्यों का अवबोध कराया जाता है। अहिंसा के दार्शनिक पहलू अनेक हैं। उन सबकी चर्चा में प्रशिक्षण की बात बिखर सकती है। इस दृष्टि से यहां कुछ ऐसे बिन्दुओं को उल्लिखित किया जा रहा है, जिनको समझे बिना अहिंसा के प्रशिक्षण का कोई आधार भी नहीं बनता। दार्शनिक पृष्ठभूमि पर अहिंसा की मूल्यवत्ता प्रमाणित करने वाले पांच बिन्दु हैं—

- आत्मा का अस्तित्व
- आत्मा की स्वतंत्रता
- आत्मा की समानता
- जीवन की सापेक्षता
- सह अस्तित्व

आत्मा है। प्रत्येक आत्मा का सुख-दुःख अपना-अपना है। इस दृष्टि से आत्मा स्वतंत्र है। गणित की भाषा में आत्मा अनन्त हैं। उनकी कर्मकृत अवस्थाएं भिन्न-भिन्न हैं। पर स्वरूप की अपेक्षा से सब आत्माएं समान हैं। समानता का यह सिद्धान्त मनुष्य तक ही सीमित नहीं है। संसार में जितने प्राणी हैं, उन सबकी आत्मा समान है। कोई भी व्यक्ति निरपेक्ष रहकर अपने अस्तित्व को नहीं बचा सकता। इसी कारण जीवन को सापेक्ष माना गया है। सापेक्षता का सिद्धान्त प्रकृति के प्रत्येक कण पर लागू होता है। कहीं पर वृक्ष का एक पत्ता भी टूटकर गिरता है तो उसका प्रभाव पूरी सृष्टि पर पड़ता है। मैं रहूंगा या वह रहेगा, अहिंसा की परिधि में इस चिन्तन को स्थान नहीं मिल सकता। मैं भी रहूंगा, तुम भी रहोगे। यह भी रहेगा, वह भी रहेगा—इस प्रकार सह अस्तित्व की भाषा में सोचना अहिंसा का दर्शन है।

अन्तर्जगत् में अहिंसा के प्रयोग

अहिंसा के सैद्धान्तिक पक्ष को समझने के बाद उसके प्रायोगिक स्वरूप को समझना आवश्यक है। प्रायोगिक के दो बिन्दु हैं—अन्तर्जगत् और बाह्य जगत्। अन्तर्जगत् में प्रशिक्षण का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है संवेग-संतुलन (Balance of Emotions)। मनोविज्ञान की भाषा में मानसिक उथलपुथल या उद्वेलन की अवस्था का नाम संवेग है। भय, क्रोध, जुगुप्सा, कामुकता, सुख, दुख आदि संवेग प्रतिक्रियात्मक भावों के रूप में अपना प्रभाव दिखाते हैं।

मनुष्य जब तक वीतराग नहीं बन जाता, संवेगों के प्रभाव से मुक्त नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकता। पर इनका संतुलन न होने से अनेक प्रकार की समस्याएं पैदा हो जाती हैं। संवेगों को संतुलित करने की प्रक्रिया को यहां उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है—

क्रोध एक संवेग है। इसे नियंत्रित करने के लिए इमोशनल एरिया—भाव-क्षेत्र पर ध्यान के प्रयोग करवाए जाते हैं। चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा और लेश्या-ध्यान के प्रयोग इसके लिए कार्यकारी प्रमाणित हुए हैं।

प्रमाद एक संवेग है। यह जागरूकता घटाता है। इसको नियंत्रित करने के लिए चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा, लेश्याध्यान और दीर्घ-श्वास प्रेक्षा के प्रयोग निर्धारित हैं। नशा-मुक्ति के लिए भी इन प्रयोगों को काम में लिया जाता है।

हीन भावना और अहं भावना ऐसे संवेग हैं, जो मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। इनके प्रभाव को क्षीण करने के लिए अनुकंपी और परानुकंपी—Sympathetic & parasympathetic नाड़ी-तंत्र पर ध्यान के विशेष प्रयोग करवाए जाते हैं।

बाह्यजगत् में प्रशिक्षण के तीन बिन्दु

बाह्यजगत् में अहिंसा के प्रायोगिक प्रशिक्षण की भूमिका बहुत विस्तृत है। मुख्य रूप में उसके तीन बिन्दु हो सकते हैं:—

- मानवीय संबंधों का परिष्कार या विकास।
- प्राणी जगत् के साथ संबंधों का विस्तार।
- पदार्थ जगत के साथ संबंधों की सीमाएं।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समूह में रहता है। वहां वह अनेक प्रकार के संबंध जोड़ता है। संबंध जोड़ना कोई कठिन काम नहीं है। कठिन है उनका समुचित निर्वाह। कठिनाई का कारण है मनुष्य की स्वार्थपरायण मनोवृत्ति। स्वार्थ की आंख से देखने वाला और स्वार्थ की धरती पर चलने वाला परमार्थ की बात कैसे सोच सकता है? अहिंसा परमार्थ का दर्शन है। अहिंसा में विश्वास करने वाला व्यक्ति संबंधों की आंच पर स्वार्थ की रोटी नहीं सेक सकता। स्वार्थवाद या व्यक्तिवाद के कारण सम्बन्धों के संसार में जो जहर घुल रहा है, उससे बचने के लिए अहिंसा का प्रशिक्षण अत्यन्त आवश्यक है।

मानवीय संबंधों का परिष्कार

मनुष्य के दृष्टिकोण को दो रूपों में देखा जाता है—मानवीय और अमानवीय। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के प्रति कैसा संबंध या व्यवहार होना चाहिए, नीतिसूत्रों में यह बात निर्धारित होती है। उसके अनुसार व्यवहार करने वाले व्यक्ति का दृष्टिकोण मानवीय कहलाता है। जो व्यक्ति दूसरे के हितों की उपेक्षा करता हो, उन्हें कुचल देता हो, किसी का शोषण करता हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या सताता हो, यह पाशवी या दानवी वृत्ति कहलाती है। इस वृत्ति को बदलने से ही मानवीय संबंधों का परिष्कार हो सकता है।

मानवीय संबंधों को कई ईकाईयों में विभक्त किया जा सकता है। हम यहां मुख्य रूप से तीन ईकाइयों की चर्चा कर रहे हैं—पारिवारिक संबंध, सामाजिक संबंध और व्यावसायिक संबंध। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, सास-बहु, देवरानी-जेठानी, मां-बेटी आदि पारिवारिक संबंध हैं। इनमें मानवीय दृष्टिकोण का विकास हो तो किसी को मारने,पीटने, सताने या प्रताड़ित करने का प्रसंग उपस्थित नहीं हो सकता।

सामाजिक संबंधों का दायरा बहुत विस्तृत होता है। पड़ोसी से लेकर दूर-दराज बसने वाले समाज के हर व्यक्ति के साथ किसी न किसी रूप में संबंध रहता है। संबंधों की स्थापना में स्वार्थ की प्रेरणा न हो और स्वार्थ में बाधा पहुंचने पर संबंध तोड़ने की परिस्थिति भी पैदा न हो, यह अहिंसा की प्रेरणा है। जाति, रंग, लिंग वर्गभेद आदि को आधार बनाकर मनुष्य-मनुष्य के बीच जो दूरियां बढ़ती जा रही हैं वे किसी न किसी रूप में हिंसा को बढ़ावा दे रही है। इन सब भेदों से ऊपर एक तत्त्व है, वह है मनुष्यता। यह भी मनुष्य है, मैं भी मनुष्य हूं। मैं इससे जिस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा रखता हूं, इसको भी मुझसे वैसी ही अपेक्षा है। चिन्तन के इस धरातल पर ही मानवीय संबंधों का विकास संभव हैं।

मालिक-कर्मचारी, व्यापारी-मुनीम, स्वामी-सेवक, भागीदार-भागीदार आदि संबंध व्यवसाय जगत से जुड़े हुए हैं। इन संबंधों में मानवीय दृष्टिकोण न हो तो मालिक शोषण करता है और श्रमिक श्रम से जी चुराता है। चार डिग्री बुखार में काम करने की बाध्यता और बहानेबाजी की आदत इसी परिवेश में पलती है। इस क्षेत्र में सहानुभूति और संविभाग के प्रशिक्षण से अनेक प्रकार की समस्याओं से राहत मिल सकती है।

प्राणी-जगत् के साथ संबंधों का परिष्कार

मनुष्य अपने आपको संसार का सबसे श्रेष्ठ प्राणी समझता है। इसी कारण अन्य प्राणियों के प्रति उसका दृष्टिकोण बहुत उदार नहीं होता। वह अपने जीवन के लिए प्राणियों की हिंसा करता है। हिंसा के दो रूप हैं—अपरिहार्य और परिहार्य। उसके द्वारा की जा रही अपरिहार्य हिंसा भी हिंसा ही है। उसे अपरिहार्यता की दृष्टि से एक ओर किया जा सकता है। किन्तु अपरिहार्य या अनावश्यक हिंसा प्राणी जगत् के प्रति उसके अमानवीय दृष्टिकोण का परिणाम है।

प्राणी जगत् के साथ मनुष्य के संबंध कैसे होने चाहिए—इस संदर्भ में मनुष्य को प्रशिक्षण दिया जाता तो परिहार्य या अनावश्यक हिंसा नहीं होती,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणियों के प्रति निर्दय व्यवहार नहीं होते और मानव समाज में विलासिता नहीं पनपती। क्रूर हिंसा-जनित प्रसाधन सामग्री और परिधानों का उपयोग वे ही लोग कर सकते हैं जो सब प्राणियों के साथ तादात्म्य का अनुभव नहीं करते। कुछ लोग मनोरंजन के लिए पशुओं को आपस में लड़ाते हैं। थोड़े से लोगों का क्षणिक मनोविनोद प्राणी जगत् के प्रति क्रूरता का खुला निदर्शन है। अहिंसा का प्रशिक्षण मनुष्य को इस प्रकार की क्रूरता से विरत कर सकता है।

समस्त प्राणी-जगत् के प्रति उदार या मानवीय दृष्टिकोण रखने वाला व्यक्ति प्रकृति की भी अधिक छेड़छाड़ नहीं कर सकता। पर्यावरण विज्ञान प्रकृति के किसी भी हिस्से में हस्तक्षेप को उचित नहीं मानता। उसकी यह अवधारणा बहुत प्राचीन नहीं है। भगवान महावीर ने ढाई हजार वर्ष पहले अहिंसा और संयम के जो सूत्र दिए, उनके अनुसार प्रकृति के एक कण को भी क्षतिग्रस्त नहीं किया जा सकता।

पदार्थ जगत् के साथ संबंधों की सीमाएं

मनुष्य की एक मौलिक मनोवृत्ति है—अधिकार की भावना। इसी भावना से प्रेरित होकर वह परिग्रह का संग्रह करता है। परिग्रह की चेतना मनुष्य के अस्तित्व को समाप्ति की ओर अग्रसर करने वाली है। "एरिक फ्रोम" ने एक पुस्तक लिखी है—'टू हेव ओर टू बी'। (To have or to be)—अधिकार अथवा अस्तित्व। मनुष्य को इन दोनों में से एक का चुनाव करना है। उसे अपने अस्तित्व को बचाकर रखना है तो अधिकार की भावना का त्याग करना होगा।

मनुष्य के सामने यह एक दोहरी समस्या है। एक ओर पदार्थ के बिना उसका काम नहीं चल सकता। दूसरी ओर ममत्व या अधिकार की भावना उसके अस्तित्व के लिए खतरा बन रही है। ऐसी स्थिति में प्रशिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है—पदार्थ के प्रति अमूर्च्छा या अनासक्ति का विकास। पदार्थ के प्रति दृष्टिकोण में बदलाव आते ही उसके संग्रह और उपभोग की सीमाएं अपने आप स्वीकृत हो जाती हैं।

अन्तिम शरण आदिम शरण बने

अहिंसा के प्रशिक्षकों और प्रशिक्षुओं को भगवान् महावीर का उद्घोष "अहिंसा सव्वभूयखेमंकरी" याद रखना है। उन्होंने कहा—अहिंसा सब प्राणियों के लिए कल्याणकारिणी है। यह उद्घोष उस समय अधिक सार्थक और प्रासंगिक लगता है, जब युद्ध की विनाशलीला से थके-हारे और डरे-सहमे लोग अहिंसा की शरण स्वीकार करते हैं, युद्ध विराम की घोषणा करते हैं। यदि हिंसा या युद्ध में शरण बनने की क्षमता होती तो युद्ध विराम की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बात क्यों सोची जाती। अंतिम शरण युद्ध नहीं, युद्ध-विराम है। ये अंतिम शरण आदिम शरण बनें, इसके लिए आवश्यक है युद्ध को विराम देने के स्थान पर युद्ध के प्रारम्भ को ही विराम मिले। कुछ लोग मानते हैं कि अहिंसा आदमी को कायर बनाती है, भयभीत बनाती है। मैं उनसे पूछना चाहता हूं कि यदि अहिंसा कायरता है तो अन्त में उसकी शरण क्यों ली जाती है? क्या कायरता किसी की शरण बन सकती है। महावीर ने भय और कायरता को हिंसा माना है। अहिंसा कायरों का नहीं, वीरों का हथियार है। शौर्यवती और वीर्यवती अहिंसा ही समूचे संसार को त्राण और शरण दे सकती है। काश! संसार उसकी क्षमता को पहचाने और उसे आदिम शरण के रूप में स्वीकार करे।

प्रशिक्षण की पद्धति शिक्षा के साथ जुड़

अहिंसा के प्रशिक्षण हेतु ऊपर निर्दिष्ट कुछ बिंदुओं को ही चुना गया है, क्योंकि हिंसा के तीन मुख्य कारण हैं—

- वैचारिक अभिनिवेश,
- पदार्थ के प्रति आसक्ति,
- मानवीय संबंधों में क्रूरता।

मनुष्य के दैनंदिन जीवन में इन बिन्दुओं से संबंधित जो प्रसंग उपस्थित होते हैं, उन्हें टालने का कार्यकारी उपाय एक ही है कि मनुष्य को प्रशिक्षित कर दिया जाए। बहुत बार ऐसा भी होता है कि व्यक्ति अज्ञानवश हिंसा में प्रवृत्त हो जाता है। हिंसा के परिणामों से परिचित न होने के कारण भी ऐसा हो सकता है। इसलिए अहिंसा के प्रशिक्षण की प्रक्रिया को काफी सघन बनाना अपेक्षित है। कुछ व्यक्तियों अथवा गांवों को चुनकर प्रयोग करना ही पर्याप्त नहीं है। परीक्षण के तौर पर ऐसा किया जा सकता है, पर प्रशिक्षण-कार्यक्रम को व्यापक बनाने के लिए इसे शिक्षा के साथ नत्थी करना होगा।

जितने भी विद्यालय और महाविद्यालय हैं, उनमें अहिंसा को अनिवार्य सब्जेक्ट के रूप में स्वीकार किया जाए और थ्योरिटिकल ट्रेनिंग के साथ प्रेक्टिकल ट्रेनिंग पर भी ध्यान केन्द्रित किया जाए तो इस विषय को और अधिक व्यापक बनाया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सार्वभौम अहिंसा केन्द्र

वर्तमान युग में मानव के समक्ष सबसे बड़ा कार्य मानव को हिंसा के प्रति उसकी प्रतिबद्धताओं से मुक्त करना है, जो अनेक रूपों में उसके अस्तित्व मात्र के लिए खतरा उत्पन्न कर रही हैं। ये प्रतिबद्धतायें बहुत थोड़ी हैं और एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं।

हिंसा के प्रति हानिप्रद आदतन प्रतिबद्धता

प्रथम प्रतिबद्धता शारीरिक सुरक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से धमकी और संहारक शक्ति के प्रयोग के प्रति है। इसके परिणामस्वरूप वर्तमान शताब्दी में घनी मारकाट, आणविक सर्वनाश की धमकी और मानवीय एवं भौतिक संसाधनों के 'भारी अपव्यय' का बोलबाला है। द्वितीय प्रतिबद्धता आन्तरिक अथवा बाह्य प्रतियोगिता में चाहे वह पूंजीवादी हो या समाजवादी, स्वामित्व और उत्पादन की अर्थव्यवस्थाओं की स्थापना एवं उन्हें बनाये रखने के लिए प्राणघातक शक्ति के प्रयोग करने की है। इसके परिणामस्वरूप हिंसा पर आधारित असमतावादी सार्वभौम अर्थव्यवस्था का जन्म हुआ है, जिससे प्रतिदिन इतनी भारी मात्रा में मृत्यु एवं उत्पीड़न हो रहा है कि तरेपन नोबल पुरस्कार विजेताओं ने इसे 'भूख एवं अल्प विकास के विध्वंस' की संज्ञा देकर गहन दुःख प्रकट किया है।

तृतीय प्रतिबद्धता धमकी, उत्पीड़न और अत्याचार के प्रति है, जिनके सहारे चिन्तन, सामाजिक नाते-रिश्तों और कार्यों में अवांछनीय प्रवृत्तियों को दबाया जाता है। ऐसा करना मानवाधिकारों का भयावह उल्लंघन और हिंसक प्रतिशोध का अनवरत चलता कुचक्र है। पहिचान, सम्मान, सृजनात्मक अभिव्यक्ति एवं भौतिक निर्वाह के लिए मानवीय आवश्यकताओं के प्रति हिंसक दमन एवं सहानुभूति के अभाव की कीमत अनुमान से परे है। चौथी प्रतिबद्धता जीव-मण्डल पर आधिपत्य स्थापित करने तथा हिंसा प्रधान विज्ञान और प्रौद्योगिकी के माध्यम से, जो सामरिक क्षमताओं में अनन्त-वृद्धि की ओर अभिमुख है, इसके (जीव-मण्डल के) समस्त संसाधनों का शोषण करने के प्रति है। ये क्षमतायें अब भूमि, सागर और वायु तक सीमित न रहकर अन्तरिक्ष पार भी पहुंच गई हैं। मानव-विनाश की तैयारी का सम्बन्ध पृथ्वी ग्रह पर उपलब्ध जीवनाधार क्षमताओं के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विनाश से है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसा के प्रति सार्वभौम प्रतिबद्धता के हाथ की पांचवीं अंगुली है मानव का उन देशों के मध्य खण्ड-विभाजन, जिनका जन्म विजय, राज-विप्लव, क्रान्तियों, गृह-युद्धों, युद्धों और उपनिवेशी अधीनीकरण आदि से हुआ है। ये देश जो अपनी स्वयं की प्रजा पर बलपूर्वक आधिपत्य रखते हैं, समस्याओं को हल करने की सार्वभौम प्रक्रियाओं के सृजन में बाधक हैं—वे प्रक्रियायें जो समस्त विश्व की आवश्यकता हैं। हिंसा प्रधान देश की सरकार के प्रति वचनबद्धता, जो वस्तुतः राजनीतिक संगठन की महत्त्वपूर्ण इकाई है, विश्व को एक हिंसक सत्ता, चाहे वह एकात्मक हो या संघीय, में बदलने की दिशा में प्रथम चरण है। ऐसा नहीं होने तक या इसकी अन्तरिम स्थिति में, हिंसा के प्रति प्रतिबद्धताओं का परिणाम मानव को कई प्रकार के ऐसे सैन्य खण्डों में बांटना है जिनके घातक अस्त्र-शस्त्र-व्यापार के कैंसर से केवल शक्ति बढ़ती ही नहीं घटती भी है। ऐसा व्यापार उस विशेष मानव-खण्ड की नर-संहारक क्षमता को निन्तर बढ़ाता चला जाता है। मानव का हिंसात्मक-खण्ड विभाजन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कल्याण की असमान परिस्थितियां उत्पन्न करता है। हिंसा के प्रति प्रतिबद्धता अन्य प्रकार के दमनकारी रूपों में भी पाई जाती है, जो नर-संहार रूपी अंगुलियों के विभिन्न पौर हैं, जैसे—पितृसत्ता, प्रजातिवाद, वर्गवाद और जातिवाद।

अहिंसक रूपान्तरण की आवश्यकता

हिंसा के प्रति उन प्रतिबद्धताओं का अहिंसक रूपान्तरण करना होगा जो व्यक्ति से सार्वभौम स्तर तक पहुंच चुकी हैं—दमनात्मक एवं क्रान्तिकारी —मार दो, डराओ, निर्धन बनाओ, दमन करो, लूट लो और फूट डालो। हिंसा को अपनाने वाला व्यक्ति ही विश्व-स्तर पर प्रकट होने वाले हिंसा के विविध रूपों का आधार है, जो मानव के कल्याण एवं अस्तित्व के लिए खतरा उत्पन्न कर रहा है। अतः मानव की सबसे बड़ी आवश्यकता, जिसे अति शीघ्र या शनैः शनैः, पूर्णरूपेण अथवा विषमरूप से, जागृत करना है, वह है आत्म-विनाश के स्रोत, हिंसा के प्रति प्रतिबद्धता को समूल नष्ट करना। अब वह समय आ गया है, जबकि मानव को अपने अस्तित्व और भावी कल्याण से सम्बद्ध समस्याओं का समाधान सिद्धान्तों पर आधारित एवं आवश्यकताओं को पूरी करने वाले अहिंसक विकल्पों को सोद्देश्य खोज निकालना है।

अब यह वह समय आ गया है जबकि हमें अहिंसक सार्वभौम रूपान्तरण की हमारी युगों पुरानी कल्पना को अहिंसक क्रान्ति के रूप में पाने के प्रयत्नों को और गति देना है। मानव इतिहास में प्रथम बार हमें क्रान्ति के जैसे इस प्रकार के दुष्कर कार्य का सामना करना पड़ रहा है, जो किसी बाह्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तु जैसे निरंकुश सत्ता, आक्रमणकारी या वर्गविशेष के विरुद्ध न होकर मनुष्य के अन्तःस्थल में मानव-कल्याणार्थ हिंसा से मुक्ति पाना है। इस प्रकार सार्वभौम अहिंसक क्रान्ति वस्तुतः हम प्रत्येक मनुष्य के हृदय में बसी हिंसा के विरुद्ध क्रान्ति है। हम एक ऐसे युग में प्रवेश कर चुके हैं, जिसमें फ्रांस की क्रान्ति के तीसरे नारे को अन्य दो नारों के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु क्रियान्वित करना है। बिना भाईचारे की भावना के (जो अहिंसा का ही रूप है) न तो स्वतंत्रता और न ही समानता पनप या सुरक्षित रह सकती है।

इस प्रकार का महान् अहिंसात्मक रूपान्तरण, जिसकी वर्तमान युग में उत्कट आवश्यकता है, केवल मानवीय इच्छा, उद्देश्यपूर्णता और प्राचीन आध्यात्मिक सत्यों के प्रति और भी सशक्त रूप से प्रेरित नेतृत्व पर ही आधारित नहीं है, अपितु यह हिंसक संस्थाओं, जैसे—राज्यों, अर्थव्यवस्थाओं और प्रौद्योगिकी की समस्या-समाधान सम्बन्धी असफलताओं और रुकावटों द्वारा भी उत्प्रेरित है। अतएव पूर्णतः भिन्न उपागम जो सोद्देश्य एवं आदेशात्मक हों, आकांक्षित एवं आवश्यक हों, अपनाये जाने चाहिए।

अहिंसात्मक रूपान्तरण के कार्य

अहिंसात्मक क्रान्ति केवल नकारती ही नहीं है अपितु समर्थन भी देती है। यह आनन्ददायक एवं रचनात्मक होनी चाहिए। हिंसकोत्तर सभ्यता उत्पन्न की जानी चाहिए जिसकी विशेषता होनी चाहिए आनन्दपूर्ण सृजनात्मक और जीवन के हर क्षेत्र में न्याय। टॉल्स्टाय ने सुख की ओर इन शब्दों में आह्वान किया है :

हो जा प्रसन्न ! हो जा प्रसन्न।
प्रसन्नता ही है अर्थ और कर्म जीव का।
लूट ले खुशियां सूर्य और तारागण से,
घास और तरुओं से, पशु व मानव से।
फिर भी रहो सावधान, न हो यह खुशी अवरुद्ध।
अवरोध जताता है त्रुटियां, हमारी भूलें,
आओ तलाशें उन त्रुटियों को, सुधारें उन्हें।

और गांधीजी ने भी न्याय की महती आवश्यकता को एक ही वाक्य में समेट दिया है, "अहिंसा की प्रथम शर्त है जीवन के हर क्षेत्र में चहुं ओर न्याय ही न्याय।"

अतएव हिंसा की सशक्त पकड़ से अपने आपको मुक्त करने के लिए हमें अहिंसा का हाथ बहुत नरमी और चतुराई से पकड़ना होगा और फिर द्वन्द्वात्मक विरोध से द्विपक्षीय सहयोग की ओर आगे बढ़ना होगा, ताकि जीवन-दशाओं में सुधार किये जा सकें। अतएव अहिंसात्मक समस्या-समाधान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से सम्बद्ध महान् मानवीय कार्य हैं : आत्म-सुरक्षा के लिए अहिंसात्मक व्यवस्थायें लागू करना, सभी को आर्थिक उन्नति एवं न्याय उपलब्ध कराना, सम्पूर्ण पर्यावरण पर प्यार-भरी निगरानी रखना तथा ऐसी प्रक्रियाओं को जन्म देना जो आवश्यकताओं को पूरी करने वाली और समस्याओं का हल निकालने वाली हों।

संक्षेप में, अहिंसक क्रान्ति अथवा अहिंसक रूपान्तरण ऐसे विश्व-समुदाय की संरचना करना चाहता है, जो खुशियों एवं न्याय से ओतप्रोत हो—एक ऐसी दुनिया जिसमें न कोई किसी को मारेगा और न मारने की धमकी देगा, न मारने के कोई तकनीकी या सांस्कृतिक कारण बताये जायेंगे, न कोई भौतिक या सामाजिक परिस्थितियां बतलाई जायेंगी, जो नर-संहारक शक्तियों या नर-संहार की धमकियों पर आधारित है।

वर्तमान परिस्थितियों के आमूलचूल परिवर्तन में आध्यात्मिक और वैज्ञानिक विकास को दैनिक जीवन में उतारना अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा। आध्यात्मिक विकास से तात्पर्य नैतिक, कलात्मक और भावात्मक विकास से है, जो सभी महान् धर्मों की शिक्षाओं का प्रेरणापुञ्ज सार है। वैज्ञानिक विकास से अर्थ है प्रकृति और मानव के बीच कार्य-कारण वाले सम्बन्धों की अवधारणा को असत्य सिद्ध करना। अहिंसात्मक रूपान्तरण के लिए दोनों ही अवधारणाओं को समस्या-समाधान वाले कार्यों में संयुक्त रूप से व्यक्त करना होगा। तदर्थ आत्मा, विज्ञान और कर्म के रचनात्मक, अन्तर्पेठी एवं प्रभावी संश्लेषण की आवश्यकता होगी।

अहिंसात्मक संस्थागत विकास का वैचारिक आधार

आध्यात्मिक प्रेरणा के प्राचीन प्रतीकों, समकालीन मस्तिष्क-शोध एवं सर्वव्यापी (सामाजिक विज्ञानों के प्रामाणिक कथनों द्वारा) अहिंसात्मक समस्या-समाधान सम्बन्धी और संस्थागत विकास के वैचारिक-केन्द्र बिन्दु के लिए ऐसा सुझाव दिया जाता है कि व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन किसी अच्छे या बुरे परिणाम के लिए इस बात पर निर्भर करता है कि व्यवहार के तीनों परस्पर-निर्भर पहलुओं—आवेगों, तकनीकी मामलों और शक्ति संबंधों को हम कैसे व्यवस्थित रख पाते हैं।

स्त्री-पुरुष की पारस्परिक क्रिया से उत्पन्न जीवन की एकता के संबंध में प्राचीन इन यांग प्रतीक, जो ब्रह्मांडिकी विवेचना के लिए भी सक्षम है, वांछित, आध्यात्मिक-वैज्ञानिक, तार्किक सम्बन्धों को व्यक्त करने के लिए मूलभूत अलंकार-शृंखला प्रस्तुत करती है। इस प्रक्रिया में समकालीन मस्तिष्क सम्बन्धी अध्ययनों को भी सम्मिलित किया जा सकता है, जिनके अनुसार क्लिष्ट क्रियाओं को मोटे रूप से दो अर्द्ध-गोलाकारों की अन्तःक्रिया के रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में संक्षिप्ततः व्यक्त किया जा सकता है : दायीं आध्यात्मिक-संवेगात्मक-अन्तर्ज्ञात तरफ तथा बायीं तर्कसंगत, गणनात्मक एवं उपकरणीय तरफ। इसके आगे हम इसमें एक तीसरा, अन्तस्तालीय तत्त्व नवीनतम सैद्धान्तिक एवं शोध निष्कर्षों के आधार पर जोड़ सकते हैं। वे निष्कर्ष इस प्रकार हैं कि हिंसा तब जन्म लेती है जबकि मस्तिष्क की संवेगात्मक व्यवस्था (अवयव व्यवस्था) और उसकी संचार व्यवस्था (अनुमस्तिष्कीय) के बीच के विद्युतीय मार्ग चोटग्रस्त हो जाते हैं। दूसरी ओर अहिंसात्मक व्यवहार मौलिक अथवा पुनःसंस्थापित विद्युतीय आनन्द मार्गों से प्रसूत होता है, जो संवेगात्मक एवं संचार व्यवस्थाओं के बीच में स्थित हैं। यदि हम इससे आगे बढ़ते हैं तो यह विचार कि प्रभावी संस्थाकरण में तीनों तत्त्वों का समावेश हो जाना चाहिए, मानव व्यवहार के तीनों आयामों के महत्त्व पर विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के कथनों द्वारा प्रबलीकृत हो जाता है। इन तीनों प्रकार के व्यवहारों को ये भिन्न-भिन्न नाम दिये जा सकते हैं : भावनात्मक, तकनीकी एवं शक्तिपरक, प्रभावोत्पादक, संज्ञानात्मक और आदेशात्मक, स्पष्टवाचक, व्यावहारिक, संघर्षात्मक अनुभूतियां, प्रत्यक्ष बोध, पारितोषिक एवं दण्ड इत्यादि। ये ही ईश्वर एवं कैवल्य के मार्गों की प्राचीन आध्यात्मिक पहिचान की प्रतिध्वनियां मात्र हैं। कैवल्य से तात्पर्य है विश्वास, चिन्तन, क्रिया, मस्तिष्क, शब्द और शरीर, आत्मा, मार्ग और जीवन।

इन तीनों तत्त्वों को अहिंसक आन्दोलनों में एकीकृत करने के प्रयासों के समकालीन व्यावहारिक उदाहरण प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान और अणुव्रत में उपलब्ध हैं। ये अभ्यास आचार्य तुलसी और युवाचार्य महाप्रज्ञ के नेतृत्व में तेरापन्थ जैन आम्नाय द्वारा संचालित हैं। आध्यात्मिक विकास, विद्वत्ता और ग्राम सेवा संयुक्तरूप से तमिलनाडु में गांधी रूरल युनिवर्सिटी में, इसके संस्थापक डा० जी० रामचन्द्रन, जो स्वयं गांधी-टैगोर द्वारा अभिप्रेरित थे, के बीच में चलाये जाते हैं। इसी प्रकार अहिंसक "मानवीय क्रान्ति" जापान में उन संस्थाओं द्वारा संचालित की जा रही है, जो एक दूसरे पर आश्रित हैं, तथा जो जापान के बौद्ध शान्ति नेता दैसाकु इकेडा द्वारा सोकागकाई संगठन (मूल्य निर्माण शिक्षण संस्था) के माध्यम से निशीरेन शोशु धर्म के प्रसार हेतु स्थापित एवं विकसित की गई थी। इनमें कला और संगीत संगठन सोका विश्वविद्यालय और दूसरी शोध एवं शिक्षण संस्थाएं, कई कार्यार्थी सामान्य संगठन, सोकागकाई इन्टरनेशनल, एक समाचारपत्र (सेक्यो शिम्भून) और एक स्वतंत्र राजनीतिक दल (कोमिटो) शामिल हैं।

इन मूलभूत अवधारणाओं और व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर हम देख सकते हैं कि कोई भी स्थानीय, राष्ट्रीय या राष्ट्रपार संस्था जो अहिंसक सार्वभौम रूपान्तरण की पक्षपाती है, के पास तीन प्रकार की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आन्तरिक और कुल मिलाकर सात आधारभूत तत्त्व क्षमतायें अनिवार्य रूप से होनी चाहिएं : आध्यात्मिक-संवेगात्मक-कलात्मक सृजनशीलता, वैज्ञानिक-तकनीकी सृजनशीलता, अहिंसक मूल्यों और तकनीकी कौशल को प्रभावी समस्या-समाधान हेतु आपस में जोड़ने की क्षमता (नेतृत्व-अनुयायी विकास), अहिंसक उपक्रमों का ज्ञान (शोध, शिक्षा, उपयोग) ; और समस्या-समाधान में लग जाने की क्षमता।

इस प्रकार की संस्था, यद्यपि वह छोटी है, परिणामस्वरूप आवश्यकतानिष्ठ सार्वभौम रूपान्तरण में एक "अहिंसक मस्तिष्क" का काम दे सकती है। यदि इसे उपयुक्त समर्थन दिया जाये तो यह ऐतिहासिक योगदान दे सकती है जो निम्नांकित के समकक्ष हो सकता है : भविष्य दृष्टि, बुद्धि तकनीकी का सामंजस्य, पुर्तगाल नौ-विमानचालक राजकुमार हेनरी का समुद्र-गमन कौशल, जिसने सार्वभौम खोजों के लिए समुद्रों में रास्ते बनाये, मन्हट्टन प्रोजेक्ट द्वारा उपलब्ध अणु बम्ब के नकारात्मक उदाहरण, नासा अपोलो प्रोजेक्ट द्वारा चन्द्रमा पर मानव की यात्रा का युग पुराना साकार स्वप्न। यह विचार कि अहिंसक सार्वभौम रूपान्तरण सम्भव है, कम चुनौतीवाला कार्य नहीं है, न कम महत्त्वपूर्ण है, तो वह पूर्णतः उपलब्ध किया जाने वाला भी है, यदि आवश्यक इच्छाशक्ति, बुद्धि बल और संसाधन, जैसे—आत्मा विज्ञान और कौशल उसमें पूरी तरह लगा दिये जायें।

संसार के दायें आधे भाग में सभी धर्मों, संस्कृतियों और कलाओं की अहिंसक-आध्यात्मिक बुद्धि का यथेष्ट उपयोग करने में यह संस्था समर्थ होनी चाहिए। इनमें बहाई सम्प्रदाय के अहिंसात्मक पहलू, बुद्ध धर्म, ईसाई धर्म, हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, जैन धर्म, यहूदी धर्म तथा वे सभी अन्य धर्म जिनमें स्वदेशीय लोगों के धर्म शामिल हैं। इनमें धर्म-निरपेक्ष दर्शनों के अहिंसक पहलू भी सम्मिलित हैं, जैसे कि रूढ़िवाद उदारतावाद, समाजवाद, ग्रीनिज्म और भविष्यवाद। इनमें दृश्य और क्रियात्मक कलाओं जैसे—पैन्टिङ्ग, मूर्तिकला, काव्य, साहित्य, संगीत, नृत्य, नाटक और फिल्म आदि में निहित अहिंसात्मक प्रेरणाओं की खोज और विकास भी शामिल हैं।

संसार के बायें अर्द्ध भाग में इस संस्था को विभिन्न क्षेत्रों जैसे—आचार-शास्त्र, मस्तिष्क विज्ञान, बायोकेमिस्ट्री, पोषण, मानसिक चिकित्सा विज्ञान, मनोविज्ञान, मानव-शास्त्र, भूगोल, अर्थशास्त्र समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, सूचना-विज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान, इतिहास और भविष्य अध्ययन में उपलब्ध अहिंसानिष्ठ ज्ञान का यथेष्ट उपयोग करना होगा।

खगोल के मध्य भाग में अहिंसक नेतृत्व और अनुयाय के विभिन्न व्यवसायों और व्यक्ति, परिवार और समाज के दैनिक जीवन में पहल शक्ति का विकास करने के लिए मूल्यों एवं विज्ञान को एक साथ मिलाना होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस संस्था को निम्नांकित की अहिंसक क्षमताओं का उपयोग करने के साथ-साथ उनमें अपना योगदान करना होगा, राजनीतिक नेतृत्व, कानून, लोक प्रशासन,उद्यम, श्रम, चिकित्सा, समाज-सेवा, शिक्षा, संचार, धर्म और गैर-सरकारी नागरिकी अभियान। इसे सेना, पुलिस, क्रान्तिकारियों और अपराधियों के हिंसात्मक कौशल तथा दूसरी ओर अहिंसक आन्दोलनों के अनुभवी संभागियों के अहिंसक कौशल का भी रूपान्तरण हेतु यथेष्ट उपयोग करना होगा। इसके अतिरिक्त इस संस्था को हर व्यवसाय में दैनिक जीवन की अहिंसक बुद्धि और कौशलों के प्रति जागरूक और उनका समर्थक रहना होगा।

स्थानीय और सारी पृथ्वी के पर्यावरणों की बारीकी से जांच-पड़ताल करते रहते हुए तथा तदनुसार प्रक्रिया करते हुए त्रिरूपीय मस्तिष्क एक मूलभूत आध्यात्मिक वैज्ञानिक प्रश्न पूछता है और अहिंसक विश्लेषण के चतुष्कोणीय तर्क का उत्तर देना चाहता है और अहिंसा के सिद्धान्तों पर आधारित कार्य के माध्यम से अपने पर्यावरण के बदलने के लिए कार्य करता है। आधारभूत प्रश्न है, "क्या अहिंसक समाज का अस्तित्व सम्भव है? वह सार्वभौम मानव समुदाय, जिसमें न मारना है, न मारने की धमकियां है, न मारने की प्रौद्योगिकी है, जिसमें न मारने का कोई सांस्कृतिक औचित्य है और न कोई सामाजिक पदार्थीय स्थितियां हैं, जिन्हें अपने आपको बनाये रखने या परिवर्तन के लिए प्राणघात करने या इसकी धमकी देने की आवश्यकता है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए आवश्यक अहिंसक विश्लेषण के तर्क में निम्नांकित प्रश्न सम्मिलित हैं : हिंसा को जन्म कौन देता है? अहिंसा किससे उत्पन्न होती है? हिंसा से अहिंसा एवं अहिंसा से हिंसा में बदलाव के क्या कारण हैं? स्थायी सुधारवादी, सुखी और न्यायप्रेमी अहिंसक समाज की, जो कभी भी हिंसा पर उतारू नहीं होगा, शर्तें क्या-क्या हैं?

इसके क्रियान्वयन प्रयासों में इस संस्था को समुदाय के अहिंसक सिद्धान्तों—विश्वसनीयता, सृजनशीलता, रचनात्मकता और साहस की आवश्यकता होगी।

इस संस्था के वैचारिक स्वरूप को कार्य के तीन आधार-स्तम्भों (मूल्य, विज्ञान और नेतृत्व), क्रियान्वयन के तीन तरीकों (शोध, शिक्षा और उपयोग), पांच समस्या-समाधान वचनबद्धताओं (हिंसा की समाप्ति, आर्थिक न्याय, मानवाधिकार, पर्यावरणीय शक्ति, सार्वभौम समुदाय की स्थापना) के रूप में संक्षेप में व्यक्त किया जा सकता है। उक्त वचनबद्धता के माध्यम से यह संस्था संयुक्त राष्ट्र संघ के समस्या-समाधान सम्बन्धी प्रयासों में अपना समर्थन एवं योगदान दे सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस संस्था के संगठन का आधार संयुक्त राष्ट्रसंघ विश्वविद्यालय का स्वरूप हो सकता है, अर्थात् इसके कार्य का संचालन सहयोगी व्यक्तियों एवं संस्थाओं का विश्व भर में एक जाल बिछाकर उसके माध्यम से किया जा सकता है। इसमें एक केन्द्रीय कार्यकर्ता समूह होगा, जो संस्था के वैचारिक ढांचे को प्रतिबिम्बित करेगा। किन्तु इस प्रकार का केन्द्र केवल एक नहीं होगा, इसकी उपयोगिता एक बार सिद्ध हो जाने पर इसके अनेक केन्द्र हो जायेंगे और विश्वभर में अनेक स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रों का जाल बिछ जायेगा।

यद्यपि इस संस्था की आधारशिला अहिंसा की प्रेरणा है, फिर भी इसे अहिंसक मानव समाज की रचना में सहयोग देने से परे किसी आध्यात्मिक या लौकिक मताग्रह से मुक्त रहना होगा। इससे अभिप्राय यह है कि इस संस्था को ऐसे लोगों और संस्थाओं की भी सेवा करनी होगी जो हिंसावादी एवं हिंसक प्रवृत्ति के हैं तथा उनकी भी जो उभयवादी—अर्थात् कभी हिंसा के समर्थक और कभी अहिंसा के समर्थक, हैं। संस्थागत मान्यता और मतैक्य का न्यूनतम रूप यह होना चाहिए कि हिंसा, अहिंसा और इन दोनों के पारस्परिक परिवर्तन के बारे में कोई भी दृष्टिकोण सामने आये, संस्था का निरन्तर लक्ष्य एक ही रहेगा कि मानव जीवन से हिंसा का लोप हो। इसका अर्थ यह हुआ कि संस्था को ऐसे अहिंसक समाज की रचना में पूरा-पूरा सहयोग देना होगा और सार्वभौम अहिंसक जीवन के लक्ष्य के माध्यम या साधन भी अहिंसक ही होंगे।

संगठन और समर्थन सुविधायें

ऐसी कल्पना है कि इस संस्था की एक सार्वभौम परामर्शदात्री समिति होगी, जो इस संस्था के वैचारिक आन्तरिक स्वरूप एवं कार्यक्षेत्र को दुनिया के समक्ष प्रतिबिम्बित करेगी। इसकी एक कार्यक्रम समन्वयक समिति होगी, जो मानव मूल्यों, विज्ञान और उपक्रम में निष्णात होगी, इसके अपने परियोजना समन्वयक होंगे, जिनकी सारे विश्व में आवश्यकता होगी। इसका अपना केन्द्रीय प्रशासक होगा, एक वित्तीय निदेशक एवं एक सूचना विशेषज्ञ होगा और सहयोगी व्यक्तियों और संस्थाओं का एक विश्व-व्यापी समुदाय होगा।

तुरन्त समर्थन के लिए निम्नांकित आवश्यकतायें होंगी : (1) अहिंसा के ज्ञान के लिए शोध, शिक्षा, आन्दोलन, नेतृत्व और विश्वभर में समस्या-समाधान के लिए किये गये प्रयत्नों की सूची (१) एक समस्यापत्र जो सूची के परिणामों का प्रचार और प्रसार करेगा। एक दूरगामी दृष्टि रखते हुए इस संस्था को एक पत्रिका, एक वार्षिक समीक्षा और ऐसा ही कोई अन्य प्रकाशन निकालना चाहिए जो समय-समय पर सेवा के विभिन्न लक्ष्यों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्धारित करता रहे और प्रोजेक्ट रिपोर्टों को प्रकाशित करता रहे।

एक आशु सेवा इस संस्था द्वारा यह की जानी चाहिए कि यह प्रमुख समर्पित अहिंसा कार्यकर्त्ताओं के विचारों की अभिव्यक्ति, उनकी यात्रा, विश्राम और उनसे परामर्श का बन्दोबस्त करती रहे। यह सेवा दूसरे क्षेत्रों, जैसे—सरकारी उपक्रमों, व्यापार, विश्वविद्यालयों और सेना में भी की जाए तो उसके अनेक लाभ होंगे। इसी से सम्बद्ध कार्यक्रम यह हो सकता है कि समय-समय पर सम्मेलनों का आयोजन किया जाये ताकि क्षेत्र में काम करने वाले शिक्षकों और शोध कार्यकर्त्ताओं को एक सार्वभौम अहिंसावादी सेवा समुदाय का गठन करने में सहायता मिल सके।

विकास प्रक्रिया

इस संस्था को बड़ी विनम्रता के साथ, परन्तु निरन्तर इस प्रक्रिया से आगे बढ़ना चाहिए कि जागरूक प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति इस विश्व को हिंसा से अहिंसा में बदलने के लिए संस्थागत क्षमताओं को अर्जित कर सके। इस ओर प्रथम प्रयास या सोपान यह हो कि रचनात्मक संस्थाओं के निर्माताओं और अहिंसावादी सेवा भावी नेताओं की एक छोटी मीटिंग आयोजित की जानी चाहिए, ताकि वे इस निबन्ध में वर्णित संस्थागत विकास के प्रस्तावों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकें। यदि इसमें सफलता मिले तो अहिंसावादी निःस्वार्थी नेताओं, शिक्षकों और शोधकर्त्ताओं के बीच विश्व-स्तर का सम्मेलन आयोजित किया जाना चाहिए, ताकि समस्या-समाधान के सार्वभौम अहिंसक संसाधनों को प्रकाश में लाया जा सके।

तत्पश्चात् एक ऐसी भी योजना और उसके समर्थक तैयार किये जाने चाहिए कि इस संस्था का आगे आने वाली शताब्दियों में मानव-कल्याण में बहुत बड़ा योगदान हो सके। एक भी मानवोपकारी शान्ति, न्याय और स्वतन्त्रता के क्षेत्रों में किये गये प्रयासों के रेकार्ड पर विशेष एवं अमिट छाप छोड़ सकता है या उनका संघ इस कार्य कर सकता है। दूसरी ओर समस्त पृथ्वी के लाखों नागरिकों से भी इस दिशा में छोटे-छोटे परन्तु महत्त्वपूर्ण योगदान मिल सकते हैं। इस प्रकार के योगदान के स्रोत अधिक हों या कम, सार्वजनिक हों या निजी, बड़े हों या छोटे, इस संस्था को सभी मनुष्यों की आवश्यकताओं की सार्वभौम अहिंसा परिवर्तन के ज्ञान के माध्यम से पूर्ति करने में समर्पित हो जाना चाहिए।

अहिंसक भविष्य की ओर

वर्तमान हिंसावादी मान्यताओं और संस्थाओं को अहिंसावादी बनाने में बड़े सशक्त प्रयासों की आवश्यकता है। किन्तु इस ओर हमारे प्रयास ऐसे होने चाहिए कि इस परिवर्तन से सारा विश्व लाभान्वित हो सके। यदि अन्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देश युद्धातुर हों तो हम शान्ति से नहीं बैठ सकते। हम आर्थिक न्याय का लाभ तब तक नहीं उठा सकते, जबकि दूसरे शोषण करने में लगे हुए हों। हम सृजनात्मक रूप से मुक्त नहीं हो सकते यदि दूसरे दमनकारी हैं। हम प्रकृति के साथ एकरूप होकर तब टिकें नहीं रह सकते या जीवित ही नहीं रह सकते, जब तक कि दूसरे लोग इस एकरूपता को नष्ट करने में लगे हुए हैं। यदि दूसरे लोग हिंसात्मक तरीके से तोड़-फोड़ में लगे रहेंगें तो हम शान्तिपूर्ण सहयोग का जीवन नहीं बिता सकते।

अहिंसा के अध्ययन के लिए स्थापित एक सार्वभौम संस्था विश्व की समस्त समस्याओं का हल नहीं कर सकती, किन्तु इनकी जानकारी प्राप्त करने तथा इनको हल करने का ज्ञान प्राप्त करने में यह अवश्य हमारी सहायता कर सकती है। यह विश्व में ऐसे प्रत्युत्तरात्मक संसाधनों को जन्म दे सकती है, जो अहिंसावादी आध्यात्मिक मूल्य और अहिंसावादी वैज्ञानिक निष्कर्ष संयुक्त रूप से कार्य करते हुए शोध, शिक्षा और कार्यों में नेतृत्व की पहल-शक्ति उत्पन्न करते हैं। यह आज मानवता के कल्याण एवं अस्तित्व को खतरा उत्पन्न करने वाली भारी समस्या का समाधान कर सकती है। यह इस बात के लिए, कि अहिंसक विकल्प भी सम्भव है, हमारे विश्व-स्तर के नेताओं एवं नागरिकों में आत्म-विश्वास जागृत कर सकती है। यह संस्था अहिंसावादी मानवीय भविष्य के स्वप्न को साकार करने के लिए अन्तःसाम्प्रदायिक, अन्तःसांस्कृतिक एवं अन्तःसकायी क्षमता एवं प्रतिबद्धता के प्रेरणादायक प्रतीक के रूप में कार्य कर सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसा और अहिंसा

व्यवहार में प्राणी को मारना-सताना हिंसा है और तत्त्व-दृष्टि से राग-द्वेषयुक्त प्रवृत्ति से किया जाने वाला प्राण-वध हिंसा है। आत्मा की शुद्ध या स्वाभाविक स्थिति अहिंसा है।

अहिंसा के वर्गीकृत रूप दो हैं--निषेधक और विधायक। पूर्वी और पश्चिमी धर्म-प्रवर्तकों और विचारकों के विचारों में इस रूप को लेकर द्वैत नहीं दीखता। उनमें प्रायः पूर्ण सामंजस्य है।

अहिंसा प्रत्येक स्थिति में उपादेय है। हिंसा जीवन की कमजोरी है। वह किसी भी स्थिति में स्वीकार्य नहीं।

मुनि के लिए हिंसा सर्वथा—मनसा, वाचा, कर्मणा, कृत, कारित, अनुमति से त्याज्य है। गृहस्थ अर्थ-हिंसा—अनिवार्य या प्रायोजनिक हिंसा से न बच सके तो अनर्थ-हिंसा--जो जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक नहीं है, से अवश्य बचे।

हिंसा से नहीं बच सकना और अहिंसा एक नहीं है। 'अनिवार्य हिंसा करनी चाहिए' और 'अनिवार्य हिंसा हुए बिना नहीं रहती'—ये दो बातें हैं। हिंसा-हिंसा है। उसमें देश, काल और परिस्थिति का अपवाद नहीं हो सकता।

अभाव जितना सरल होता है, भाव उतना ही जटिल। नकार की भाषा में जो एकता दीखती है, वह हकार की भाषा में नहीं दीखती। भावात्मक अहिंसा इस नियम का अपवाद नहीं।

जैन-अहिंसा को साधारणतया निवृत्यात्मक माना जाता है। इसका कारण यही है कि उसमें संयमहीन करुणा यानी राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति को आत्मसाधना की दृष्टि से स्थान नहीं है।

अहिंसा की परिधि में वही सेवा आ सकती है, जो आत्म-साधना से अनुप्राणित है।

शारीरिक सेवा और आध्यात्मिक सेवा के बीच एक भेद-रेखा न हो तो फिर मोह और माध्यस्थ्य, भौतिक तुष्टि और आत्मिक शान्ति में कोई अन्तर नहीं हो सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसा की जड़

मूल और पत्र ये पेड़ के दो अंग हैं। इनके आधार पर हमारी मानसिक वृत्तियों को समझने का प्रयत्न किया गया। जड़ वह होती है जहां से सारा विकास होता है। पत्ता वृक्ष का एक विकास है। वह स्थायी तत्त्व नहीं है। पत्ता आता है और चला जाता है। वसंत आता है, पत्ते आ जाते हैं। पतझड़ आता है, पत्ते चले जाते हैं। किन्तु जड़ स्थायी रहती है। जब तक जड़ है, तब तक पेड़ है। जड़ समाप्त तो पेड़ समाप्त, पत्ते समाप्त और सब कुछ समाप्त।

एक है जड़ की बात, और एक है पत्तों की बात। पत्तों की बात बहुत छोटी बात होती है। उसका बहुत ज्यादा मूल्य नहीं होता। जड़ की बात का बहुत बड़ा मूल्य होता है। इसलिए आदमी हर विषय में खोजता है कि इसकी जड़ कहां है? इसका मूल आधार क्या है। जब तक मूल का पता नहीं चलता, आदमी को संतोष नहीं होता। हिंसा के बारे में भी आगे यह प्रश्न पूछा जा रहा है और इस पर काफी चिंतन चल रहा है कि हिंसा का मूल क्या है? हिंसा की जड़ क्या है? उस जड़ को हमें पकड़ना है। हमारे सामने भी प्रश्न है कि हिंसा की जड़ कहां है? इस पर अनेक लोगों ने अनेक विचार प्रकट किए हैं।

विभिन्न मत : विभिन्न दृष्टिकोण

विज्ञान की एक शाखा है आनुवंशिकी विज्ञान। आनुवंशिक वैज्ञानिक बतलाते हैं—हमारे सारे व्यक्तित्व का निर्माण जीन के द्वारा होता है। वे हमारे संस्कार-सूत्र हैं और उनके द्वारा सारा निर्धारण होता है। हिंसा की जड़ है—जीन। जीन आनुवंशिक है। वह माता-पिता के द्वारा प्राप्त होने वाला है। इसलिए उसमें हमारा कोई वश नहीं। अनुवंश से प्राप्त, विरासत में प्राप्त संस्कार है। इसलिए मनुष्य जाति को हिंसा को भोगना है और हिंसा के परिणामों को भोगना है। उसे छोड़ने का कोई उपाय नहीं है। यह मत है आनुवंशिकी वैज्ञानिकों का।

जीव वैज्ञानिक इससे सहमत नहीं है। वे हिंसा की जड़ कहीं दूसरी जगह खोजते हैं। मनोवैज्ञानिक भी इससे सहमत नहीं हैं। रासायनिक वैज्ञानिकों का और मनोवैज्ञानिकों का मत है कि हिंसा की जड़ मौलिक मनोवृत्ति है। मनोविज्ञान में मौलिक वृत्तियों के अनेक वर्गीकरण हैं। उनमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युद्ध को स्वाभाविक मनोवृत्ति माना गया है। हिंसा, संघर्ष और युद्ध मनुष्य की सहज वृत्ति है, मौलिक मनोवृत्ति है। उनके अनुसार हिंसा की जड़ है मौलिक मनोवृत्ति।

परिवेश वैज्ञानिक इससे सहमत नहीं हैं। वे मानते हैं कि हिंसा की जड़ है वातावरण, परिवेश। जिस प्रकार का वातावरण होता है, आदमी वैसा ही बनता है। हमारे वातावरण में हिंसा के तत्त्व विद्यमान् हैं। ऐसी परिस्थिति मिलती है कि एक बच्चा प्रारम्भ से ही अपराध में चला जाता है, हिंसा करने लग जाता है। सारे समाज का वातावरण और परिवेश ही ऐसा है, जहां हिंसा सीखने को मिलती है। हिंसा की मूल जड़ है परिवेश।

दार्शनिकों ने इन सबसे हटकर कहा— हिंसा की जड़ है कर्म। आदमी का जैसा कर्म-संस्कार होता है, वह वैसा ही बन जाता है।

विमर्श समस्या का

नाना प्रकार के मत हैं। जो जिस विषय का वैज्ञानिक है, जिस विषय का तार्किक है, दार्शनिक है, उस प्रकार का मत है। नाना मतों से भरा हुआ है यह हमारा संसार। कोई एक मार्ग नहीं है। अलग-अलग रास्ते हैं। इन सब मतों पर विचार करें तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि ये सारे एकांगी दृष्टिकोण हैं। सर्वांगीण किसी को नहीं कहा जा सकता। असत्य भी नहीं कहा जा सकता। जीन भी एक कारण बनता है। परिवेश भी एक कारण बनता है। मौलिक मनोवृत्ति भी एक कारण बनती है। कर्म भी एक कारण बनता है। ये अनेक घटक हैं जो मिलकर घटना का निर्माण करते हैं। एक घटना के लिए कोई भी एक सर्वथा उत्तरदायी नहीं है। सबका योग मिलता है तो इस प्रकार की घटना घटित होती है।

हमें सर्वांगीण दृष्टि से विचार करना है। हिंसा की जड़ जीन में भी है, परिवेश में भी है, मौलिक मनोवृत्ति में भी है। ये सब यदि एक-एक हैं तो किसी में भी नहीं हैं और सब मिल जाते हैं तो सब में है। पौधे के उगने में बीज एक कारण है, किंतु कोरा बीज है और ऊर्वरा भूमि नहीं है और भूमि ऊर्वरा है बीज भी है, पर पानी नहीं है तो पौधा नहीं उगेगा। पानी भी है, पर न धूप है और न हवा है, तो पौधा नहीं उगेगा। सारी सामग्री चाहिए। एक से कोई काम नहीं बनता। घटकों का समवाय होता है। अनेक मिलते हैं तब एक कार्य निष्पन्न होता है। हिंसा एक घटना है और हिंसा एक कार्य है। वह तब कार्य बनता है जब अनेक घटक मिल जाते हैं।

उत्तरदायी कौन ?

हम और थोड़ा चिंतन करें। अगर हिंसा की जड़ जीन में मान लें तो फिर ध्यान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। फिर शांति के प्रयत्नों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई आवश्यकता नहीं है। साधना की कोई आवश्यकता नहीं है। माना जाता है कि जो जीनगत है, आनुवंशिक है, उसे बदला नहीं जाता। हिंसा हमारे जीन में है, उसे बदला नहीं जा सकता। फिर क्या जरूरत है ध्यान करने की? क्या जरूरत है तपस्या करने की? क्या जरूरत है शांति के प्रयत्नों की? कोई जरूरत नहीं है। अगर ऐसा मान लें तो फिर हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहना है और यही सोचना है कि ऐसा होना है और हमें ऐसे भोगना है। हमारे पास इसका कोई उपचार नहीं है।

यदि हिंसा की जड़ मौलिक मनोवृत्ति है तो भी यही कठिनाई है। मनोवृत्ति को बदलना मनोविज्ञान के क्षेत्र में असंभव जैसा है। जैसे जीन पर हमारा कोई वश नहीं है, मौलिक मनोवृत्ति पर भी हमारा कोई वश नहीं है। अगर हम मौलिक मनोवृत्ति को जड़ मान लें तो कोई प्रयत्न करने की जरूरत नहीं है। सिर्फ अपने भाग्य को कोसते रहें और नियति की ओर झांकते रहें। अगर मात्र परिवेश ही हिंसा का कारण है तो बहुत बार ऐसा होता है कि परिवेश बदल देने पर भी आदमी की वृत्ति बदलती नहीं है। हिंसा की बात बदलती नहीं है। यदि हिंसा का कर्म से संबंध है तो वहां भी यह समस्या आ सकती है कि हम ऐसा क्यों करें? कर्म तो बदला नहीं जा सकता। यह माना जाता है कि जैसा भाग्य में लिखा है, आदमी को भोगना है। जैसा कर्म किया है आदमी को भोगना है, किए हुए कर्म को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता। समस्या है और निराशावाद है। हम निराश होकर बैठ जाएं, कुछ भी करने की जरूरत नहीं है।

आशा की एक किरण

कर्मवाद का एक सिद्धांत है कि कर्म भुगतना पड़ता है, पर साथ ही साथ यह भी सिद्धांत है कि कर्म को बदला भी जा सकता है। यही आशा की एक किरण हमारे सामने आयी है। जरूरी नहीं है कि जो किया है उसे वैसा ही भुगतना पड़ेगा। उसे बदला जा सकता है, यह एक दार्शनिक सिद्धांत है। इसके संदर्भ में क्या हम लौटकर नहीं देख सकते? जीन को भी बदला जा सकता है। मौलिक मनोवृत्ति को भी बदला जा सकता है। परिवेश को भी बदला जा सकता है। यह परिवर्तन की बात हमारे सामने आती है। परिवर्तन का सूत्र हमारे हाथ लगता है तो एक नई आशा फिर जाग जाती है कि हम बदल सकते हैं और हिंसा को बदला जा सकता है।

परिवर्तन का सूत्र : अहिंसा का विकास

बदलने का सूत्र है—अहिंसा का विकास। हमारे भीतर हिंसा और अहिंसा—दोनों तत्त्व विद्यमान हैं। कोरी हिंसा की जड़ ही हमारे भीतर विद्यमान नहीं है। अहिंसा की जड़ भी हमारे भीतर विद्यमान है। दोनों हमारे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भीतर हैं हिंसा और अहिंसा। हमारी जो मस्तिष्कीय प्रणाली है, उसमें दो प्रणालियां हैं। एक प्रणाली है कि गुस्सा करो, क्रोध करो, क्योंकि स्थिति से निपटना है। दूसरी प्रणाली यह भी है कि अभी मत करो, थोड़ा रुको। हमें रोकती भी है। क्रोध आने की प्रणाली हमारे मास्तष्क में है तो क्रोध पर नियंत्रण पाने की प्रणाली भी हमारे मस्तिष्क में है। एक प्रणाली कहती है, लड़ो, झगड़ो, गुस्सा करो तो दूसरी कहती है कि अभी मत करो, जरा रुको, देखो, कुछ ठहरो। एक उकसाती है तो दूसरी रोकती है। दोनों प्रणालियां हमारे भीतर विद्यमान हैं। युद्ध और शांति, हिंसा और अहिंसा—दोनों हमारे भीतर विद्यमान हैं। केवल हिंसा की जड़ ही हमारे भीतर विद्यमान नहीं है, अहिंसा की जड़ भी हमारे भीतर है। स्वर्ग और नरक दोनों —हमारे भीतर हैं।

स्वर्ग : नरक

चीन का एक दार्शनिक था नानूसीजी। उनके पास एक सेनापति आया। बहुत नाम सुना था दार्शनिक का। प्रसिद्ध संत था। आकर बोला, मेरे प्रश्न का उत्तर दें? क्या प्रश्न है तुम्हारा? उसने कहा, स्वर्ग क्या है और नरक क्या है? सेनापति था, योद्धा था। योद्धा की बोली अलग प्रकार की होती है और भावना भी अलग प्रकार की होती है। बड़ी तेज भाषा में कहा, जल्दी मेरे प्रश्न का उत्तर दें। संत ने सोचा—बड़ा अजीब आदमी है। आया है जिज्ञासा को लेकर और बोल रहा है लड़ने के मूड में। बड़ा विचित्र आदमी है। संत भी बड़े विचित्र थे। नानूसीजी ने कहा, क्या तुम सेनापति हो। उसने कहा, तुम्हें दीख नहीं रहा है? संत ने कहा, दीख रहा है। तुम सेनापति हो, पर तुम्हारी सूरत तो है भिखारी जैसी। इतना सुनते ही उबल पड़ा सेनापति। वह बोला—दीखता नहीं, तलवार है मेरे हाथ में। संत बोले—अच्छा, तलवार भी रखते हो? पर इसके धार है या नहीं है? उसने तलवार म्यान से बाहर निकाली। संत बोले, धार तो है। क्या तुम मेरा सिर काट सकते हो? वह और अधिक गुस्से में उबल पड़ा। इतना उबल पड़ा कि आपा खो बैठा। संत बोले, सेनापति! तुम जानना चाहते थे कि स्वर्ग क्या है और नरक क्या है? यह है नरक। यह है तुम्हारे एक प्रश्न का उत्तर। इतना सुनते ही सेनापति शांत हो गया। सारा गुस्सा समाप्त हो गया। वह झुका और संत के पैरों में गिर पड़ा।

संत ने उसे उठाते हुए कहा—सेनापति! यह है स्वर्ग। यह है तुम्हारे दूसरे प्रश्न का उत्तर। यह स्वर्ग और नरक कहीं बाहर नहीं है, हमारे भीतर है।

ध्यान : अहिंसा को जगाने का प्रयोग

हिंसा और अहिंसा—दोनों मनुष्य के भीतर हैं। हिंसा की जड़ भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारे भीतर विद्यमान है और अहिंसा की जड़ भी हमारे भीतर विद्यमान है। किसको पकड़ना है और किसे विकसित करना है, यह सोचना है। इस स्थिति में वातावरण पर ध्यान देना बहुत जरूरी है। यह एक बिन्दु है जहां परिवेश का मूल्यांकन करना है, वातावरण का मूल्यांकन करना है। शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष—दोनों हमारे भीतर विद्यमान हैं। प्रकाश और अन्धकार—दोनों हमारे भीतर विद्यमान हैं। दोनों का अस्तित्व है, पर किसको जगाना है और किसको सुलाना है। प्रश्न है जगाने और सुलाने का।

ध्यान का प्रयोग इसलिए है कि हम अहिंसा को जगा सकें और हिंसा को सुला सकें। एक को जगाना और एक को सुलाना। ध्यान का अर्थ है जागरूकता, जगाना। हर आदमी जागरूक है। कौन आदमी जागरूक नहीं है? यदि पैसा कमाने का प्रश्न है तो आधी रात में भी आदमी जागरूक है। नींद में भी यदि कोई संवाद दे दे कि पांच लाख रुपयों का मुनाफा हो रहा है तो बिलकुल जागरूक है। नींद में भी सुन लेता है। अगर स्वप्न आए तो भी जागरूक है।

हिंसा का मूल-सूत्र

हमें जिस जागरूकता का विकास करना है, वह है अपने प्रति जागरूक होना। पदार्थ के प्रति हम बहुत जागरूक हैं, पर अपने प्रति जागरूक नहीं हैं। ध्यान का प्रयोजन है अपने प्रति जागरूक होना। आदमी अपने प्रति सोया रहता है, दूसरे के प्रति जागता है। इसको थोड़ा बदल देना है। यदि पदार्थ के प्रति जागरूक हो तो थोड़े अपने प्रति भी जागरूक बनो। यह है जागरूकता का विकास। अपने प्रति जब जागरूकता का विकास होता है तो अहिंसा का विकास होता है। अपने प्रति जागने का अर्थ है अहिंसा और अपने प्रति सोने का अर्थ है हिंसा। इसे हम उलट कर कह दें कि पदार्थ के प्रति जागने का अर्थ है हिंसा और पदार्थ के प्रति सोने का अर्थ है अहिंसा। अहिंसा की कोई लम्बी-चौड़ी परिभाषा नहीं है। जब आदमी अपने प्रति जागता है तब ममत्व का धागा टूटता है, अहिंसा का विकास होता है। जब आदमी अपने प्रति सोने लगता है तब ममत्व का धागा फैलता है, हिंसा बढ़ जाती है। हिंसा का बहुत बड़ा सूत्र है—ममत्व।

वातावरण सुधारें

हमने चार प्रमुख वादों का विश्लेषण किया—जीनवाद, मौलिकवृत्ति-वाद, परिवेशवाद और कर्मवाद। इन चारों के समन्वय और समवाय के बाद जो निष्कर्ष हमारे सामने आया वह यह है कि हमें सबसे पहले ध्यान परिवेश पर ही देना है, क्योंकि वह सबसे पहले हमारे सामने आता है। जो सबसे पहले हमारे सामने आता है उस पर पहले ध्यान देना होता है। हम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिवेश को कैसे अच्छा बनाएं, वातावरण को कैसे अच्छा बनाएं, परिस्थिति को कैसे अच्छा बनाएं, इस बात पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है।

एक बच्चा टी. वी. देखने बैठा, सिनेमा देखने बैठा, समाचार पत्र पढ़ने बैठा और वे सारी घटनाएं जो हिंसा को उत्तेजना देने वाली हैं, चोरी, लूटखसोट, मारकाट, अपराध आदि को वह देखता है तो क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि उससे अहिंसा का विकास होगा ? कभी संभव नहीं लगता। वह बच्चा निश्चित ही हिंसोन्मुखी बन जाता है। उसके कच्चे दिमाग पर निश्चित ही इतना प्रभाव पड़ता है कि वह जाने-अनजाने हिंसा की ओर दौड़ने लग जाता है। आज एक प्रश्न है कि समाज में इतने अपराध क्यों हैं ? शायद इस प्रश्न पर गंभीरता से चिंतन नहीं किया गया, इसका समाधान गंभीरता से नहीं खोजा गया कि अपराध क्यों बढ़ रहे हैं ? हिंसा क्यों बढ़ रही है ? आतंक क्यों बढ़ रहा है ? अगर कारण खोजा जाए तो बहुत साफ है कि मनुष्य को जितनी हिंसा की घटनाएं, चर्चाएं और वार्ताएं सुनने को मिलती हैं उसकी तुलना में अहिंसा का एक अंश भी देखने-सुनने को नहीं मिलता।

सारा वातावरण हिंसा का है। प्रश्न उठता है कि आज प्रतिष्ठा किसको मिल रही है ? समाचार पत्रों में मुख्यतया किसके समाचार छप रहे हैं सुर्खियों में ? सारे समाचार पत्र हिंसा, बलात्कार, लूटखसोट के समाचारों से भरे पड़े हैं। व्यक्ति देखता है कि हजार प्रयत्न करने पर भी समाचार पत्र में कभी नाम नहीं आता है और चोरी-डकैती की, सारे समाचार पत्रों में उसी की तूती बजने लग जाती है। किसका मन नहीं ललचाता ? यह तो बहुत अच्छा तरीका है प्रसिद्ध होने का। एक पूरा वातावरण जो मिल रहा है, परिवेश जो मिल रहा है, वह अपराध को बढ़ाने वाला है, घटाने वाला बिलकुल नहीं लगता। क्या आवश्यकता है कि बुरी बातों को और बुरी घटनाओं को संक्रामक बनाया जाए ? हर बात का प्रसारण जरूरी है क्या ? प्राचीन काल में तो एक नीति का सूत्र था—बुरी बात को फैलाना नहीं चाहिए। एक आदमी दूसरे की बुराई करता है तो दूसरा कहता है—भाई ! इससे क्या लाभ होगा ? इसे यहीं रहने दो, आगे मत कहो। आज तो ऐसा लगता है कि हमारे संवाददाताओं को, समाचार पत्रों के प्रतिनिधियों को कोई ऐसी घटना मिलती है तो उसे जल्दी प्रकाशित कर देना चाहते हैं। यदि कल पत्र निकलने वाला है तो उसके लिए सांध्य-संस्करण और निकाल देंगे। क्या इस परिस्थिति और वातावरण में हम कल्पना करें कि हिंसा नहीं बढ़ेगी और अपराध नहीं बढ़ेंगे ? इसलिए हमें सबसे पहले ध्यान देना है अपने परिवेश पर, अपने वातावरण पर। हमने अपने चारों ओर किस प्रकार के वातावरण का निर्माण कर रखा है ? वह जब तक नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बदलेगा, हिंसा को उत्तेजना देने वाली जो घटनाएं और निमित्त हैं, उभरेंगे और हिंसा उभरेगी। मैं नहीं मानता कि परिवेश बदलने से सब कुछ बदल जाएगा। जड़ की बात पर भी हमें जाना होगा, मूल तक जाना होगा। बाधक तत्त्वों का भी विचार करना होगा कि अहिंसा में बाधक तत्त्व कौन से हैं ? साधक और बाधक तत्त्वों का विमर्श करना होगा। एक तत्त्व है उसको सिद्ध करने वाला और एक है उसमें बाधा डालने वाला। आज हिंसा के साधक तत्त्व ज्यादा हैं। काम, क्रोध, लोभ, भय, सन्देह—ये सब हिंसा के साधक तत्त्व हैं। हिंसा का एकमात्र बाधक तत्त्व है अध्यात्म का ज्ञान, आत्मानुभूति, समानुभूति। उस पर हमारा ध्यान कम जाता है। साधक तत्त्व चारों ओर बिखरे पड़े हैं। अहिंसा के बाधक तत्त्व तो बहुत हैं। ये बाधा डालते हैं। अहिंसा का विकास होने में कठिनाई होती है।

अहिंसा के बाधक तत्त्व

एक घटना के द्वारा इस बात का विश्लेषण करें। एक संन्यासी ने प्रसन्न होकर एक व्यक्ति को पारसमणि दे दी। पारसमणि वह होती है जो लोहे को सोना बना देती है। संन्यासी ने कहा—छह महीने की अवधि है, जितना सोना बनाना चाहो, बना लेना। मैं ठीक छह माह के बाद आऊंगा और अपनी पारसमणि को ले जाऊंगा। एक अवसर, जिसे स्वर्ण अवसर कहा जाता है, वह सामने था। उस व्यक्ति ने सोचा, अभी तो बहुत समय है। महीने, दो महीने तो ध्यान ही नहीं दिया। फिर ध्यान दिया पर आलस्यवश छह माह निकाल दिए। संन्यासी आ गया, पूछा, कितना सोना बनाया ? उसने कहा, कुछ भी नहीं बनाया। संन्यासी ने अपनी पारसमणि ले ली और कहा कि मैं अब अवकाश नहीं दूंगा। अब तुम्हारे पास कोई लोहा हो तो लाओ मैं सोना बना दूंगा। उसने खोजा, गरीब आदमी था, पास में लोहा था ही नहीं। एक सूई पड़ी थी, लाया, पारसमणि से उसे छुआया और वह सोने की हो गई।

सोना बनाने का आदमी के पास साधन था, पर बाधक तत्त्व कितने थे ? पहला बाधक तत्त्व था आलस्य, जिसके कारण सोना नहीं बना सका। दूसरा बाधक तत्त्व था लोहा जो मिल नहीं रहा था और तीसरा बाधक तत्त्व था अज्ञान या मूर्च्छा। अज्ञान और मूर्च्छा ने उसे सही निर्णय नहीं लेने दिया। तीन बाधक तत्त्व थे।

जरूरी है समग्र बदलाव

अहिंसा के विकास में भी बाधक तत्त्व काम कर रहे हैं। हम जानते हैं कि अहिंसा एक पारसमणि है जिसके द्वारा लोहे को सोना बनाया जा सकता है। इसके द्वारा समाज में शांति की और अमन-चैन की स्थापना की जा सकती है। जो सोने के द्वारा नहीं की जा सकती, उस शांति की स्थापना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा के द्वारा की जा सकती है। इस सचाई को हम जानते हैं। हमारे सामने पारसमणि है। पर बाधक तत्त्व इतना काम कर रहे हैं कि उस पारसमणि को जानते हुए भी सोना नहीं बना रहे हैं। सारे बाधक तत्त्व वहां काम कर रहे हैं। उनका काम बराबर चल रहा है। कभी कोई प्रश्न सामने आ जाता है, तो कभी कोई अन्य प्रश्न सामने आ जाता है।

अहिंसा की बात करें, हिंसा न करें तो हिंसा के बिना व्यक्ति का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। अहिंसा के विकास में एक अवरोध आ गया। कभी प्रतिपक्ष का प्रश्न सामने आ जाता है कि सामने शत्रु है और अहिंसा की बात की तो क्या होगा ? बहाना सामने आ जाता है। हिन्दुस्तान के सामने पाकिस्तान एक बहाना बन जाता है कि हिन्दुस्तान एकजुट नहीं रहा तो पाकिस्तान आक्रमण कर देगा। पाकिस्तान के सामने हिन्दुस्तान एक बहाना बन जाता है कि पाकिस्तान एकजुट नहीं रहा तो हिन्दुस्तान आक्रमण कर देगा। ये सारे बहाने और सारे बाधक तत्त्व सामने आ जाते हैं। हमें फिर इस प्रश्न पर विचार करना है कि परिवेश को बदलना है और परिवेश के साथ-साथ इन तत्त्वों को भी बदलना है। रुकना नहीं है। मौलिक मनोवृत्ति को भी बदलना है। जीन को भी बदलना है और कर्म को भी बदलना है। यद्यपि आनुवंशिकी वैज्ञानिक बदलने की बात को नहीं मानते। वे कहते हैं—जीन को नहीं बदला जा सकता। मनोवैज्ञानिक भी मौलिक मनोवृत्ति को बदलने की बात को नहीं मानते। कभी मानते हैं, तो बड़ी मुश्किल से मानते हैं। किंतु कर्मवाद में यह बात मानी गई कि कर्म को बदला जा सकता है। सब कर्मवादी इस बात को नहीं मानते कि कर्म को बदला जा सकता है। पर कुछ दार्शनिकों ने इस पर गंभीरता से विचार किया कि कर्म को बदला जा सकता है। न बदला जा सके तो फिर साधना और तपस्या सारे बेकार हो जाते हैं, कोई अर्थ नहीं होता। हमारे सामने एक सूत्र आ गया बदलने का, परिवर्तन का। हमें परिवर्तन करना है। जड़ को भी बदलना है और वातावरण को भी बदलना है, परिवेश को भी बदलना है। दोनों को बदलना है। पत्तों को भी बदलना है और मूल को भी बदलना है। हमें बदलना है। वैसा ही नहीं रहना है।

कुम्हार जा रहा था। साथ में बहुत गधे थे। एक कोई मनचला व्यक्ति सामने मिला। बहुत सारे मनचले होते हैं, बहुत सारे मजाकी लोग होते हैं जिन्हें मजाक करने में बड़ा आनंद आता है। उसने कहा, गधे के पिता को नमस्कार। कुम्हार भी बड़ा चालाक और होशियार था। बोला, हजार वर्ष जीओ मेरे बेटे।

अब गधा बने नहीं रहना है। बदलना है, परिवर्तन ला देना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संवेदना का सूत्र

बदलने की परिभाषा क्या है ? परिवर्तन की प्रक्रिया क्या है ? हिंसा के संस्कार को कैसे बदला जा सकता है ? हिंसा की जड़ पर कैसे प्रहार किया जा सकता है और उसे कैसे बदला जा सकता है ? इस चर्चा में, इस प्रश्न के चिंतन में, सबसे ज्यादा और महत्त्वपूर्ण उपाय है ध्यान । ध्यान के द्वारा हिंसा की जड़ को काटा जा सकता है । धर्म में हिंसा की जड़ को काटने वाले जितने तत्त्व हैं उनमें शिरोमणि है ध्यान । श्वास भी है, स्वाध्याय भी है । अनेक उपाय हैं जो हिंसा की जड़ पर प्रहार करते हैं । पर उन सबसे ज्यादा प्रहारक क्षमता वाला साधन है ध्यान । एक उपमा के द्वारा इस बात को समझाया गया —एक आदमी दो दिन की तपस्या करता है और एक आदमी लगभग ढाई मिनट ध्यान करता है । वह ढाई मिनट का ध्यान दो दिन की तपस्या को पीछे छोड़ देगा । कहां दो दिन भूखे रहना और कहां ढाई मिनट ध्यान करना ! यह शायद बहुत छोटी क्षमता बतलाई गई । ध्यान में इतनी अपार क्षमता है, हमारे चित्त की निर्मलता में इतनी ज्यादा क्षमता है कि शायद हजारों-हजारों वर्ष की तपस्या को एक घड़ी का ध्यान पीछे छोड़ देगा । हमें इसका मूल्यांकन करना है कि अहिंसा का विकास करने के लिए, अपने आपको जानने के लिए, प्राणीमात्र की समानता को समझने के लिए, प्राणी मात्र के प्रति अहिंसा के सूत्र का, संवेदना के सूत्र का विकास करने के लिए जो शक्तिशाली साधन है वह है ध्यान । ध्यान के द्वारा हम हिंसा की जड़ को भी अच्छी तरह समझ सकते हैं और अहिंसा की जड़ को भी समझ सकते हैं, हिंसा की जड़ को काट सकते हैं और अहिंसा की जड़ को और अधिक सिंचन दे सकते हैं। इस सारी स्थिति को समझने के बाद जो कुछ किया जा रहा है और जो प्रयत्न चल रहा है, उसका मूल्यांकन अपने आप हो जाएगा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसा और अहिंसा का द्वन्द्व

हिंसा विश्व का सामान्य विकल्प है। केवल मनुष्य ही नहीं, समूचा प्राणी जगत् इस विकल्प को आधार मानकर चलता है। प्राणिमात्र में यह दुर्बलता है कि जहां भी थोड़ी-सी कठिनाई का अनुभव करता है, हिंसा की ओर दृष्टि टिका देता है। कठिनाई के समय में हिंसा की ओर प्रवृत्त व्यक्ति को सहारे का आभास होने लगता है। परिस्थिति में सुधार लाने या उसे बदलने का एक विकल्प हिंसा है, यह माना जाता है, किन्तु यह स्थायी समाधान देने वाला नहीं है। इसीलिए संतुलित मनःस्थिति और शांति की स्थिति में इस विकल्प को स्वीकृति नहीं मिल सकती। आवेगशील प्राणियों को इसके अतिरिक्त दूसरा श्रेष्ठ उपाय नहीं सूझता। किसी भी स्थिति में जहां हिंसा को प्रश्रय मिलता है, वहां अन्य विकल्पों का आधार छूट जाता है। इस स्थिति का प्रभाव विकसित प्राणियों पर अधिक होता है।

विकासशील या शिष्ट मनुष्यों के लिए हिंसा न विकल्प है और न उपाय। मनुष्य ने जैसे-जैसे विकास किया वैसे-वैसे उसे हिंसा की हेयता प्रतीत होती गई। जिन व्यक्तियों को अहिंसा की श्रेष्ठता का अनुभव हो जाता है, अहिंसा की उपादेयता का बोध हो जाता है, वे कभी हिंसा का सहारा ले नहीं सकते।

हिंसा को प्रतिहिंसा से बल मिलता है। अहिंसा के सामने हिंसा का प्रभाव क्षीण हो जाता है और हिंसक व्यक्ति इतना दीन हो जाता है कि वह कुछ समझ ही नहीं पाता। हिंसा, हिंसा के सहारे चलती है। एक व्यक्ति हिंसा का प्रयोग करता है और दूसरा व्यक्ति उसका उत्तर हिंसा से देता है, तब हिंसा चलती है। आगमों का एक सूक्त—'अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं।' शस्त्र—हिंसा में होड़ चलती है, अशस्त्र—अहिंसा में होड़ नहीं होती। हिंसा को अहिंसा का उत्तर मिले तो हिंसा स्वयं परास्त हो जाती है।

हिंसक व्यक्ति अहिंसक को गालियां देता है, पीटता है, मारता है, उस समय अहिंसक ऐसा कुछ भी न कर सके तो हिंसक व्यक्ति बड़ा व्याकुल होता है और उसे अपने कार्य की विफलता का अनुभव होने लगता है। हिंसक व्यक्ति चाहता है कि सामने वाला व्यक्ति भी हिंसा पर उतारू हो जाए। ऐसा नहीं होता है, तब उसका मनोबल टूट जाता है और वह अपना संतुलन खो देता है। अहिंसा का यह व्यापक प्रभाव होता है तभी, जब अहिंसक व्यक्ति अहिंसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के प्रयोग में अपनी पूरी शक्ति लगा दे। अहिंसा का प्रयोग सबसे पहले शक्ति की मांग करता है। शक्ति के अभाव में अहिंसा की ओट लेना बहुत बड़ी कायरता है।

अहिंसात्मक प्रतिकार के लिए व्यक्ति में सबसे पहले असाधारण साहस होना नितांत अपेक्षित है। साधारण साहस हिंसा की आग देखकर कांप उठता है। जहां मन में कंपन होता है वहां स्थिति का समाधान हिंसा में दिखायी पड़ता है। दर्शन का यह मिथ्यात्व व्यक्ति को हिंसा की प्रेरणा देता है। हिंसा और प्रतिहिंसा की यह परम्परा बराबर चलती रहती है। इस परम्परा का अंत करने के लिए व्यक्ति को सहिष्णु बनना जरूरी है। सहिष्णुता के अभाव में मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। मन संतुलित न हो तो अहिंसात्मक प्रतिकार की बात समझ में नहीं आती, इसलिए वैचारिक सहिष्णुता की बहुत अपेक्षा रहती है।

कुछ व्यक्ति विरोधी विचारों को सह सकते हैं, किन्तु उनमें कष्ट-सहिष्णुता नहीं होती। थोड़ी-सी शारीरिक यातना से घबराकर वे अपने लक्ष्य से भटक जाते हैं। यातना की संभावना मात्र से वे विचलित हो जाते हैं अतः हिंसात्मक परिस्थिति के सामने घुटने टेक देते हैं। जो व्यक्ति कष्ट-सहिष्णु होते हैं, वे विषम स्थिति में भी अन्याय और असत्य के सामने झुकने की बात नहीं करते। ऐसे व्यक्ति अहिंसात्मक प्रतिकार में अधिक सफल होते हैं। उनकी कष्ट-सहिष्णुता इतनी बढ़ जाती है कि वे मृत्यु तक का वरण करने के लिए सदा उद्यत रहते हैं। जिन व्यक्तियों को मृत्यु का भय नहीं होता है, वे सत्य की सुरक्षा के लिए सब कुछ कर सकते हैं। प्रतिरोधात्मक अहिंसा का प्रयोग इन्हीं व्यक्तियों द्वारा किया जाता है।

मेरे जीवन में अनेक प्रसंग आए हैं, जहां कुछ लोगों ने मेरे प्रति हिंसा का वातावरण तैयार किया। वे लोग चाहते थे कि मैं अपनी अहिंसात्मक नीति को छोड़कर हिंसा के मैदान में उतर जाऊं पर मेरे अंतःकरण ने कभी भी उनका साथ नहीं दिया और मैंने हर हिंसात्मक प्रहार का प्रतिरोध अहिंसा से किया।

अभी-अभी हम रतनगढ़ से चले। जिस स्थान पर रहने का निर्णय था, वहां कुछ उपद्रवी तत्त्व पहुंच गये। उस स्थान में रहने की अनुमति हमें पहले से ही प्राप्त थी, फिर भी हम नहीं गये, क्योंकि वहां उपद्रवी तत्त्व हिंसा पर उतारू हो गये थे। हम लोग सड़क के किनारे वृक्षों की छाया में बैठ गये और अपने काम में लग गए। उपद्रवकारियों को उपद्रव करने का अवसर ही नहीं मिला। इससे वे हतप्रभ रह गये। उन्हें अपने अपमान का अनुभव हुआ और वे प्रतिशोध की भावना से वहां पहुंच गये, जहां हम ठहरे थे। वहां पहुंचकर उन्होंने नारेबाजी और छिटपुट पथराव किया। हम अपना काम करते रहे। उन लोगों को बड़ी निराशा हुई और हमें एक स्थिति का समाधान मिल गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तोड़-फोड़मूलक विध्वंसक प्रवृत्तियों से समाज को बचाने के लिए हिंसक व्यक्तियों की मांग स्वीकार कर लेनी चाहिए अथवा उनके साथ संघर्ष करते रहना चाहिए ?

व्यक्ति तोड़-फोड़मूलक प्रवृत्तियों का सहारा लेता है अपनी दुर्बलता छिपाने के लिए, पर उससे उसकी दुर्बलता को अभिव्यक्ति मिलती है। कोई भी सक्षम व्यक्तित्व अपनी मांग पूरी कराने के लिए हिंसा को प्रश्रय नहीं दे सकता। अहिंसक व्यक्ति के लिए स्थिति में औचित्य, अनौचित्य का निर्धारण करना बहुत जरूरी है। यदि मांग में औचित्य है तो उसे स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं रहनी चाहिए अन्यथा हिंसा के सामने झुकना सिद्धांत की हत्या करना है। दूरगामी कठिनाइयों की बात सोचकर हिंसा के सामने घुटने टेकना कायरता है। कायरता उतना ही बड़ा पाप है जितना बड़ा हिंसा। कायर व्यक्ति सहन नहीं कर सकता और सहिष्णु कभी कायर नहीं हो सकता। कायरता और सहिष्णुता, ये दो भिन्न दिशाएं हैं। एक व्यक्ति इन दोनों दिशाओं से एक साथ नहीं गुजर सकता। हिंसात्मक स्थितियों से डटकर मुकाबला करने के लिए सहिष्णुता का विकास होना बहुत अपेक्षित है। कायरता का मनोभाव हिंसा के साथ समझौता करता है, अथवा व्यक्ति की वृत्तियों को हिंसा की ओर बढ़ने के लिए उत्तेजित करता है। इसलिए संघर्ष की स्थिति में कायरता का परिचय व्यक्ति की पहली पराजय है।

कभी-कभी औचित्य के आधार पर भी तोड़-फोड़मूलक प्रवृत्तियां होती हैं। मेरी दृष्टि में यह स्वस्थ पद्धति नहीं है। इसे हम विवशता या बाध्यता मानकर छोड़ सकते हैं, किन्तु करणीय नहीं मान सकते। हिंसा और अहिंसा का यह द्वन्द्व शांत हो सकता है, किन्तु यह शांति हिंसा के सामने झुकने से नहीं, उसके साथ संघर्ष करने से प्राप्त होती हैं। संघर्ष के बाद जो शांति मिलती है वह अहिंसा की उपादेयता को सिद्ध करती है। हिंसा के साथ समझौता करने से एक ऐसा अनुभव होता है कि वातावरण शांत हो रहा है किन्तु कुछ समय बाद वह और अधिक उग्र हो जाता है। अतः मैं यह मानकर चलता हूं कि संघर्ष हो या समझौता, उसमें औचित्य का लंघन नहीं होना चाहिए और सैद्धांतिक आधार से निर्मित स्थिति ही संघर्ष-मुक्ति का समाधान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसा का कारण : अभाव और अतिभाव

भगवान् महावीर ने कहा—'अट्ठावि संता अदुवा पमत्ता'—कुछ लोग अभावग्रस्त होकर हिंसा आदि में प्रवृत्त होते हैं, कुछ अतिभाव—प्रमाद से। धर्म दोनों प्रकार के लोगों को आश्वासन और त्राण देने वाला होता है। धर्म का उदय ही इसलिए हुआ है कि वह अभावग्रस्त लोगों को हीनभाव से बचाए और संग्रह और भोग की ओर बढ़ते हुए लोगों को उन्माद और प्रमाद से बचाए, उन्हें मानवीय उदात्त भावनाओं की ओर मोड़ दे।

जहां तक ज्ञात हुआ है, साम्यवादी देशों में भी जहां-जहां सम्पन्नता बढ़ी है, वहां अपराधों की संख्या में वृद्धि हुई है। यही कारण है कि रूस, चेकोस्लाविया आदि साम्यवादी देश यह अनुभव कर रहे हैं कि धर्म के भावनात्मक और निर्माणात्मक पक्ष को समाप्त कर हमने भूल की है।

हत्याओं का निकट सम्बन्ध प्रतिशोध से होता है। लेकिन अमेरिका में बढ़ रही हत्याओं के पीछे मनोरंजन का भाव अधिक काम कर रहा है। आए दिन होने वाली हत्याओं की घटनाएं इस बात का प्रमाण हैं कि उनके पीछे यश-लिप्सा, आत्मख्यापन, कुतूहल और मनोरंजन का भाव अधिक दिखाई देता है। लगता है, अतिभाव और सम्पन्नता के कारण वहां के मानस में मूढ़ता पैदा हो गयी है। इस मूढ़ता से ही उनके दिलों में मानवीय सहृदयता और संवेदनशीलता का अभाव बढ़ता जा रहा है, जिसका परिणाम इन दुर्घटनाओं के सिवा और हो भी क्या सकता है!

धर्म उन्माद और प्रमाद पर अंकुश लाता है और मानव के प्रति सहृदय और संवेदनशील होने की प्रेरणा देता है। अमरीका में यद्यपि धर्म पर कोई प्रतिबन्ध नहीं हैं, किन्तु वहां धर्म का स्वरूप 'चमत्कार' और 'ईसा की शरण में आने मात्र से पाप-मुक्ति' पर ही अधिक आधारित है। यही कारण है कि धर्म के मौलिक मूल्यों की वहां प्रतिष्ठा नहीं हो रही है। कोरियन पर्यटक प्रोफेसर ने जब अहिंसा और अणुव्रत का संदेश सुना तो वह आश्चर्य-मिश्रित दुःख के स्वर में बोला—'काश, हम पश्चिम वालों को यह संदेश सुनाने वाला कोई होता तो हम निरन्तर महायुद्धों में पड़कर बर्बाद नहीं होते!' इससे लगता है कि धर्म के वास्तविक मूल्यों से उनका परिचय नहीं है। इसलिए हिंसा का क्रमशः विस्तार हो रहा है और लोगों को अहिंसा के मूल्यांकन का अवकाश भी नहीं मिल रहा है।

धर्म अपने से अपना अनुशासन देता है। जब स्वयं पर अनुशासन नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता तब बाहर से अंकुश—अनुशासन आता है। समाज में व्यवस्था और कानून का जन्म इसलिए होता है कि वह उच्छृंखल और उन्मत्त न बने। किंतु जनतन्त्र का यह एक दोष भी है, जिसमें व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक स्वतन्त्रता मिल जाती है। सबको अपने विकास के समान अवसर मिलें—यह वांछनीय है। किन्तु सबको उच्छृंखल बनाने के खुले अवसर मिलें, यह कभी भी वांछनीय नहीं माना जा सकता। किसी भी राष्ट्र के नागरिको को यदि बिना कोई रोक-टोक के शस्त्र रखने का अधिकार होता है तो वह हिंसात्मक प्रवृत्तियों को बढ़ाने का सबसे बड़ा प्रोत्साहन होता है। प्रतिकूल परिस्थितियों में आवेश आना सहज है। किन्तु वह प्रवेश भयंकर और अनिष्टकर न बनने देने के लिए आवश्यक होता है कि उसे साधनहीन बना दिया जाए। सभी साधनों के पास रहने पर आवेश की अभिव्यक्ति भयंकर न हो, यह संभव नहीं लगता। इस दृष्टि से मनुष्य को शस्त्र रखने की स्वतन्त्रता कभी नहीं होनी चाहिए।

ये कुछ कारण ऐसे हैं, जिनसे पाशविक शक्तियां बहुत तेजी से उभर रही हैं जिन पर आज गम्भीरता से ध्यान दिया जाना चाहिए।

इस प्रकार की अमानवीय घटनाओं पर अन्य राष्ट्र केवल शाब्दिक संवेदन या खेद तक सीमित रहें, इससे मुझे समस्या का समाधान नहीं दीखता। इन दुर्घटनाओं को तभी रोका जा सकता है, जबकि इसके प्रतिरोध में प्रबल जनमत तैयार हो। सब राष्ट्रों को इस विषय पर भी गम्भीरता से सोचना चाहिए कि इस समय विश्व-व्यवस्था में मानवीय भावनाओं को पुनः प्रतिष्ठित कैसे किया जा सकता है। विरोधी विचार वाले व्यक्ति के प्रति सहिष्णुता, उदारता और सह-अस्तित्व आदि मानवीय गुणों का राजनीति की भूमिका में विधिवत् प्रशिक्षण मिलना चाहिए। इस प्रकार के समग्र वातावरण का दायित्व सभी राष्ट्रों पर समान रूप से आता है।

अच्छाई हर किसी देश की ली जा सकती है, किन्तु आदर्श वही होना चाहिए जो सर्वांगतया हितावह हो। अमरीका की राजनीति में हत्याएं जैसे प्रथा का रूप ले रही हैं। योग्य और उदार व्यक्तियों का जीना संदिग्ध-सा बन गया है। लोगों को लग रहा है कि वहां की नीतियां सड़ गयी हैं और उनमें से दुर्गन्ध उठ रही है। वहां की जीने की पद्धति में बहुत जल्दी ही संशोधन की अपेक्षा है। इसके साथ ही उन व्यक्तियों को अपने चिंतन में परिवर्तन करना होगा, जो अपने निर्माण का आदर्श अमरीकावासियों को मान बैठे हैं। समय रहते यदि ऐसा नहीं हो सका तो मैं सोचता हूं, सारे विश्व के लिए उसका परिणाम भयंकर हो सकता है।

अमरीका ने शिक्षा और विज्ञान के क्षेत्र में जो प्रगति की है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु उसका मानवीय पक्ष दुर्बल बनता जा रहा है, यह बहुत चिन्ताजनक स्थिति है। अन्य राष्ट्रों को चाहिए कि भौतिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकास की दौड़ में वे मानवीय सहृदयता, सहिष्णुता और सह-अस्तित्व की भावना का कभी अवमूल्यन न होने दें। मनुष्य यंत्र के बल पर नहीं, भावना और प्रेम के बल पर जीता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आक्रामक मनोवृत्ति के हेतु

आक्रमण एक मनोवृत्ति है। इसकी उत्पत्ति में अनेक वस्तुएं निमित्त बनती हैं। भय की प्रेरणा से आक्रामक मनोवृत्ति का उद्भव होता है। लोभ, क्रोध, क्षोभ आदि वृत्तियां इसका हेतु बनती हैं। किसी को क्षति पहुंचाने के लिए अथवा अपनी सुरक्षा के लिए व्यक्ति आक्रान्ता बन जाता है। वर्तमान की सुरक्षा के साथ भविष्य की असुरक्षा से बचाव करने के लिए, अपनी सुख-सुविधा को विस्तार देने के लिए, स्वत्व अपहरण की भावना से तथा साम्राज्य-लिप्सा से भी मनुष्य आक्रामक बन जाता है।

स्थानांग सूत्र में आक्रामक मनोभावों का विश्लेषण करते हुए लिखा है — व्यक्ति चार कारणों से प्रसर्पण—विस्तार या फैलाव करता है—

१. अनर्जित सुखों का अर्जन करने के लिए।
२. अर्जित सुखों का संरक्षण करने के लिए।
३. अनर्जित भोगों का अर्जन करने के लिए।
४. अर्जित भोगों का संरक्षण करने के लिए।

अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की सुरक्षा मनुष्य की प्रवृत्ति का मूल है। जो व्यक्ति इस काम में सहायक बनते हैं, उनके साथ उसकी आत्मीयता भी बढ़ जाती है। किन्तु जो व्यक्ति थोड़ी भी बाधा पहुंचाने की सोचते हैं, उनके प्रति शत्रुता का भाव पैदा हो जाता है। शत्रुता और मित्रता की भेद-रेखा चिन्तन और व्यवहार में भेद पैदा करती है। स्वत्व और परत्व की यह मनोवृत्ति ही मनुष्य को आक्रान्ता बनाती है।

कोई देश, वर्ग या व्यक्ति दूसरे देश, वर्ग और व्यक्ति को अन्याय सहने के लिए बाध्य करते हैं। क्या उस अन्याय के प्रतिकार में खड़ा होने वाला व्यक्ति आक्रान्ता कहलाएगा ?

व्रत-स्वीकार की दो सीमाएं हैं—महाव्रत और अणुव्रत। महाव्रत की परिभाषा में सब प्रकार का प्रमाद त्याज्य है। आक्रमण और प्रत्याक्रमण दोनों प्रमाद हैं। अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियों से प्रसक्ति और विपत्ति का अनुभव प्रमाद है। पदार्थ-जगत् में स्वत्व और परत्व की अनुभूति प्रमाद है। प्रमाद-मुक्त व्यक्ति आक्रमण और प्रत्याक्रमण दोनों स्थितियों से दूर रहता है। प्रमाद-मुक्ति के लिए प्रयत्नशील व्यक्ति आक्रमण और प्रत्याक्रमण की भावना को त्याज्य मानकर चलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक अणुव्रती इस सीमा को स्वीकार करने में सक्षम नहीं है। इसलिए वह प्रत्याक्रमण का अपवाद रखता है। 'प्रत्याक्रमण न करना' एक आदर्श है। अणुव्रती व्यक्ति इस आदर्श को यथार्थ मानकर चलता है, किन्तु कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों को वह उस आचार में ला नहीं सकता। इसलिए उसके संकल्प की भाषा यही हो सकती है कि मैं किसी पर आक्रमण नहीं करूंगा और आक्रामकनीति का समर्थन भी नहीं करूंगा।

आक्रमण के अनेक प्रकार हैं। सैनिक आक्रमण स्थूल है अतः वह स्पष्ट है। व्यापारिक, बौद्धिक, वैचारिक और वाचिक आक्रमण भी कम घातक नहीं है। व्यापारिक क्षेत्र में स्वत्व-हरण किया जाता है। यह आज की ज्वलन्त समस्या है। एक देश के व्यक्ति दूसरे देश में व्यापारिक प्रभुत्व जमा लेते हैं। स्थानीय लोगों की सुख-सुविधाओं को क्षति पहुंचाकर व्यवसाय बढ़ाने वाले लोग व्यापारिक क्षेत्र में आक्रान्ता कहलाते हैं। अपनी आक्रामक नीति से वे लोग दूसरों के मनों में वैमनस्य पैदा करते हैं। इस वैमनस्य से प्रान्तीय समस्याएं मुंह खोल देती हैं। बंगाल, असम और तमिलनाडु की जनता में व्यवसाय के क्षेत्र में विद्रोह की आग सुलग रही है। उसके संत्रास को मिटाने का एकमात्र हेतु है—व्यवसाय क्षेत्र से आक्रामक नीति का बहिष्कार। इस नीति का बहिष्कार नहीं होगा तो उन लोगों में प्रत्याकरण की भावना और अधिक तीव्रता से बढ़ती जाएगी।

आक्रमण करना और आक्रामक नीति का समर्थन करना, इन दोनों स्थितियों में कोई अन्तर है क्या ?

आक्रमण दो प्रकार से होता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। कुछ राष्ट्र और वर्ग प्रत्यक्ष आक्रमण से बचते हैं किन्तु वे आक्रामक नीति के समर्थन से लाभ उठाते हैं। उनका यह परोक्ष आक्रमण अधिक भयंकर होता है। अनेक छोटे राष्ट्रों के आक्रमण में बड़े राष्ट्रों का हाथ रहता है। उनका समर्थन और सहयोग न हो तो छोटे राष्ट्र अधिक समय तक लड़ ही नहीं सकते।

प्राचीन समय में सैनिक आक्रमण को अच्छा माना जाता था। अनेक राजाओं के दिग्विजय की घटनाएं इतिहास में सुरक्षित हैं। विजय प्राप्त कर लौटने पर उनकी कीर्ति यत्र-तत्र फैल जाती थी। उनके विरोध में प्रदर्शन करने वाला अथवा एक शब्द बोलने वाला कोई भी व्यक्ति नहीं मिलता था। विजय पाने के लिए शक्ति का पूरा उपयोग होता था। लूटमार जैसे कार्यों से जनता को संत्रस्त किया जाता था। किन्तु जब से राजनयिक व्यक्तियों के विचारों में अहिंसा का विकास होने लगा है, उन्होंने सिद्धान्त-रूप में आक्रमण को बुरा बताया है।

राजनीति में अहिंसा का प्रवेश होने से सार्वभौम प्रभुसत्ता और राष्ट्रीय अखण्डता को सम्मान प्राप्त हुआ है। भारतीय राजनीति में स्वर्गीय प्रधान-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने अहिंसा को स्थान दिया। उन्होंने पंचशील के माध्यम से सब राष्ट्रों के लिए अनाक्रमण की आवश्यकता प्रतिपादित की, जैसे—

१. एक-दूसरे की प्रादेशिक या भौगोलिक अखण्डता और सार्वभौमता का सम्मान।

२. आक्रमण न करना।

३. आर्थिक राजनैतिक अथवा सैद्धान्तिक किन्हीं भी कारणों से एक-दूसरे के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करना।

४. समानता एवं परस्पर लाभ।

५. शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व।

पंचशील में आक्रमण न करने की विचारधारा का प्रवेश राजनीति के क्षेत्र में अहिंसा की बहुत बड़ी सफलता है। यद्यपि वैयक्तिक स्वार्थ-भावना को छोड़कर इस नीति को अपनाना बहुत कठिन है, फिर भी सिद्धान्ततः इसे मान्यता प्राप्त हो चुकी है। आक्रमणकारी प्रवृत्तियों में स्पष्ट रूप से पहल करने वाले राष्ट्र भी यही सिद्ध करते हैं कि हम आक्रान्ता नहीं हैं। अपनी सुरक्षा के लिए हमें प्रत्याक्रमण करना पड़ रहा है। हम तो शान्ति चाहते हैं। युद्ध में जन और धन की जो हानि होती है वह राष्ट्र के विकास में बाधा है। आक्रमण से किसी भी राष्ट्र का हित नहीं सध सकता।

बांडुंग सम्मेलन में इन्हीं तथ्यों पर विस्तार से चर्चा हुई। सम्मेलन में स्वीकृत सिद्धान्तों को उन्तीस राष्ट्रों की सहमति मिली। अभी हाल ही में शिमला शिखर सम्मेलन में भारत और पाकिस्तान में जो समझौता हुआ है उसमें भी आक्रामक नीति का बहिष्कार किया गया है। इस समझौते में भारत को अपने स्वार्थों का बलिदान करना पड़ा है, पर शान्ति-स्थापना के लिए इसके अतिरिक्त कोई मार्ग ही नहीं था। समझौता-वार्ता के कुछ तथ्य ये हैं—

(क) दोनों देश समझौते, अच्छे पड़ोसीपन और स्थायी शान्ति के लिए वायदा करते हैं कि शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व, एक-दूसरे की क्षेत्रीय अखण्डता, प्रभुत्वसम्पन्नता तथा बराबरी व दोनों के लाभ के आधार पर आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने के उसूलों पर काम करेंगे।

(ख) वे एक-दूसरे की राष्ट्रीय एकता, क्षेत्रीयता, राजनीतिक स्वतन्त्रता और समानता का सदैव सम्मान करेंगे।

(ग) दोनों देश संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र के अनुरूप एक-दूसरे की क्षेत्रीय अखण्डता या राजनैतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध शक्ति का प्रदर्शन नहीं करेंगे और न ही ऐसा करने की धमकी देंगे।

इन तथ्यों के आधार पर सिद्ध होता है कि किसी भी क्षेत्र में आक्रामक नीति काम्य नहीं है। सहअस्तित्व की भावना से आक्रान्ता मनोभावों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिवर्तन किया जा सकता है। राष्ट्र-हित की दृष्टि से आक्रमण की नीति और उसका समर्थन—दोनों ही स्थितियां अच्छी नहीं हैं। सह-अस्तित्व, समझौते और सौहार्दमूलक मनोवृत्ति से पारस्परिक तनाव को समाप्त कर शान्तिपूर्वक रहा जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसा मनुष्य का स्वभाव नहीं

हिंसा और युद्ध मानव जाति की सबसे अधिक भयावह और विध्वंसात्मक क्रियायें हैं, और हमारे मतानुसार हमारी यह जिम्मेदारी है कि हम अपने-अपने क्षेत्रों में इस समस्या हेतु जूझ पड़ें। यह मानते हुए कि विज्ञान भी मनुष्य की एक सांस्कृतिक उपज मात्र है, जो न पूर्णतः विकसित है और न सर्वव्यापी है, तथा स्पेनिश यूनेस्को तथा सेवाइल अधिकारियों के योगदान के लिए कृतज्ञता प्रकट करते हुए, विश्व के चारों ओर से आये हुए तथा सम्बद्ध विज्ञानों के हम अधोहस्ताक्षरी विद्वान् एक स्थान पर एकत्रित होकर हिंसा के सम्बन्ध में निम्नांकित बयान जारी करते हैं। इस बयान में हम उन असंख्य जैविकी आविष्कारों को भी चुनौती देते हैं, जिनका उपयोग हममें से अनेक व्यक्तियों ने हिंसा और युद्धों को उचित ठहराने में किया है। चूंकि उपर्युक्त दोषपूर्ण खोजों से वर्तमान में निराशावादिता का वातावरण बना है अतः हमारा विनम्र तर्क है कि उक्त (जैविकी) दोषपूर्ण तथ्यों के बारे में किये गये कथनों को खुले रूप से नकारने से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति वर्ष को विशेष बल मिलेगा।

हिंसा और युद्ध को न्यायोचित सिद्ध करने में वैज्ञानिक आविष्कारों और आंकड़ों का किया गया दुरुपयोग नई बात नहीं है, यह वर्तमान विज्ञान के प्रारम्भिक काल से ही चला आ रहा है। उदाहरणार्थ, विकास के सिद्धांत का उपयोग न केवल युद्ध को अपितु नर-संहार, उपनिवेशवाद और कमजोर व्यक्तियों के दमन को भी उचित सिद्ध करने में किया गया है।

हम (इस सम्बन्ध में) हमारी स्थिति को पांच प्रस्तावों के रूप में स्पष्ट कर देना चाहते हैं। हमें भली प्रकार ज्ञात है कि हिंसा और युद्ध से सम्बद्ध अन्य विचार-बिन्दुओं पर भी अपनी-अपनी विशेष विद्याओं की दृष्टि से सफलतापूर्वक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, किन्तु हम अपने विचार-मंथन को यहां सर्वाधिक महत्त्व के प्रथम चरण तक ही सीमित रखेंगे।

यह कहना वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्णतः गलत और भ्रामक है कि युद्ध करने की प्रवृत्ति हमें हमारे पशु-पूर्वजों से मिली है। यद्यपि विभिन्न पशु-प्रजातियों में पारस्परिक संघर्ष होता चला आया है, सामान्यतौर पर जीवनयापन करने वाली पशु-प्रजातियों की संगठित टुकड़ियों में विनाशकारी अन्तर्युद्धों के बहुत थोड़े उदाहरण हमारे सामने आये हैं, किन्तु उनमें से किसी में भी हथियारों के रूप में निर्मित शस्त्रों का उपयोग नहीं किया गया है। सामान्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप से एक दूसरे को भोजन के रूप में भक्षण करने को अन्तःप्रजातीय हिंसा नहीं कहा जा सकता। संग्राम करना केवल मात्र मानवीय प्रपंच है, जिसका अन्य पशु-प्रजातियों में कोई प्रचलन नहीं है।

यह तथ्य कि युद्ध-कला में समय बीतने के साथ अनेक परिवर्तन आये हैं, इस बात का प्रतीक है कि युद्ध संस्कृति की एक उपज मात्र है। इसका जैविक सम्बन्ध मुख्यतः भाषा के माध्यम से है, जो जन-समुदायों में समन्वय स्थापित करना, युद्ध की तकनीकी और विभिन्न हथियारों के प्रयोग सम्बन्धी जानकारी का सम्प्रेषण आदि कार्यों को करती है। प्राणी-शास्त्र की दृष्टि से युद्ध संभव है, किन्तु अवश्यंभावी नहीं, जिनका प्रमाण हमें समय और अंतरिक्ष पर इसकी प्रकृति और घटना की विभिन्नता में मिलता है। ऐसी भी सांस्कृतियां हैं, जिनमें कई शताब्दियों तक युद्ध नहीं हुए, तो कुछ संस्कृतियां ऐसी हैं जिनमें किन्हीं खास समय में युद्ध बार-बार लड़े गये, तो ऐसा समय भी आया जिसमें युद्ध बिल्कुल लड़े ही नहीं गये।

यह कहना वैज्ञानिक दृष्टि से बिल्कुल गलत है कि युद्ध या अन्य हिंसक व्यवहार मनुष्य की वंशानुगत प्रकृति है। जबकि नाड़ी-तन्त्र की कार्य-प्रणाली में जीन्स सभी स्तरों पर प्रभावी होते हैं, उनमें विकास की वह क्षमता निहित है, जो केवल पर्यावरण और सामाजिक वातावरण के संसर्ग में आकर ही अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट होती है। जबकि, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की प्रवृत्तियां उनके अनुभवों से विभिन्न रूपों में प्रभावित होती रहती हैं तथा उनके व्यक्तित्व के निर्धारक तत्त्व उनके वंशानुगत गुणों और पालन-पोषण की स्थितियों के बीच की अन्तःक्रिया होती हैं। यदि कोई सामान्य विकृति न हो, तो जीन्स मनुष्य की प्रवृत्ति को हिंसात्मक नहीं बनाते, न ही वे इसके विपरीत प्रभाव दिखाते हैं। जीन्स मानव की व्यवहारगत क्षमताओं के निर्धारण में अपनी भूमिका अवश्य निभाते हैं, किन्तु वे इसके परिणामों का बोध नहीं कराते।

यह भी वैज्ञानिक दृष्टि से गलत है कि मानव विकास की प्रक्रिया में हिंसात्मक व्यवहार को अन्य प्रकार के व्यवहारों की तुलना में प्रधानता दी गई है। विभिन्न प्रजातियों के अध्ययन से यह सुस्पष्ट है कि किसी भी प्राणी का उसके समुदाय में स्थान इस बात पर निर्भर करता है कि किस सीमा तक वह अपने वर्ग या समुदाय को उसकी व्यवस्था के अनुरूप सहयोग देने एवं सामाजिक सेवा के कार्य करने में समर्थ है। "प्रभुत्व" में सामाजिक बन्धन एवं सामाजिक सम्बन्ध अन्तर्ग्रस्त है जिसका तात्पर्य केवल उच्च शारीरिक शक्ति का अस्तित्व और प्रयोग मात्र नहीं है; हालांकि इसमें आक्रामक व्यवहार का भी समावेश है। जहां पशुओं में आक्रामक व्यवहार के लिए आनुवंशिक चयन कृत्रिम रूप से स्थापित किया गया, उससे उग्रतम आक्रामक पशुओं की उत्पति में सफलता मिली है। इससे इस बात का पता चलता है कि आक्रमणशीलता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का चयन स्वाभाविक दशाओं में अधिकतम नहीं हुआ। जब प्रयोगस्वरूप उत्पन्न किये गये इस प्रकार के उग्रतम आक्रामक पशु किसी सामाजिक समूह में विद्यमान हैं तो वे या तो सामाजिक संरचना को छिन्न-भिन्न कर देते हैं या उससे बाहर निकाल फेंक दिये जाते हैं। इस प्रकार हिंसा न तो हमारी विकासवादी बपौती में है और न हमारे जीन्स में।

वैज्ञानिक दृष्टि से यह कहना भी गलत है कि मानव-मस्तिष्क हिंसक होता है। यद्यपि तान्त्रिक उपकरण हिंसक क्रियाएं कर सकता है, फिर भी यह आन्तरिक या बाह्य उत्प्रेरकों से स्वतः ही क्रियाशील नहीं हो जाता। उच्च-वर्गीय स्तनधारियों के समान, परन्तु अन्य पशुओं से भिन्न, हमारे नाड़ी-संस्थान की उच्च प्रक्रियाएं इस प्रकार के उत्प्रेरकों का स्राव उनकी क्रियान्विति से पहले ही कर देती है। हमारी क्रियाओं का स्वरूप हमारी परिस्थितियों एवं समाजीकरण द्वारा निर्धारित होता है। हमारे नाड़ीय शरीर-संस्थान में ऐसी कोई बात नहीं है जो हमें हिंसात्मक क्रिया या प्रतिक्रिया करने को बाध्य करती है।

यह भी वैज्ञानिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है कि युद्ध का कारण हमारी उस ओर मूल प्रवृत्ति का होना है या कोई एकल अभिप्रेरणा है। आधुनिक युद्ध-कौशल का आविर्भाव भावनात्मक एवं अभिप्रेरक कारकों के आधिपत्य से संज्ञानात्मक कारकों के आधिपत्य तक एक यात्रा है। आधुनिक युद्ध में वैयक्तिक गुणों—जैसे आज्ञापालन, सुझाव, आदर्शवादिता, सामाजिक-कौशल—जैसे भाषा; तर्कसंगत विचार जैसे लागत अनुमान, नियोजन एवं सूचना-संसाधन आदि के संस्थागत प्रयोग का समावेश है। आधुनिक युद्ध की तकनीक में वास्तविक योद्धाओं के प्रशिक्षण या युद्ध में सहयोग देने हेतु आम व्यक्ति को तैयार करने की प्रक्रिया में हिंसा से सम्बद्ध लक्षणों को बहुत बढ़ा-चढ़ा दिया जाता है। इस अतिरञ्जना के परिणामस्वरूप इन लक्षणों को उस प्रक्रिया का परिणाम मानने के बजाय उसका कारण मान लिया जाता है।

अतएव हमारा निष्कर्ष है कि प्राणीशास्त्र मानवता को युद्ध का दोषी नहीं ठहराता तथा उसे जैविक निराशावाद के दासत्व से मुक्त करवाकर उसमें इतना आत्म-विश्वास भरा जा सकता है कि वह इस अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति वर्ष और आगामी वर्षों में रूपान्तरकारी कार्यों का निष्पादन कर सके। यद्यपि ये कार्य संस्थागत एवं सामूहिक हैं, ये संभागियों की अन्तश्चेतना पर आधारित हैं, जिनके लिए निराशावाद और आशावाद निर्णायक तत्त्व हैं। जैसे कि युद्ध मानव मस्तिष्क में प्रारम्भ होते हैं, शान्ति भी मस्तिष्क से ही प्रारम्भ होती है। जिस जाति ने युद्ध का आविष्कार किया, वही शान्ति का आविष्कार करने में सक्षम है। इसकी जिम्मेदारी हममें से प्रत्येक व्यक्ति पर है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हस्ताक्षरकर्ता :

1. David Adams, Psychology, Wesleyan University, Middletown (CT) USA.
2. S.A. Barnett, Ethology, The Australian National University, Canberra, Australia.
3. N.P. Bechtereva, Neurophysiology, Institute for Experimental Medicine, Academy of Medical Sciences of USSR, Leningrad, USSR.
4. Bonnie Frank Carter, Psychology, Albert Einstein Medical Center, Philadelphia (PA) USA.
5. Jose M. Rodriquez Delgado, Neurophysiology, Centro de Estudios Neurobiologicos, Madrid, Spain.
6. Joes Luis Diaz, Ethology, Instituto Maxicano de Psiquiatria, Mexico D.F., Mexico.
7. Andrzej Eliasz, Individual Differences Psychology, Polish Academy of Sciences, Warsaw, Poland.
8. Santiago Genoves, Biological Anthropology, Instituto de Estudios Anthropoloqicos, Mexico D.F. Mexico.
9. Benson E. Ginsburg, Behavior Genetics, University of Connecticut, Storrs (CT) USA.
10. Jo Groebel, Social Psychology, Erziehungswissenschaftliche Hochschule, Landau, Federal Republic of Germany.
11. Samir Kumar Ghosh, Sociology, Indian Institute of Human Sciences, Calcutta, India.
12. Robert Hinde, Animal Behavior, Cambridge University, U.K.
13. Richard E. Leakey, Physical Anthropology, National Museums of Kenya, Nairobi, Kenya.
14. Taha H. Malasi, Psychiatry, Kuwait University, Kuwait
15. J. Martin Ramirej, Psychobiology, Universidad de Sevilla, Spain.
16. Federico Mayor Zaragoza, Biochemistry, Universidad Autonoma, Madrid, Spain.
17. Diana L. Mendoza, Ethology, Universidad de Sevilla, Spain.
18. Ashis Nandy, Political Psychology, Center for the Study of Developing Societies, Delhi, India.
19. John Paul Scott, Animal Behavior, Bowling Green State University, Bowling Green (OH) USA.
20. Riitta Wahlstrom, Psychology, University of Jyvaskyla Finaland.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन से भी होती है हिंसा

हिंसा एक समस्या है। यह ऐसी समस्या है, जो अतीत में थी, वर्तमान में है और अनागत में नहीं होगी, ऐसा विश्वास नहीं है। हिंसा कब होती है, क्यों होती है, कैसे होती है और इसकी परिणति किस रूप में होती है ? ये सारे सवाल समाधान की रोशनी चाहते हैं। हिंसा होने का कोई काल निर्धारित नहीं होता। वह कभी भी और कहीं भी घटित हो सकती है, क्योंकि हिंसा का उपादान आदमी के भीतर रहता है। छोटा-सा निमित्त मिलते ही वह उभरकर बाहर आ जाता है। ढेर सारे घास में एक छोटी-सी चिनगारी रख दी जाए तो पूरी घास भस्मसात् हो जाती है। हिंसा की आग भी छोटा-सा निमित्त मिलते ही भभक उठती है। उस आग पर काबू पाना कठिन हो जाता है।

हिंसा होने का मूलभूत कारण है—हिंसा के संस्कार। वे संस्कार एक जन्म से नहीं, जन्म-जन्म से संचित होते हैं। अपने विचारों और हितों के प्रतिकूल बात सामने आने पर वे संस्कार उत्तेजित होते हैं। उत्तेजना अपने आप में हिंसा है। उसके कारण हिंसा का स्थूल रूप भी सामने आ जाता है।

हिंसा शस्त्र से ही हो, यह आवश्यक नहीं है। मन से हिंसा हो सकती है, वाणी से हिंसा हो सकती है, शरीर से हिंसा हो सकती है। राजनैतिक माहौल में हिंसा हो सकती है। वचारिक एवं व्यावसायिक स्तर पर हिंसा हो सकती है। सामाजिक संदर्भों में हिंसा हो सकती है और साम्प्रदायिकता के आधार पर भी हिंसा भड़क सकती है। हिंसा की यात्रा के लिए इतने रास्ते खुले हुए हैं कि उनको समझ पाना भी कठिन है।

किसी व्यक्ति को अपने अधीन बनाना, उस पर हुकूमत चलाना, उसे सताना, मानसिक यातना देना आदि सब हिंसा की परिणतियां हैं। इसकी सबसे अधिक स्थूल परिणति है—प्राण-वियोजन। किसी अजनबी व्यक्ति की आकस्मिक मृत्यु देखकर भी संवेदनशील व्यक्ति का मन उद्वेलित हो जाता है। ऐसी स्थिति में बेगुनाह लोगों को जानबूझकर मौत के घाट उतारना समूची मानव जाति में दहशत पैदा करना है। मेरे अभिमत से यह क्रूरता की पराकाष्ठा है। यह क्रूरता भी एक प्रकार की मदिरा है, जो व्यक्ति की करुणा का रस सोखकर उसे मानव से दानव बना देती है। प्राचीनकाल में सुरा के तीन रूप मान्य थे—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमदा मदिरा लक्ष्मी विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
दृष्ट्वैवोन्मादयेदेका पीता चान्यातिसंग्रहात् ।।

सुरा के तीन रूप हैं—स्त्री, मदिरा और लक्ष्मी । स्त्री में इतना नशा होता है कि वह उसे देखने वाले को देखने मात्र से उन्मत्त बना देती है। मदिरा का नशा उसे पीने के बाद चढ़ता है और लक्ष्मी का नशा उसका अतिसंग्रह होने पर चढ़ता है । इन तीनों की मादकता मनुष्य का अनुभूत सत्य है । कुछ चीजें इनसे भी अधिक मादक हैं । अहं की मादकता, क्रूरता की मादकता आदि को इसी कोटि में लिया जा सकता है ।

एक और मादकता है इस संसार में । वह है साम्प्रदायिकता की मादकता । सम्प्रदाय की सृष्टि बहुत ही ऊंचे उद्देश्यों से हुई होगी पर जिस रूप में इसका इस्तेमाल हो रहा है, वह रूप बहुत ही विकृत है, भद्दा है । उसे देखकर लगता है कि सम्प्रदाय का अस्तित्व में आना ही एक बड़ी भूल थी। दूसरी भूल हो रही है धर्म और सम्प्रदाय को एक समझने की । सम्प्रदाय-सम्प्रदाय है और धर्म-धर्म है, इस बात को वे समझ सकते हैं, जो रस और छिलके के अस्तित्व को उनकी उपयोगिता के संदर्भ में देखते हैं ।

साम्प्रदायिकता भी हिंसा का एक कारण है । साम्प्रदायिक हिंसा की परम्परा नयी नहीं है । विश्व का इतिहास ऐसी भयंकर दुर्घटनाओं से भरा पड़ा है, जो साम्प्रदायिक हिंसा का दस्तावेज है । भिन्न-भिन्न धर्म-सम्प्रदायों के बीच हुए संघर्ष और उनके दुष्परिणाम जितने घातक रहे हैं, एक ही धर्म को मानने वाले सम्प्रदायों की हिंसा भी कम घातक नहीं है । एक ओर वैदिक संस्कृति एवं श्रमण संस्कृति के बीच हिंसा की आग प्रज्वलित की गई, वहां दूसरी ओर आर्यसमाजी और सनातनी, दिगम्बर और श्वेताम्बर, सिया और सुन्नी, प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक आदि एक ही धार्मिक विश्वास रखने वाली दो-दो शाखाओं में जमकर संघर्ष हुआ । ऐसे संघर्ष के समय असामाजिक तत्त्वों को खुलकर खेलने का मौका मिलता है । असामाजिक तत्त्वों अथवा साम्प्रदायिक तत्त्वों द्वारा शुरू की गई इस लड़ाई का अन्त होता है हिंसा में, बिखराव में, वैमनस्य में और लोकजीवन को अस्त-व्यस्त करने में । गलत तत्त्व अपना प्रयोजन सिद्ध होने के बाद भूमिगत हो जाते हैं, बदनामी का तिलक निकलता है धर्म के माथे पर, जबकि संसार का कोई भी धर्म हिंसा को प्रश्रय दे ही नहीं सकता ।

हिन्दुस्तान अनेक बार साम्प्रदायिक हिंसा का शिकार हुआ है । इस देश की शान्तिप्रिय जनता को साम्प्रदायिक उन्माद के हादसे देखने पड़े हैं । आज भी देश में यत्र-तत्र जो हिंसक वारदातें हो रही हैं, क्या उनमें जनता की प्रेरणा है ? जनता शान्ति से जीना चाहती है । उसके शांति-सरोवर में कंकड़-पत्थर फेंककर तरंगें उठाने वाले वे लोग हैं, जो साम्प्रदायिक मानसिकता के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दास हैं। जब-जब उनके दिमाग पर साम्प्रदायिक मादकता का प्रभाव घनीभूत होता है, वे घासफूस के ढेर में चिनगारी लगाकर स्वयं छिप जाते हैं। ऐसे लोग मनुष्यों के हत्यारे तो हैं ही, मानवीय मूल्यों के भी हत्यारे हैं। मुझे लगता है कि यह साम्प्रदायिकता की मादकता सबसे भयंकर मादकता है। इस सत्य को लोग समझें, साम्प्रदायिकता की जड़ों को उखाड़ें, एक स्थिर एवं निश्चित भविष्य को संवारने का संकल्प लें। बढ़ती हुई हिंसा की समस्या का यह सर्वाधिक सरल समाधान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामुदायिक जीवन और सहिष्णुता

सामुदायिक जीवन एक कठोर साधना है। जिसे साधना का अभ्यास नहीं है, वह समूह का जीवन नहीं जी सकता। अकेले में न कोई शब्द, न कोई कलह और न कोई संघर्ष। एक से दो और दो से अधिक होते ही इन सब का प्रारम्भ हो जाता है। फिर प्रारम्भ होता है तनाव, वैमनस्य, वैर और विरोध। यह सामुदायिक जीवन का एक पहलू है। इसका दूसरा पहलू है—सहयोग, सौमनस्य और उपयोगिता। इनका आधारभूत तत्त्व है—सहिष्णुता। सहिष्णुता सामुदायिक जीवन का एक अलंकरण है। छोटे और बड़े सभी कहते हैं—सहन करना सीखो। पर सह-अस्तित्व, सापेक्षता और सामुदायिकता की चेतना जागे बिना सहिष्णुता फलित नहीं होती।

अन्याय के प्रतिकार का निर्दोष उपाय

प्रश्न होता है—क्या अन्याय को भी सहन करें? न्याय को सहन करना भी कठिन काम है। फिर यह परामर्श कैसे दिया जाए कि आप अन्याय को सहन करें। यह परामर्श दिया जा सकता है कि न्याय के साथ अन्याय न करें। अन्याय का प्रतिकार करना आवश्यक है। वह सहिष्णुता के साथ ही किया जा सकता है। असहिष्णुता के साथ अन्याय का प्रतिकार करना एक अन्याय को जन्म देना है। अन्याय के प्रतिकार का निर्दोष उपाय है—सहिष्णुता का प्रयोग। अन्याय को सहन करना दुर्बलता है। अन्याय के प्रति अपनी ओर से अन्याय न हो—यह विवेक है। इस विवेक-चेतना के द्वारा अन्याय का सही ढंग से प्रतिकार किया जा सकता है। अन्याय का प्रतिकार एक समर्थ व्यक्ति ही कर सकता है। सहिष्णुता का अर्थ है—सामर्थ्यपूर्ण समायोजन।

संवेग नियंत्रण से ही सहिष्णुता का विकास

सहिष्णुता का अर्थ है—शक्तिशाली होना। आदि से अन्त तक शक्तिशाली वही हो सकता है, जिसका अपने संवेगों पर नियन्त्रण होता है। सहिष्णुता का अर्थ है—संवेग पर नियन्त्रण। इसके अभाव में किसी को कोई सहन नहीं करता। शिष्य गुरु की सीख को सहन नहीं करता और पुत्र पिता की सीख को पसन्द नहीं करता। बया ने बन्दर को सीख दी—वर्षा हो रही है। कांप रहे हो। एक झोंपड़ी बना लो। फिर आराम से रह सकोगे। सीख अच्छी थी। बया जैसा छोटा प्राणी बन्दर को सीख दे, क्या यह ठीक है? बन्दर का पारा चढ़ गया। झोंपड़ी तो नहीं बनाई। बया के घोंसले को उजाड़ दिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्दर एक जानवर है। उसमें संवेग पर नियन्त्रण करने की क्षमता विकसित नहीं है और उसे नियंत्रण का प्रशिक्षण भी नहीं दिया जा सकता। इसलिए वह ऐसा कर सकता है। क्या आदमी ऐसा नहीं कर सकता ? जिस आदमी को संवेग-नियंत्रण का प्रशिक्षण नहीं मिला है, वह भी अच्छी सीख सुनकर अपने घर का निर्माण नहीं करता, सीख देने वाले के घर को उजाड़ सकता है।

असहयोग भी सहिष्णुता है

सहिष्णुता का एक अर्थ है—असहयोग। न प्रवृत्ति और न निवृत्ति, किंतु उपेक्षा करना। उपेक्षा का अर्थ है असहयोग। गांधीजी ने असहयोग का आंदोलन चलाया। शासनतंत्र ठप्प हो गया। गाली के प्रति गाली देने का मतलब है गाली देने वाले का सहयोग करना। क्रोध के प्रति क्रोध करने का मतलब है क्रोध करने वाले का सहयोग करना। क्रोध करने वाले की उपेक्षा करो, उसका क्रोध आगे नहीं बढ़ेगा। गाली देने वाले की उपेक्षा करो, उसकी गाली आगे नहीं बढ़ेगी। मौत का भय सबसे बड़ा भय है। जो मौत से डरता है, वह मौत का सहयोग करता है। जो मौत के भय से मुक्त हो जाता है, वह उससे सहयोग नहीं करता। सहयोग करने वाला मौत को जल्दी बुलावा देता है और असहयोग करने वाला पूर्ण आयु को जी सकता है।

सहिष्णुता का अर्थ है—सुधार के लिए अवसर देना। गुरु कभी-कभी शिष्य के अविनय को सहन कर लेते हैं। पिता कभी-कभी पुत्र की तुच्छता को सह लेता है। इसका अर्थ कमजोरी नहीं, सुधरने का अवसर देना है। जो बड़े लोग सहन करना नहीं जानते, वे सामुदायिक जीवन जीने की कला को नहीं जानते। वे परिवार या समुदाय को साथ लेकर चलना नहीं जानते।

सामुदायिक जीवन : महान् प्रयोग

सामुदायिक जीवन अपने आप में एक बड़ा प्रयोग है। कोई व्यक्ति हिमालय की गुफा में अकेला बैठा है। वह अकेला ही है। वहां सहिष्णुता की कसौटी नहीं हो सकती। सहिष्णुता की कसौटी समाज में होती है। जो समाज में रहे और अकेलेपन की अनुभूति के साथ जिए, वही सहिष्णु हो सकता है। अध्यात्म का सूत्र है—अकेलेपन की अनुभूति। उपाध्याय विनयविजय ने उसका चित्रण इन शब्दों में किया है—

एक उत्पद्यते तनुभानेक एव विपद्यते।
एक एव हि कर्म चिनुते, सैकक: फलमश्नुते॥

व्यक्ति अकेला आता है, अकेला जाता है। अकेला कर्म का संचय करता है और अकेला ही उसका फल भोगता है। इस अध्यात्म-सूत्र में रहना और व्यवहार में जीना—यह अनेकान्त है। हम रहें अपने आप में और जिएं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार में, तभी शान्त सहवास हो सकता है, सामुदायिक जीवन स्वस्थ बन सकता है।

विरोध : अविरोध

अनेकान्त ने एक सूत्र दिया वैचारिक सहिष्णुता का। हमें बहुत सारे विचार विरोधी प्रतीत होते हैं। विरोधी विचार को सहन न करना हमारी प्रकृति बन गई और इसलिए बन गई कि हम अनेकान्त का मर्म नहीं जानते। हमें सत्य की पहचान भी नहीं है। अनेकान्त का तात्पर्य है विरोध में अविरोध की खोज। कोई विरोध ऐसा नहीं है जिसके तल में अविरोध न हो। कोई अविरोध भी ऐसा नहीं है, जिसके तल में विरोध न हो। विरोध और अविरोध—दोनों एक साथ रहते हैं। इस अवस्था में हम केवल विरोध को पकड़कर असहिष्णु क्यों बनें ?

नयवाद : राग-द्वेष मुक्त दृष्टिकोण

महावीर ने दो नयों का प्रतिपादन किया—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। एक विचार है—आत्मा कर्म का कर्त्ता है और उसके फल का भोक्ता है। दूसरा विचार है—आत्मा कर्म का कर्त्ता है पर फल का भोक्ता नही है। दोनों विरोधी विचार हैं और दोनों ही सत्य हैं। द्रव्यार्थिक नय इस दृष्टि को मान्यता देता है—जो कर्त्ता है, वही भोक्ता है। पर्यायार्थिक नय का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। उसके अनुसार कर्म का कर्त्ता अन्य होता है और उसे भोगने वाला कोई अनागत होगा।

नयवाद राग-द्वेष से मुक्त रहने का दृष्टिकोण है। जहां सत्य है, वहां राग-द्वेष के लिए अवकाश नहीं है। जहां राग-द्वेष है, वहां सत्य के लिए अवकाश नहीं है। आदमी का आकर्षण राग-द्वेष में अधिक है, लड़ाई-झगड़ों में अधिक है। कभी-कभी मैं सोचता हूं—यदि वैचारिक आग्रह नहीं होता, मान्यताओं की खींचातानी नहीं होती तो दिन और रात कैसे बीतता। चौबीस घण्टा का समय बहुत बड़ा समय है। नींद का समय अधिक से अधिक आठ घंटा मान लें। दो घंटे का समय शरीर-चर्या का और आठ घंटे का समय काम-काज का, फिर भी छह घन्टे का समय शेष रह जाता है। यह कैसे बीतता ? राग-द्वेष की घुड़दौड़ इतनी आकर्षण है कि उसे देखते-देखते पल-भर में समय बीत जाता है। आकर्षण इसके साथ जुड़ा हुआ है, फिर सहिष्णुता की बात कैसे आगे बढ़े ?

सहिष्णुता के सूत्र

असहिष्णुता जिन्हें सता रही है, मानसिक तनाव बढ़ रहा है, भावनाएं उद्दीप्त हो रही हैं, वे लोग शांति की खोज में निकल पड़ते हैं। उनके लिए सहिष्णुता की साधना एक समाधान है। सहिष्णुता के लिए दृष्टिकोण को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक् बनाना जरूरी है। एक शिकारी शिकार करने गया। दृष्टि कमजोर थी। सामने शिकार को देख गोली चलाई। अपने सहायक से पूछा—गोली किस जानवर पर लगी। सहायक बोला—महाशय! एक पेड़ पर लगी है। दृष्टिकोण सही नहीं है तो जानवर और पेड़ में कोई फर्क नहीं रहता।

सहिष्णुता का पहला सूत्र बनता है—सम्यग् दृष्टिकोण। दूसरा सूत्र बनता है—सहासिका—एक साथ बैठना। समस्या को सुलझाने के लिए एक मंच पर एक साथ बैठना आवश्यक होता है। तीसरा सूत्र है—एक दूसरे को समझने का प्रयत्न। समझ की दूरी व्यक्तियों में दूरी पैदा कर देती है। पारस्परिक समझ दूरी मिटा देती है। व्यवस्था भंग करने वाले की सहिष्णुता टूट जाती है। वह दूसरों की सहिष्णुता में भी बाधा पहुंचाता है।

विश्वशांति का दर्शन : सहिष्णुता

सहिष्णुता मानसिक शांति का दर्शन है। यही विश्वशांति का दर्शन है। व्यक्ति अशान्त है तो विश्वशान्ति नहीं हो सकती। मन अशान्त है तो विश्वशान्ति नहीं हो सकती। सहिष्णुता की पहली भूमिका है—परिस्थितियों को झेलना। दूसरी भूमिका है—दूसरे व्यक्ति को सहन करना। तीसरी भूमिका है—अपने से भिन्न विचारों को सहन करना। चौथी भूमिका है—राग और द्वेष की तरंगों का सामना करना, उनसे पराजित न होना। यह मार्ग राग से वीतरागता की ओर जाने का मार्ग है। जो व्यक्ति जितना वीतराग, उतना अनेकान्ती। जो व्यक्ति जितना वीतराग, उतना अहिंसक। जो व्यक्ति जितना वीतराग, उतना सहिष्णु। अनेकान्त, अहिंसा और सहिष्णुता को कभी बांटा नहीं जा सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानविकी पर्यावरण में असंतुलन

एक चीनी कहावत है कि एक पुरुष को शिक्षित करो तो एक जन शिक्षित होता है, पर एक स्त्री को शिक्षित करो तो पूरा वंश शिक्षित होता है। इसी प्रकार की विचारधारा थी हमारे स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव कालूगणी की। वे महिलाओं को गहरे धार्मिक संस्कार देने के पक्ष में थे। उनकी दृष्टि में एक संस्कारी महिला पूरे परिवार की धुरी बन सकती थी। रूस के क्रांतिकारी नेता लेनिन का विचार था कि महिलाओं का सामाजिक, मानसिक उद्धार किए बिना समाजवाद के निर्माण का काम नहीं हो सकता। आज हमारे देश में राजनीति के झरोखों से समाजवादी हवाएं प्रवेश कर चुकी हैं। समाजवाद की स्थापना और विकास के लिए नारेबाजी हो रही है, भाषणबाजी हो रही है और नयी-नयी योजनाएं भी बन रही हैं, पर जब तक महिलाओं को साथ लेकर इस दिशा में प्रस्थान नहीं होगा, समाजवाद का नारा शब्दों की गिरफ्त से मुक्त होकर लोकजीवन में नहीं उतर सकेगा।

भारतवर्ष में स्त्री और पुरुष को लेकर दोहरे मानदण्ड प्रचलित हैं। संविधान में स्त्री को वे सभी अधिकार प्राप्त हैं, जो एक पुरुष को होते हैं। किन्तु व्यवहार के धरातल पर स्त्री का परिवेश बहुत सीमित प्रतीत होता है। सामान्यतः स्त्री और पुरुष के लिए कार्यक्षेत्र का विभाजन था। स्त्री घर को संभालती और पुरुष घर से बाहर काम करता। वैसे घर संभालना भी कोई छोटा काम नहीं है। पर उसे सामाजिक मूल्य कम मिला तो स्त्री ने घर से बाहर पग उठा लिये। विचारशील लोग इस प्रस्थान से सहमत थे, किन्तु परम्परावादी लोगों को यह सहन नहीं हुआ। उन्होंने कहना शुरू किया—'औरत को अपनी औकात से बाहर काम नहीं करना चाहिए। वह गृहिणी है, अधिकारिणी नहीं है जो मनमर्जी कुछ भी करती रहे। स्त्री पुरुष के अधीन रहकर ही सुरक्षित रह सकती है। पारिवारिक और सामाजिक मुद्दों पर छिड़ी यह बहस स्त्री की सोच और क्षमता को भी अपने भीतर लीलती गई। समान श्रम और समान वेतन की बात सिद्धांततः स्वीकृत होने पर भी स्त्री को पुरुष की तुलना में कम वेतन मिलता है। विकास के कुछ ऐसे अवसरों का लाभ स्त्री को इसलिए नहीं मिलता कि वह स्त्री है। यह कैसी विडम्बना है! कई परिवारों में बेटी को बेटे की तरह पालने तक की मानसिकता नहीं है। इस मानसिकता का रोमांचकारी उदाहरण है, कन्याभ्रूण की बढ़ती हुई हत्या।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक समय था जब सन्तान की प्राप्ति में मनुष्य पराधीन था। सन्तान क्या हो ? कैसी हो ? इस सम्बन्ध में किसी का कोई हस्तक्षेप नहीं होता था। जब से 'टेस्ट ट्यूब बेबी' अस्तित्व में आई है, प्रजनन विज्ञान में नये-नये अनुसंधान होने लगे हैं। ऐसे ही एक अनुसंधान से गर्भस्थ शिशु के लिंग का ज्ञान किया जाता है। लिंग की पहचान कराने वाली पद्धति का नाम है, 'एमिनो सिंथेसिस'। इस पद्धति के विकास का उद्देश्य था—गर्भस्थ शिशु में उपस्थित विषमताओं का अध्ययन। उस अध्ययन से शिशु की अपंगता, मानसिक असंतुलन, आनुवंशिक बीमारी आदि का पता लगाकर उसका उपचार करने की बात प्रमुख थी। किन्तु यह बात गौण हो गई और प्रमुख लक्ष्य बन गया गर्भस्थ शिशु के लिंग का ज्ञान। चिकित्सक 'एमिनो सिंथेसिस' द्वारा गर्भ परीक्षण कर बता देते हैं कि गर्भ में लड़का है या लड़की। लड़की होती है तो गर्भ समापन करा लिया जाता है। बम्बई महानगर में हुए एक सर्वे के अनुसार निन्नानवे प्रतिशत गर्भसमापन कन्याभ्रूणों का होता है। यह नारी शोषण का आधुनिक वैज्ञानिक रूप है। इसमें कन्याभ्रूण की हत्या का अधिक दायित्व उसकी मां का होता है।

मां की ममता का एक रूप तो वह था, जब वह अपने विकलांग, विक्षिप्त और बीमार बच्चे का आखिरी सांस तक पालन करती थी। परिवार के किसी भी सदस्य द्वारा की गई उसकी उपेक्षा से मां पूरी तरह से आहत हो जाती थी। वही भारतीय मां अपने अजन्मे अबोल शिशु को अपनी सहमति से समाप्त कर देती है। क्यों ? इसलिए नहीं कि वह विकलांग है, विक्षिप्त है, बीमार है। पर इसलिए कि वह एक लड़की है। क्या उसकी ममता का स्रोत सूख गया है ? कन्याभ्रूणों की बढ़ती हुई हत्या एक ओर मनुष्य को नृशंस करार दे रही है, तो दूसरी ओर स्त्रियों की संख्या में भारी कमी से मानविकी पर्यावरण में भारी असंतुलन का खतरा उत्पन्न कर रही है।

कन्याभ्रूण की हत्या महिला जाति की अवमानना है और प्रकृति के सन्तुलन को बिगाड़ने का एक ऐसा प्रयास है, जो सीधा लोगों की आंख पर नहीं आता। इस अमानवीय और घातक प्रवृत्ति को रोकने के लिए धार्मिक सामाजिक एवं राजनैतिक—सभी संगठनों को सम्मिलित अभियान चलाने की जरूरत है। ज्ञात हुआ कि महाराष्ट्र में गर्भस्थ शिशु के लिंग का पता करने वाली सभी तकनीकों पर कानूनी रोक लगा दी गई। महाराष्ट्र के स्वास्थ्य राज्य मंत्री ने इस सिलसिले में विधानसभा में अध्यादेश पेश किया था। इस कानून के बनने से वहां स्त्रीभ्रूण हत्याओं पर स्वतः रोक लग गई है। देखना यह है कि अब कितने राज्य महाराष्ट्र का अनुकरण कर इस मानवीय अभियान में अपनी साझेदारी निभाते हैं।

कानून बनने के बाद कन्याभ्रूणों की हत्या रुक ही जाएगी, ऐसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानना भी यथार्थ से आंख मूंदना है। क्योंकि जब तक लोगों की मानसिकता नहीं बदलेगी, गैरकानूनी तौर पर ऐसे हादसे होते रहेंगे। इक्कीसवीं सदी की ओर बढ़ते देश की यह पंगु मानसिकता क्या इसे पीछे घसीट कर अठारहवीं शताब्दी में नहीं ले जाएगी ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युद्ध और शान्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युद्ध की संस्कृति कैसे पनपती है ?

हिंसा और अहिंसा का द्वंद्व नया नहीं है। हिंसा का इतिहास जितना पुराना है, अहिंसा का इतिहास उससे कम प्राचीन नहीं है। एक ही व्यक्ति में हिंसा और अहिंसा—दोनों के संस्कार होते हैं। हिंसा के संस्कार प्रबल होते हैं तब अहिंसा का तेज मंद हो जाता है। अहिंसा के संस्कार सक्रिय रहते हैं तब हिंसा मौन हो जाती है। हिंसा के उपादान व्यक्ति के भीतर हैं, उसी प्रकार अहिंसा के उपादान भी भीतर हैं। जिस समय हिंसा के उपादान को प्रबल निमित्त मिलता है, व्यक्ति हिंसक हो उठता है। जिस समय अहिंसा का स्रोत गतिशील रहता है, व्यक्ति समभाव में रमण करने लगता है। कोई भी व्यक्ति हिंसक या अहिंसक क्यों बनता है ? इस तथ्य को उजागर करने के लिए उसकी मनोवृत्तियों का विश्लेषण करना आवश्यक है अथवा उसके मस्तिष्क में रहे हिंसा और अहिंसा के स्रोतों को समझना जरूरी है।

हिंसा जीवन की अनिवार्यता है तो अहिंसा पवित्र जीवन की अनिवार्यता है। पवित्र जीवन की आकक्षा रखने वाला व्यक्ति कभी भी हिंसा की परिक्रमा नहीं कर सकता। जीवन चलाने के लिए अपरिहार्य हिंसा से वह बच नहीं सकता पर उसका आदर्श अहिंसा है। वह अहिंसा-प्रधान जीवन शैली में आस्था रखता है और अपनी आस्था को आचरण में प्रतिबिम्बित करने के लिए प्रयास करता रहता है। प्रयास के प्रथम आचरण में वह संकल्पजा हिंसा छोड़ता है, दूसरे चरण में विरोधजा हिंसा से दूर होता है और तीसरे चरण में आरम्भजा हिंसा से भी मुक्त हो जाता है।

अहिंसा की दृष्टि से आरंभजा और विरोधजा हिंसा भी स्पृहणीय नहीं हैं। पर जो व्यक्ति परिवार, समाज और राष्ट्र से प्रतिबद्ध होता है, वह हिंसा से सर्वथा विरत नहीं हो सकता। जिसके मन में परिवार, समाज और राष्ट्र की मूर्च्छा है, जो इनके लिए परिग्रह का अर्जन और संग्रह करता है, वह अनायास ही हिंसा से जुड़ जाता है। परिग्रह और हिंसा एक ही समस्या के दो छोर हैं। एक छोर जब तक नहीं छूटता है, तब तक दूसरे छोर से छूटने का प्रयास भी सफल नहीं हो पाता। हिंसा से सर्वथा मुक्त होने के लिए परिग्रह की चेतना को समाप्त करना होगा। परिग्रह से प्रतिबद्ध जीवन जीने वाला व्यक्ति भी संकल्पजा हिंसा से बचता रहे तो अनेक उलझनों को टाला जा सकता है।

हिंसा का उद्भव असहिष्णुता से होता है। यह मानसिक, वाचिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और कायिक तीनों प्रकार की होती है। जब तक यह मन के धरातल पर रहती है, व्यवहार दूषित नहीं होता। वचन का विषय बनते ही यह सद्भाव का लोप कर देती है। सद्भाव खण्डित होने के बाद अनेक प्रकार से भय और आशंकाएं जन्म ले लेती हैं। भयभीत व्यक्ति सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को भूल जाता है। उसे चारों ओर से आक्रमण की संभावना बेचैन बना देती है। इस स्थिति में वह न तो किसी का विश्वास करता है और न किसी के साथ रहने में अपने अस्तित्व की सुरक्षा देखता है। अहिंसा के अश्व पर आरूढ़ होने के लिए अभय की लगाम थामनी ही होगी अन्यथा अहिंसा की बात केवल सिद्धांत का विषय बनकर रह जाती है।

एक समय था जब मनुष्य युद्ध की संस्कृति से परिचित नहीं था। उसकी आकांक्षाएं सीमित थीं। सीमित आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उसे दौड़-धूप नहीं करनी पड़ती थी। जो कुछ मिल जाता, उसी से जीवन-यापन हो जाता था। उस समय प्रत्येक व्यक्ति स्वलाभ में संतुष्ट रहता था। स्वलाभ में असन्तोष के अनुभव ने मनुष्य के मन में पदार्थ के प्रति आकर्षण पैदा किया। इस आकर्षण ने परायी वस्तु हड़पने की मनोवृत्ति जगायी। जब वह सहज में नहीं मिली तो मनुष्य आक्रान्ता बन गया। वह जोर-जबरदस्ती से दूसरे की वस्तु पर अपना अधिकार स्थापित करने लगा। आकांक्षा का जगत् बहुत बड़ा है। खान-पान की छोटी-से-छोटी वस्तु का उसके साथ सम्बन्ध है तो धरती पर एकछत्र साम्राज्य करने की भावना भी उससे जुड़ी हुई है।

पर का स्व हड़पने के लिए मनुष्य ने अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार किया। आदिम युग के अस्त्र पत्थर के होते थे। उनमें कुछ सुधार हुआ तो लोहा, लकड़ी आदि का उपयोग होने लगा। भाला, बरछी, तीर, तलवार आदि भी आक्रान्ता संस्कृति के ही अंग हैं। ये सभी साधन उस समय अकिंचित्कर हो गए जब मनुष्य ने अणु की शक्ति को पहचाना। अणुशक्ति का उपयोग निर्माण के कार्य में भी हो सकता है पर हिंसा के संस्कारों की सक्रियता में निर्माण की बात गौण हो जाती है और ध्वंस की बात प्रमुख बन जाती है। जापान के दो बड़े शहरों—हिरोशिमा और नागासाकी का ध्वंस द्वितीय महायुद्ध में सक्रिय हिंसक चेतना का प्रतीक है।

विगत कुछ समय से विश्व की महाशक्तियां अन्तरिक्ष युद्ध की तैयारियों में संलग्न थीं। इन तैयारियों का हेतु भी भय या आशंका के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? रूस और अमेरिका के बीच मध्यम दूरी वाले प्रक्षेपक अणु-अस्त्रों के परिसीमन का समझौता हिंसक वातावरण में उठा हुआ एक छोटा-सा अहिंसक कदम था। इस कदम का गर्मजोशी के साथ स्वागत हुआ। अब आगामी शिखर सम्मेलन में सब प्रकार के आणविक अस्त्रों को समाप्त कर देने वाली घोषणा की प्रतीक्षा है। ऐसी घोषणा और तत्परता के साथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस पर अमल, विश्वशान्ति की पृष्ठभूमि में बहुत आवश्यक है।

आज सारा विश्व अशान्त है। अशान्ति का सबसे बड़ा कारण है—हिंसा। हिंसा के पथ पर आगे बढ़कर वैयक्तिक या सामूहिक किसी भी स्तर पर शान्ति को प्राप्त नहीं किया जा सकता। शान्ति का मूलभूत आधार है—अहिंसा। अहिंसा केवल नकारात्मक ही नहीं है। इसका रचनात्मक स्वरूप दुनिया के सामने आए और उसके आधार पर विश्वशान्ति की कल्पना को साकार किया जाए, इस उद्देश्य से अहिंसा और शान्ति के संदर्भ में समायोजित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन एक नयी पहल करेगा, ऐसी संभावना प्रबल हो रही है। चिन्तन की धरती पर उगी हुई संभावना यथार्थ का शिखर छूने में सफल हो, यह अपेक्षा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युद्ध समस्या है, समाधान नहीं

संयुक्त राष्ट्र महासभा की घोषणा के अनुसार सन् १९८८ का वर्ष परमाणु निरस्त्रीकरण का वर्ष है। इस वर्ष की शुरूआत से पहले ही ८ दिसम्बर १९८७ को वाशिंगटन में अमेरिका के राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन और सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाचेव के बीच एक ऐतिहासिक समझौता हो गया। उस समझौते के अनुसार अमेरिका और सोवियत संघ ५०० से ५५०० किलोमीटर की दूरी तक मार करने वाले सभी प्रेक्षेपास्त्रों को नष्ट कर देंगे। यह समझौता सूर्योदय से कुछ समय पहले आकाश में फैलने वाले उजाले के समान सबको राहत देने वाला था।

१ जून १९८८ से वह समझौता लागू हो गया। अमेरिका और सोवियत संघ द्वारा संयुक्त रूप में उठाए गए कदम का स्वागत विश्व के सभी देशों ने किया।

८ अगस्त १९८८ को संयुक्त राष्ट्र संघ ने एक नयी घोषणा करके ईरान और ईराक के बीच चल रही आठ वर्षों की लड़ाई समाप्त करने का दावा किया है। युद्धविराम के लिए २० अगस्त का दिन तय किया गया। पर समाचार पत्रों के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ की घोषणा के तत्काल बाद दोनों देशों की आक्रामक मुद्रा बदल गई। उनकी सामरिक गतिविधियां शिथिल हो गईं। ईरान और ईराक की यह लड़ाई २० सितम्बर १९८० को शुरू हुई थी। तब से अब तक आठ साल के खुले संघर्ष में दस लाख लोगों के मारे जाने की संभावना की गई है। दोनों देशों के एक लाख सैनिक युद्धबन्दी बने हुए हैं। ऊपर से लड़ाई समाप्त हो गई। इसे भावनात्मक स्तर पर समाप्त करने के लिए २५ अगस्त से जेनेवा में दोनों देशों के बीच सीधी बातचीत होगी। इस वार्तालाप में संयुक्त राष्ट्र संघ की अहम् भूमिका रहेगी, ऐसी चर्चा है।

ईरान और ईराक के इस युद्धविराम का भी उन सभी देशों ने स्वागत किया है, जो मानवीय मूल्यों में विश्वास रखते हैं। यह बात अब निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो रही है कि कोई भी देश अन्तरंग में युद्ध नहीं चाहता। क्योंकि युद्ध से कोई एक ही पीढ़ी नहीं, आने वाली कई पीढियां प्रभावित होती हैं। सन् १९४५ में दूसरे विश्वयुद्ध के बीच सूर्योदय के देश जापान के दो प्रमुख नगर—हीरोशिमा और नागासाकी पर अमेरिका द्वारा गिराए गए अणुबमों का हादसा अब भी लोग भूले नहीं हैं।

मानवता के इतिहास का वह सबसे काला दिन था, जब लाखों लोगों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को बीभत्स रूप से मौत के घाट उतारा गया। इस युद्ध में पूरी तरह से टूटा हुआ जापान अपनी लगन और पुरुषार्थ से बहुत जल्दी संभल गया। औद्योगिक दृष्टि से उसने बहुत विकास कर लिया, पर वे लाखों व्यक्ति जो बेमौत मारे गए, कहां से लौटेंगे ?

युद्ध के भयंकर दुष्परिणामों को देखने और भोगने के बाद भी मनुष्य यदा-कदा युद्ध पर आमादा क्यों हो जाता है ? यह एक चिरन्तन प्रश्न है। आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और ऐतिहासिक—किसी भी तरह के कारण हों, युद्ध मानव जाति के विनाश का रास्ता है। युद्ध के सहारे कभी समस्या का समाधान हुआ हो, उदाहरण नहीं मिलता। एक-दूसरे देश की सीमाओं में घुसपैठ करने वाले युद्ध के द्वारा थोड़ी-बहुत भूमि भले ही हथियालें, पर वे अपने देश के लिए ऐसा सिरदर्द मोल ले लेते हैं, जिसे सदियों तक भोगना पड़ता है। पारस्परिक विश्वास, सद्भावना और सह-अस्तित्व जैसे मूल्यों को प्रतिष्ठित करके ही मनुष्य शान्ति से जी सकता है।

इस वर्ष का 'नेहरू शान्ति पुरस्कार' संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव जेवियर पेरेज डी क्वेया को दिया गया। श्री क्वेया ने विश्व शान्ति और सद्-भावना बढ़ाने की दिशा में जो काम किया और कर रहे हैं, उसी का मूल्यांकन करके उन्हें इस पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। संसार आज युद्ध और हिंसा से ऊब चुका है। इसलिए वह ऐसे प्रयत्नों के समर्थन में सहमत हो जाता है। युद्ध करने वाले और युद्ध को प्रोत्साहन देने वाले किसी भी व्यक्ति को आज तक ऐसा कोई पुरस्कार नहीं मिला, जो उसे गौरवान्वित कर सके, क्योंकि युद्ध बरबादी है, अशान्ति है, और अस्थिरता है। जान-माल की इस भारी तबाही से बचने के लिए समूचे विश्व को अहिंसा की शरण में जाना होगा।

विश्व में हिंसा-रहित और परमाणु-शस्त्र-विहीन समाज-संरचना के लिए प्रतिबद्ध राष्ट्रों में भारत भी एक है। भारतीय संस्कृति में अहिंसा, अनेकान्त और भाईचारे की पुट है। अहिंसा और अनेकान्त-प्रधान जीवन-शैली में हिंसा का हस्तक्षेप कभी काम्य नहीं होता। फिर भी जब तक हिंसा और अशान्ति के कारण मौजूद हैं, बड़े या छोटे स्तर पर युद्ध की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। विश्व युद्ध की तो कल्पना ही भयावह है, गृहयुद्ध से भी देश का कितना अहित हो रहा है, सब जानते हैं। युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त मनुष्य अब भी अपने मूल संस्कारों में लौट आए, अनर्थ हिंसा से बचता रहे और विश्व-शान्ति के लिए किए जा रहे प्रयत्नों में भागीदार बन जाए तो हिंसा की आग में झुलसती मानव जाति को त्राण मिल सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युद्ध की लपटों में कांपती संस्कृति

आस्था के दो रूप हैं—चिंतन के स्तर पर और जीने के स्तर पर। जिस व्यक्ति के चिन्तन का स्तर भिन्न होता है और आचरण का स्तर भिन्न, उसकी आस्था विभक्त हो जाती है। विभक्ति भेद की प्रतीक है। भेद में थोपी हुई मान्यता को भी व्यक्ति अपनी सहमति देता है, किन्तु उसके अवचेतन मन की धारणाएं कुछ दूसरी होती हैं, इसलिए वह आस्था के अनुरूप जीवन नहीं जी सकता। मुझे ऐसा लगता है कि नैतिक मूल्यों के प्रति होने वाली आस्था भी घनीभूत नहीं है। नैतिकता का सिद्धांत सही है, पर उसे आत्मसात् करने से उपस्थित होने वाली कठिनाइयों के साथ मुकाबला करने की जब तक क्षमता नहीं है, तब तक व्यक्ति नैतिक नहीं हो सकता। नैतिकता के संदर्भ को एक बार गौण भी कर दिया जाए तो भी युद्ध की विभीषिका व्यक्ति को पीड़ित कर देती है। किन्तु इसके साथ वह यह भी जानता है कि युद्ध के द्वारा मेरे लिए जो प्राप्तव्य है, वह युद्ध से ही मिल सकता है। इसलिए वह शक्ति संपन्नता की स्थिति में युद्ध को टाल भी नहीं सकता।

एक बात और है। मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य की झगड़ालू वृत्ति को उसकी मूल वृत्ति में मान्यता दी है। अंग्रेजी भाषा के विख्यात साहित्यकार और दार्शनिक फ्रांसिस बेकन ने उक्त तथ्य के साथ अपनी सहमति व्यक्त करते हुए कहा है कि मनुष्य में लड़ने की प्रवृत्ति एक प्रधान मूल प्रवृत्ति है। इसको सहज रूप में मोड़ना बहुत कठिन है। मुझे भी ऐसी प्रतीति होती है कि जब तक काम, क्रोध आदि मूल वृत्तियां समाप्त नहीं होतीं, तब तक युद्ध की संभावना को भी नकारा नहीं जा सकता। ऐसी संभावनाएं जहां पुष्ट हो जाती हैं, वहां जो कुछ होता है, वह अतीत की आवृत्ति मात्र होता है। अतः नैतिक आस्था और युद्ध की संभावना को भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में समझना जरूरी है।

नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा और अणु अस्त्रों—इन दोनों में कोई तुक नहीं है। क्योंकि आणविक अस्त्रों का निर्माण स्वयं ही अनैतिक है। राजनीति और अर्थनीति के क्षेत्र में असंतुलन बढ़ता है तथा असुरक्षा के भाव पनपते हैं। संतुलन और सुरक्षा का दूसरा उपाय न पाकर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र शस्त्रों का निर्माण करते हैं। किन्तु ऐसा करने वाले आतंक और असुरक्षा से मुक्त नहीं हो पाते। जो राष्ट्र शस्त्र-निर्माता हैं, वे स्वयं आशंकित हैं। संभावित अनिष्ट की आशंका से बचाव के लिए जो शस्त्र बनते हैं, वे दूसरे राष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को आशंकित कर देते हैं। फलतः शस्त्र-निर्माण की दौड़ शुरू हो जाती है।

इस तथ्य को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है कि जो देश जितनी अधिक चोट सहन करता है, वह आगे जाकर उतना ही सजग हो जाता है। युद्ध भी एक प्रकार का आघात है, जो मूल्य-परिवर्तन की दिशा में नया चिंतन दे सकता है। आकस्मिक आघात भीतर और बाहर दोनों ओर से रूपान्तरण करता है। एक व्यक्ति के सिर में चोट लगी। इस अप्रत्याशित चोट ने उसके स्नायु-संस्थान को प्रभावित किया और उसे अतीन्द्रिय ज्ञान उपलब्ध हो गया।

एक व्यक्ति पक्षाघात से पीड़ित था। किसी समय उसके मकान में आग लग गयी। घर में भाग-दौड़ मची। उसने सुना। एक झटका-सा लगा। वह उठकर खड़ा हो गया और बाहर आ गया। देखने वालों के आश्चर्य का ठिकाना ही न रहा। जो व्यक्ति अपना हाथ भी उठाकर इधर-उधर नहीं कर सकता था, उसमें अचानक उठकर दौड़ने की क्षमता कहां से आ गयी? उस क्षमता का स्रोत था उसके अवचेतन मन पर होने वाला तीव्र आघात, जिसने उसको एक साथ पूरी शक्ति दे दी।

इसी प्रकार अप्रत्याशित रूप से लगने वाले युद्ध के आघात भी व्यक्ति और राष्ट्र की चेतना को झकझोर सकते हैं तथा उनसे कई दृष्टियों से विकास की संभावना रहती है। पर जरूरी नहीं है कि ऐसी स्थिति युद्ध से ही हो, दूसरे भी निमित्त हो सकते हैं। युद्ध भी निमित्त बनता हो तो भी प्रगति के लिए जान-बूझकर युद्ध को आमंत्रित करना उचित नहीं है। क्योंकि युद्ध से होने वाले गलत परिणामों को नजरअंदाज करने वाले व्यक्ति युद्ध को प्रगतिशीलता का सूचक मान सकते हैं, वास्तव में वह मानवीय मूल्यों का विघटक है और पाशविक मनोवृत्ति का प्रतीक है।

स्पर्धा और संघर्ष ये दो बातें हैं। विकासमूलक कार्यों के लिए स्पर्धा का होना अनुचित नहीं है। पर बिना प्रयोजन टक्कर लेना और लड़कर समाप्त हो जाना प्रशस्त तरीका नहीं है। संस्कृतियों का संगम लाभप्रद है। उससे बहुत कुछ सीखा जा सकता है, क्योंकि एक-दूसरे को देखने, परखने और समझने का अवसर बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। पर थोड़े हित के लिए अधिक अहित को मोल लेना समझदारी नहीं है। राजा दिलीप को सम्बोधित कर उसकी परीक्षा के लिए उपस्थित सिंह ने कहा—

अल्पस्य हेतोः बहु हातुमिच्छन्।
विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्॥

अल्पहित के लिए अधिक हित को दांव पर लगा देना वैचारिक मूढ़ता का प्रतीक है। अतः सांस्कृतिक विकास के लिए शान्ति, सुख और समृद्धि को युद्ध की आग में झोंक देना किसी भी दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु,
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।।

वर्तमान में द्वन्द्व का समाधान अन्तःकरण में नहीं, तर्क में खोजा जा रहा है। नैतिक निर्णय का एकमात्र आधार आज तर्क ही रह गया है। सामाजिक कल्याण की धारणा के आधार पर भी नैतिक मूल्यों का निर्णय किया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्तःकरण और व्यक्ति गौण हैं तथा तर्क और समाज मुख्य हैं। क्या हम यह मान लें कि अन्तःकरण का प्रामाण्य आज समाप्त हो गया है ?

एक वीतराग व्यक्ति का अन्तःकरण निश्चित रूप से प्रमाण होता है। वीतरागता की स्थिति से पहले भी सन्तुलित व्यक्ति का चित्त प्रमाण हो सकता है। पर हर व्यक्ति के अन्तःकरण को प्रमाण मानना खतरे से खाली नहीं है। एक उन्मत्त व्यक्ति के आत्मनिर्णय को वैधता का प्रमाणपत्र नहीं मिल सकता, क्योंकि उसका चिंतन अयथार्थ है, अधूरा है। ऐसे व्यक्तियों को मनचाहा करने की छूट मिल जाए तो प्रलय की आशंका को टाला नहीं जा सकता। हिटलर जैसे व्यक्तियों का अन्तःकरण ही युद्ध को जन्म देता है। इस सृष्टि से इतना ही कहना पर्याप्त है कि विशुद्ध और सन्तुलित अन्तःकरण प्रमाण बन सकता है। इससे विपरीत दिशा में उसका प्रामाण्य अकिंचित्कर है।

तर्क का जहां तक प्रश्न है, वह है मात्र बुद्धि का व्यायाम। उसका आधार केवल सत्य ही नहीं होता। असत् आधारों पर भी तर्क की अवस्थिति होती है। वह समाज और व्यक्ति दोनों को स्थापित भी कर सकता है और उखाड़ भी सकता है। इसलिए इसकी प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। प्राचीन युग में तर्क विकसित नहीं हुआ था और अन्तःकरण ही सब कुछ था, यह एकांगी सत्य है। मेरे अभिमत से इन दोनों की विशुद्धि और सापेक्षता ही प्रामाण्य का आधार बन सकती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युद्ध के कटु परिणाम

युद्ध मनुष्य के लिए एक बहुत बड़ा अभिशाप है। जब यह पागलपन सवार हो जाता है तो आदमी ऐसा राक्षस बन जाता है कि लाखों-लाखों लोगों को देखते-देखते मौत के घाट उतार देता है। वह ऐसा नरमेध रचा लेता है जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्रथम महायुद्ध में ९००८००० लोग मारे गए थे। १९१९ से लेकर १९३९ तक के २० वर्षों में भी छिटपुट युद्धों में १३३६००० लोग मारे गए। दूसरे महायुद्ध में तो उनकी संख्या ५०००००० तक पहुंच गई। उस युद्ध में अकेले जापान के २६०००० लोग मारे गए थे। ४१२००० लोग घायल हुए, ९२००००० लोग बेघर हो गए। २२१०००० मकान ढह गए या जलकर भस्म हो गए। १२०६ नगरों में ४४ नगरों का नामोनिशान मिट गया। यह तो उस समय की बात है जब सीमित अणुबम थे। आज तो ऐसे हाईड्रोजन बम बन गए हैं जो २००० डी.एन.टी. की क्षमता रखते हैं। एक हाइड्रोजन बम ३० अणुबमों के बराबर होता है। वह १२०० वर्ग मील को अग्नि से जला डाल सकता है। १०० मील के घेरे को धमाकों से हिला देता है तथा ३०००० वर्गमील क्षेत्र में विनाश के बीज बो सकता है। महावीर ने ठीक ही कहा है—हिंसा पाप है, चंड है, रुद्र है, क्षुद्र है, अनार्य है, निर्घृण है, नृशंस है, महाभय है आदि-आदि।

इन वर्षों में आणविक शक्ति-सम्पन्न राष्ट्रों ने निरन्तर खोज और निर्माण के जरिए आणविक शस्त्रों और संचार साधनों का इतना विकास कर लिया है कि उनमें से प्रत्येक राष्ट्र दर्जनों बार पूरी धरती के निवासियों को ध्वस्त कर सकता है। सचमुच आज युद्ध की बड़ी जबरदस्त तैयारियां हो रही हैं। यह अनुमान है कि विश्व में १९८३ के दौरान सैनिक अनुसंधान तथा विकास पर ६००० करोड़ डालर खर्च किए गए। इसमें सोवियत संघ तथा अमेरिका का खर्च ८० प्रतिशत है। इनके साथ ब्रिटेन, फ्रांस, चीन तथा पश्चिमी जर्मनी ने सैनिक अनुसंधान एवं विकास पर ५० प्रतिशत खर्च किए। यह उल्लेखनीय है कि १९८४ में केवल अमेरिका ने सैनिक अनुसंधान तथा विकास पर करीब ३२ अरब डालर खर्च किए।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की एक विज्ञप्ति के अनुसार एशियाई देश रक्षा पर वार्षिक बजट का २० प्रतिशत खर्च कर रहे हैं, जबकि शिक्षा तथा सामाजिक कल्याण पर क्रमशः ८ और ३ प्रतिशत ही करते हैं। ऐसा अनुमान है कि विश्व में प्रतिवर्ष एक सैनिक पर १८३०० डालर खर्च किये जा रहे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं जबकि एक स्कूली बच्चे पर केवल ३८० डालर खर्च किए जाते हैं। विश्व में एक लाख आबादी पर ५५६ सैनिक हैं जबकि डाक्टर केवल ८५ हैं। अविकसित देशों में २५० आबादी पर एक सैनिक है जबकि ३७०० की आबादी पर एक डाक्टर है। आज विश्व में ६० करोड़ लोग बेरोजगार हैं, ९० करोड़ लोग निरक्षर हैं, ५० करोड़ लोग बीमारियों से ग्रस्त हैं, १०० करोड़ लोग गरीबी की रेखा से नीचे जी रहे हैं और समुचित चिकित्सा तथा पोषक भोजन के अभाव में ४० हजार बच्चे प्रतिदिन मौत के मुख में प्रवेश कर रहे हैं।

१९७५-८३ के दौरान विश्व सैनिक खर्च में २५ प्रतिशत से भी ज्यादा वृद्धि हुई है। संयुक्त राष्ट्र एजेन्सियों के अनुसार १९८० में विश्व सैनिक खर्च अफ्रीका एवं लैटिन अमरीका के कुल राष्ट्रीय उत्पादन के बराबर था और वह विश्व के उत्पादन के कुल मूल्यों के ६ प्रतिशत के बराबर था। यह अनुमान है कि विश्व में हथियारों तथा सैनिकों पर प्रति घंटा ७.४ करोड़ डालर खर्च किया जा रहा है। १९९० के लिए विश्व का सैनिक खर्च १५४५ अरब डालर अनुमानित है।

आज तीसरी दुनिया में ऐसी अनेक सरकारें हैं जिन्हें अपनी ही जनता का बड़ा शत्रु कहा जा सकता है। ये ऐसी सरकारें हैं जो अपने नागरिकों के विरुद्ध शस्त्र-सन्नद्ध हो रही हैं। बहुत बार ये महाशक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता में भी फंस जाते हैं। १९८१ में इन देशों का सैनिक खर्च ८१ अरब डालर था जो कुल खर्च का १५.६ प्रतिशत था।

भारत ने १९८१ में सशस्त्र सेनाओं पर ५७०००००००० डालर खर्च किया, पर निरन्तर यह खर्च बढ़ता ही जा रहा है।

सैनिक खर्च में वृद्धि के कारण तीसरी दुनियां के देश न केवल आवश्यक विकास से वंचित रह जाते हैं अपितु आपसी तनाव भी बढ़ जाते हैं। इसका नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

हथियारों की होड़ पर भारी फौजी खर्च ने न केवल तीसरी दुनिया के देशों को आवश्यक विकासगत वित्तीय जरूरतों से वंचित कर दिया है, अपितु लोगों के बीच अपने राष्ट्र तथा विश्व के भविष्य के बारे में भी निराशा उत्पन्न कर दी है। बताया जाता है कि अभी विश्व में पचास हजार से भी अधिक नाभिकीय हथियार हैं और उनमें हजारों डिलीवरी प्रणाली से सम्बद्ध हैं। इनकी विभीषिका के बारे में सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। यदि नाभिकीय युद्ध होता है तो उसके अकल्प्य परिणाम हो सकते हैं। इसमें किसी एक राष्ट्र के जय-पराजय की बात नहीं रहेगी अपितु पूरे भूमंडल का परिस्थितिकीय संतुलन बिगड़ जाएगा। पृथ्वी मानव-जीवन के लिए रहने लायक ही नहीं रह जाएगी। वायुमंडलीय तथा जीव-विज्ञान के अध्ययनों से यह सिद्ध हो गया है कि सीमित अणुयुद्ध से भी भयंकर गर्मी, विस्फोट और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकिरण के खतरों के अलावा यह भी आशंका है कि उससे धरती पर भयंकर शीत का प्रादुर्भाव होगा। धरती अंधकारपूर्ण तथा अत्यन्त शीतल ग्रह के रूप में परिणत हो जाएगी। समुद्र के पानी का स्तर भी बढ़ जाएगा, जिससे धरती का काफी भाग जलमग्न हो जाएगा। प्राणी तो कोई बचेगा ही नहीं, स्वयं धरती भी किसी प्राणी के जीवन-धारण में अयोग्य हो जाएगी।

यह तो एक अन्तिम बात है, पर इससे पहले के खतरे भी कम नहीं हैं। विस्फोटों से उद्भूत धुआं पर्यावरण में फैलकर बादलों के रूप में बदल जाता है। जब बादल जल के रूप में पृथ्वी पर बरसते हैं तो धरती भी विकिरण के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकती। उससे घास-पात तथा वनस्पति भी रेडियोधर्मिता से बच नहीं सकेगी। इन सबमें विषाक्तता होने से मनुष्य का तन ही नहीं बल्कि मन भी विषाक्त हुए बिना नहीं रहेगा। वह भी सांप की तरह अपनी सांस से फुफकारें लेने लगेगा।

विस्फोटों से प्रभावित धूलि जब समुद्र में पहुंचेगी तो उससे जल-जंतु भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहेंगे। वे बीमार होकर मृत्यु के मुख में चले जायेंगे। जो बच जायेंगे वे यदि मनुष्य का आहार बने तो उसे भी मौत के मुख में धकेल देंगे।

ऊपरी वायुमंडल में किए जाने वाले नाभिकीय विस्फोटों से बड़ी मात्रा में नाईट्रिक आक्साइड के अणु पैदा होते हैं, उससे ओजोन की समूची जीवन-रक्षक परत का नष्ट हो जाना सुनिश्चित है। नाभिकीय युद्ध से जितनी तबाही होगी उससे अधिक तबाही ओजोन की परत के नष्ट हो जाने से होगी।

इस खतरे से बचने का एक ही उपाय है कि युद्ध तथा नाभिकीय शस्त्रों के उपयोग को बन्द किया जाये। जयप्रकाश नारायण ने ठीक ही कहा था—अणुबम बनाना नैतिक दृष्टि से अनुचित है, राजनैतिक दृष्टि से खतरनाक है और सामाजिक दृष्टि से अनावश्यक है। जब यह ज्ञात है कि सीमित या असीमित किसी प्रकार के नाभिकीय युद्ध का अर्थ सर्वनाश, पूरी सृष्टि का संहार और मानव द्वारा आज तक की अर्जित उपलब्धियों का ध्वंस है तो क्यों नहीं इस सामरिक-सज्जा पर अंकुश लगाया जाये? आज पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के प्रत्येक महाद्वीप के वैज्ञानिकों, विशेषज्ञों, समरनीति के आचार्यों तथा शांति रक्षा के प्रति प्रतिबद्ध जन-समुदाय ने यह अनुभव कर लिया है कि युद्ध से प्रलय की लोमहर्षक स्थिति पैदा हो सकती है तो क्यों इस पागलपन को उत्तरोत्तर बढ़ाया जा रहा है, यह एक चिन्तन का विषय है।

हथियारों का घातक धंधा

युद्ध का एक रोमांचक रूप जो आज उभर रहा है वह है—शस्त्रों का व्यापार। सचमुच कुछ देशों के लोग अपनी वैज्ञानिक क्षमता का लाभ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उठाकर संहारक शस्त्रों का इतना जबरदस्त धंधा करते हैं कि गरीब देशों का तो कचूमर ही निकल जाता है। उनके सामने अपने अस्तित्व का सवाल रहता है, अतः गरीबी को ओढ़कर भी उन्हें शस्त्र खरीदने पड़ते हैं। यह सही है कि बड़े राष्ट्रों की वैज्ञानिक क्षमताओं ने उन्हें वह सामर्थ्य प्रदान किया है, पर इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि अविकसित राष्ट्र इससे बहुत तीव्रता से प्रभावित होते हैं। अभी-अभी इंडियन डिफेंस रिव्यू पत्रिका में प्रकाशित समाचारों के अनुसार केवल चीन ने १९८० और १९८७ के बीच में ८ अरब ७० करोड़ डालर के हथियार बेचे हैं।

यह प्रसन्नता की बात है कि धीरे-धीरे पूरी दुनिया में युद्ध के विरुद्ध जनमत बन रहा है। अभी-अभी रूस और अमेरिका के बीच ३० प्रतिशत परमाणु प्रक्षेपास्त्रों व बमवर्षकों में कटौती करने के प्रस्ताव पर जो समझौता हुआ है वह भगवान् महावीर की इसी भावना को अभिव्यक्त करता है कि शस्त्र में स्पर्धा है। युद्ध आखिर समस्या का समाधान नहीं है। यह अनर्थ हिंसा है, निषेधक भाव है। जो आदमी इससे बच जाता है उसका चरण अपने आप विश्व-शांति की ओर उठने लगता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्व-शान्ति की आचार-संहिता

वर्तमान विश्व-चेतना की गतिशील साधना ने विश्व को बहुत छोटा कर दिया है। एक समय था जब एक प्रान्त की समस्याओं से दूसरा प्रान्त अप्रभावित रहता था। एक देश की स्थितियों का संक्रमण दूसरे देश में नहीं होता था। किन्तु आज आयात-निर्यात के साधन इतने विकसित हो गये हैं कि एक भूखंड की समस्या सम्पूर्ण विश्वगत हो जाती है। संक्रमणशीलता की स्थिति में कोई भी व्यक्ति, वर्ग या भूखंड अप्रभावित नहीं रह सकता। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का विशेष स्थान है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क-सूत्रों और व्यवस्थाओं को देखते हुए हमें केवल राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान तक ही नहीं सोचना है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर जो-जो समस्याएं उभर रही हैं, उनके कारणों की खोज और निवारण की प्रशस्त प्रक्रिया जब तक प्राप्त नहीं होती है, विश्व-शान्ति की कल्पना यथार्थ की धरती पर आकार नहीं ले सकती।

अणुव्रत दर्शन व्यक्ति-व्यक्ति को मार्गदर्शन देता है, उसी प्रकार समग्र विश्व-चेतना को भी पथ दिखलाता है। विश्व-चेतना को उद्‌बुद्ध करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कोई ठोस काम हो, यह आवश्यक है। इसके लिए निःशस्त्रीकरण, सहअस्तित्व और सापेक्ष सहयोग-भावना को पल्लवित करना है। अणुव्रत के परिपार्श्व से ऐसी स्रोतस्विनियां बहेंगी, जो नैतिक मूल्यों की पौध को सिंचन देकर विश्व-मानस को नया आलोक और शान्ति देने में सक्षम हो सकेंगी।

अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं

एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण, एक राष्ट्र की भूमि और संपत्ति पर अधिकार करने की मनोवृत्ति, आन्तरिक व्यवस्थाओं में हस्तक्षेप, एक शासन-पद्धति पर दूसरी शासन-पद्धति का आरोपण करने का प्रयत्न, अपनी विचारधारा दूसरों पर थोपने का प्रयास आदि ऐसी अनेक स्थितियां हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को उभारने में निमित्त बनती हैं। उपनिवेशवाद अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की सबसे बड़ी समस्या थी। आज लगभग सभी राष्ट्र इस समस्या से मुक्त हो गए हैं। इस समय परिस्थिति ऐसी निर्मित हो गयी है कि हर प्रबुद्ध व्यक्ति और राष्ट्र उपनिवेशवाद को उखाड़ने में सहमत है।

आक्रामक मनोवृत्ति का जहां तक प्रश्न है, वह आज भी यत्र-तत्र दृष्टिगत हो रही है। पुराने समय में यह मनोवृत्ति मान्य थी। साम्राज्य-विस्तार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए अनेक युद्ध लड़े गये हैं किन्तु अब ऐसी मान्यताएं निरस्त होती जा रही हैं। सामाजिक जीवन में अहिंसा की प्राण-प्रतिष्ठा होने से ही विश्व-शान्ति की बात आकार ले सकती है। अहिंसा शाश्वत सत्य है और आक्रमण आवेशमूलक मनःस्थिति की परिणति है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के प्रति होने वाली आक्रान्ता मनोवृत्तियां मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा में बाधक हैं। भूमि, संपत्ति आदि का अपहरण, अधिकार-हनन आदि प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी बहुत गलत प्रभाव पड़ता है। भय, सन्देह, प्रतिशोध, आशंका, सुरक्षा आदि कई कारण हैं जो मनुष्य को हिंसा की प्रेरणा देते हैं। राष्ट्रीय दायित्वों से प्रतिबद्ध व्यक्ति इन कारणों की उपेक्षा नहीं कर सकता, किन्तु अपनी-अपनी वृत्तियों का परिमार्जन कर इन समस्याओं को स्थायी समाधान दे सकता है। अपेक्षा इस बात की है कि समाधान के लिए उपयुक्त मानस का निर्माण हो।

आक्रामक मनोवृत्ति को बदलने के उपाय

मैत्री-भावना का अभ्यास आक्रान्ता मनोभावों का सीधा प्रतिकार है। वर्तमान युग में यह बहुत आवश्यक है। प्राचीन समय में आक्रमण शस्त्रीय होते थे। शस्त्र-प्रयोग में बल-प्रयोग अवश्यंभावी है। आज विचारधारा और शासन पद्धति थोपने का प्रयत्न हो रहा है, यह आन्तरिक आक्रमण है। वर्तमान युग में विचारों का विकास बहुत हो चुका है। आज आक्रमण न करना ही पर्याप्त नहीं है। अनाक्रमण वृत्ति-निर्माण से आगे अपेक्षित है समन्वयमूलक मनोभाव, जिनका सृजन नैतिक धरातल पर ही हो सकता है।

पुराने समय में आवेश की क्रियान्विति युद्ध के रूप में होती थी। जिस देश में युद्ध के प्रसंग जितने अधिक उपस्थित होते थे, उस देश का शौर्य उतना ही अधिक विख्यात होता था। किन्तु मानवता की दृष्टि से यह उचित नहीं है। मानवीय दृष्टिकोण आवेश-शमन की प्रक्रिया प्रस्तुत करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ समन्वय की पृष्ठभूमि के लिए प्रशस्त उपक्रम है। जिस नीति के आधार पर संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई, उस नीति को अमल में लाया गया तो राष्ट्र संघ अपना दायित्व निभाने में सक्षम हो सकेगा और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव-मुक्ति का रास्ता निकल सकेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का मुख्य कारण

मेरी दृष्टि में इसका मुख्य कारण है शस्त्र-निर्माण और शस्त्र-विकास। शस्त्र का निर्माण और विकास करने वाला राष्ट्र अभय बनता है, परन्तु शेष राष्ट्र उससे भयभीत हो जाते हैं। भय की प्रतिक्रियास्वरूप शस्त्र-निर्माण की दिशा में प्रतिस्पर्धा उत्पन्न होती है। एक-दूसरे के प्रति भय और सन्देह की स्थिति शान्ति-भंग का मुख्य हेतु है। शस्त्रों से अभय बनने वाला राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभय नहीं रख सकता। 'अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं'—शस्त्रों में परंपरा चलती है। अशस्त्र—अहिंसा में परंपरा नहीं है। जिस राष्ट्र की नीति में दूसरे राष्ट्रों को दबाने के लिए शस्त्रों का विकास किया जा रहा है, वह राष्ट्र विश्व-शान्ति में सबसे अधिक बाधक है। इसलिए निःशस्त्रीकरण की दिशा में विशेष प्रयत्न करना आवश्यक है। वह प्रयत्न एक साथ नहीं होगा, क्योंकि युग-युग से हिंसा के संस्कारों में पोषित जन-मानस अहिंसक शक्ति को पूर्ण रूप से अपनी स्वीकृति नहीं दे सकता। फिर भी धीरे-धीरे सलक्ष्य प्रयत्न करने से इस दिशा में प्रगति की संभावनाएं अवश्य हैं। विश्व-एकता और विश्व सहकार की जो कल्पनाएं प्रबुद्ध व्यक्तियों के मस्तिष्क में उछल-कूद कर रही हैं, उनको साकार करने के लिए शस्त्रों की दौड़ को रोकना ही होगा। मेरे कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि राज्य-संचालन में समग्र रूप से अहिंसात्मक नीति का ही प्रभुत्व रहेगा, ऐसा सोचना अति कल्पना है। कोई भी समाज या राष्ट्र, अहिंसा के ही आधार पर नहीं चल सकता। हिंसा के आधार पर चलने वाला समाज अहिंसा के चरम उत्कर्ष का स्पर्श नहीं कर सकता, क्योंकि अहिंसा नितान्त वैयक्तिक तथ्य है। समाज में उसका प्रयोग हिंसा-शक्ति को निरस्त करने के लिए होता है। इससे हिंसा का प्रभाव क्षीण होता है और अहिंसा का वर्चस्व निखरता है।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सद्भावना की दृष्टि से यह आवश्यक है कि प्रत्येक राष्ट्र अपने नैतिक दायित्वों के प्रति जागरूक रहे। शक्तिशाली राष्ट्र अल्प शक्तिशाली या अल्प विकसित राष्ट्र को हीन न माने। ऐसे राष्ट्रों के प्रति सहानुभूति हो सकती है, पर उन्हें हीन मानना माननीय दृष्टि से अपराध है। ये भौगोलिक सीमाएं वास्तविक नहीं हैं, इनके आधार पर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद की अनुमति सही समझ की परिणति नहीं है। इनको वास्तविक मानने से मनुष्य जाति की एकता खंडित होती है। मानवीय एकता की अनुभूति के लिए अपेक्षित है कि समर्थ राष्ट्र असमर्थ राष्ट्रों को किसी प्रकार की क्षति न पहुंचाएं। वे परस्पर मतभेद की स्थिति में समन्वय की नीति अपनाएं। इससे सद्भावनापूर्ण वातावरण का निर्माण होगा। मैं चाहता हूं कि यह अन्तर्राष्ट्रीय आचार-संहिता विश्व शान्ति की आचार-संहिता बने और इसके आधार पर सम्पूर्ण विश्व अभूतपूर्व शान्ति और सुख उपलब्ध करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युद्ध और अहिंसक प्रतिकार

युद्ध एक चिरकालीन समस्या है। कुछ लोग समस्या का समाधान पाने के लिए युद्ध करते रहे हैं और कुछ लोग युद्ध की समस्या का प्रतिकार करने के लिए सोचते रहे हैं। कुछ लोगों को दृष्टि में शक्ति-सन्तुलन ही युद्ध का प्रतिकार है और कुछ लोगों की दृष्टि में उसका प्रतिकार है अहिंसा। शक्ति-सन्तुलनवादी अस्त्र-शस्त्रों में विश्वास करते हैं, इसका अर्थ है, वे युद्ध में विश्वास करते हैं। अहिंसावादी निःशस्त्रीकरण में विश्वास करते हैं, इसका अर्थ है वे युद्ध में विश्वास नहीं करते। सब अहिंसावादी हों तो युद्ध शब्द का अस्तित्व ही न रहे, पर सब लोग वैसे नहीं हैं। जिनमें साम्राज्य-विस्तार का रस है, भय और संदेह है, जो भौतिकता में सर्वोपरि आस्था रखते हैं, वे युद्ध का अस्तित्व चाहते हैं। उन्होंने युद्ध को भयंकर समस्या के रूप में देखा है, जिनकी आन्तरिक आस्था प्रबल है। वे युद्ध नहीं चाहते, फिर भी उन्हें यह उपाय नहीं मिला है, जिससे युद्ध का अस्तित्व मिट जाय।

पदार्थवाद की दृष्टि से मानव बहुत विकास कर चुका है पर अहिंसा-वाद की दृष्टि से वह अभी बहुत कम विकसित है। जिस दिन सम्पूर्ण मनुष्य जाति युद्ध, अपहरण, शोषण आदि को दास-प्रथा की भांति अमानवीय कर्म मानने लगेगी, उस दिन उसका विकास एक निश्चित रेखा पर होगा। अभी इस स्थिति तक पहुंचने में अनेक शताब्दियों और प्रचुर प्रयत्नों की आवश्यकता है। दास-प्रथा के विरोध में जो आवाज उठी थी, वह हजारों वर्षों के बाद पूर्णतः क्रियान्वित हुई। वैसे ही युद्ध के विरोध में जो प्रबल स्वर उठेगा, वह एक दिन अवश्य ही सफल होगा। हम निराश न हों, युद्ध के विरोध में प्रबल आवाज उठायें और उठाते रहें।

युद्ध का प्रतिकार कैसे ?

आज हमारा तत्काल चिन्तनीय विषय है—युद्ध का प्रतिकार कैसे हो ? हिंसा से हो या अहिंसा से ? शस्त्र से हो या अशस्त्र से ? चीन ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया तब सारे देश में हिंसक-प्रतिकार एवं सशस्त्र प्रतिरोध का स्वर प्रबल हो उठा। यह आश्चर्य की बात नहीं है। हिंसक-प्रतिकार चिरकाल से परिचित है। उसमें मनुष्य की प्रबल आस्था है। अहिंसक-प्रतिकार से वह पूर्णतः परिचित नहीं है। युद्ध के अहिंसक-प्रतिकार का चिन्तन प्राचीन साहित्य में विशेष उपलब्ध भी नहीं है। भगवान् महावीर के श्रावक अनाक्रमण का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्रत लेते थे, पर प्रत्याक्रमण का अधिकार नहीं छोड़ते थे। महाराज चेटक किसी पर आक्रमण नहीं करते थे और आक्रान्ता पर भी एक बार से अधिक प्रहार नहीं करते थे। यह अहिंसक प्रतिकार तो नहीं, किन्तु उस दिशा में एक बहुत साहसी चरण था।

अहिंसक प्रतिकार की विशेष चर्चा महात्मा गांधी से प्रारम्भ होती है। आज का अहिंसावादी यह सोचता है कि अहिंसा में केवल निषेधात्मक ही नहीं, प्रतिकारात्मक शक्ति भी होनी चाहिए। उसके बिना अहिंसा तेजस्वी नहीं बनती। यह प्रतिकार बाहरी साधनों से नहीं हो सकता। यह आत्मबल के विकास पर ही निर्भर है।

युद्ध दोनों पक्षों में

मनुष्य को युद्ध, शस्त्र-बल या पाशविक-शक्ति में विश्वास न हो तो वह युद्ध की अन्त्येष्टि कर सकता है। युद्ध एक पक्ष से नहीं हो सकता, दोनों पक्ष लड़ते हैं, तब वह होता है। एक लड़े और दूसरा न लड़े, तब आक्रमण हो सकता है, युद्ध नहीं। प्रत्याक्रमण न होने पर आक्रमण अपने-आप शिथिल हो जाता है। जैसे झूठी अफवाहों से आक्रान्ता को बल मिलता है वैसे ही प्रत्याक्रमण से भी उसे बल और वेग मिलता है। राक्षस से लड़ो, तुम्हारी शक्ति उसमें संक्रान्त हो जायेगी, उसकी शक्ति दूनी हो जायेगी। उससे मत लड़ो, उसकी शक्ति क्षीण हो जायेगी। प्रत्येक आवेग की यही स्थिति है। युद्ध एक आवेग है। वह एक-पक्षीय होकर प्रबल नहीं हो सकता। वह प्रबल तभी बनता है, जब आवेग के प्रति आवेग आता है, आक्रमण के प्रति आक्रमण होता है। पर जो लोग 'विषस्य विषमौषधं' या 'कण्टकात्कण्टकमुद्धरेत्' या 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' जैसे नीति-वाक्यों में विश्वास करते हैं, वे इस बात में कैसे विश्वास करेंगे कि आवेग के प्रति आवेग न किया जाये; आक्रमण न किया जाये।

दूध का उफान जल का छींटा देने से शान्त होता है। लोग इस प्रक्रिया को जानते हैं पर यह प्रक्रिया सर्वत्र सफल होती है, ऐसा वे नहीं मानते। विश्व में युद्ध के अहिंसक प्रतिकार का कोई उदाहरण भी नहीं है इसलिए उसे सहज मान्यता मिल भी कैसे सकती है? आज तो हमारे लिए यही प्राप्त है कि हम इस विषय पर विशुद्ध चर्चा करें, मन्थन करें. सम्भव है कोई निष्कर्ष निकल आयेगा, नवनीत निकल आयेगा। कोई भी आक्रान्ता अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए दूसरे पर आक्रमण करता है और वह तभी करता है, जब सामने वाला अशक्त और कायर जान पड़ता है। आक्रमण को रोकने के लिए दो ही उपाय हैं—

(१) शक्ति, (२) पराक्रम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शक्ति शस्त्र-सज्जा में होती है और अभय में भी। पराक्रम शरीर में भी होता है और मन में भी। जिन्हें यह भय होता है कि हमारा प्रदेश कहीं दूसरों के हाथ में चला न जाये, वे शस्त्र-शक्ति और शरीर-बल से आक्रमण को विफल करना चाहते हैं और जिन्हें किसी भी बात का भय नहीं होता है, जो केवल मानवीय एकता में अदम्य विश्वास रखते हैं, वे उसे विफल करना चाहते हैं अभय से और मनोबल से। आक्रमण दोनों के लिए असह्य है। पर प्रतिकार की पद्धतियां एक नहीं हैं। मौत से न डरे, यह सैनिक के लिए भी पहली शर्त है और अहिंसक के लिए भी। शस्त्र-सज्जित होना सैनिक की दूसरी शर्त है, किन्तु अहिंसक की नहीं। शरीर-बल का प्रयोग करना सैनिक की तीसरी शर्त है किन्तु अहिंसक की नहीं।

अहिंसक प्रतिकार का मार्ग

जो आक्रमण का अहिंसक प्रतिकार करना चाहेगा—

१. वह अभय होगा, मौत से नहीं डरेगा।
२. वह प्रेम से ओत-प्रोत होगा—मानवीय एकता में अटूट आस्था रखेगा। आक्रान्ता के प्रति मन में घृणा नहीं लायेगा।
३. वह मनोबली होगा—अन्याय से असहयोग करने की भावना को किसी भी स्थिति में नहीं छोड़ेगा।

अभय, प्रेम और मनोबल की दीक्षा से दीक्षित व्यक्ति आक्रमण को जिस तत्परता से विफल कर सकते हैं, उस तत्परता से उसे वे सैनिक विफल नहीं कर सकते, जो शस्त्र-सज्जित और शरीर-बल से समर्थ होते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने इसी भाव से लिखा था—युद्ध में विजय संदिग्ध होती है और जन-संहार निश्चित। इसलिए जब तक दूसरे उपाय सम्भव हों, तब तक युद्ध न किया जाये। मैं इसे इस भाषा में सोचता हूं—युद्ध में विजय निश्चित हो, फिर भी वह न किया जाये। क्योंकि वह समस्या का समाधान नहीं। वैज्ञानिक युग का मनुष्य क्या वायुयान को छोड़ बैलगाड़ी में यात्रा करना पसन्द करेगा? आज का बुद्धिवादी मनुष्य विश्व-राज्य की कल्पना को छोड़ युद्ध करना पसन्द करेगा? युद्ध आज के विकसित मानव के सिर पर कलंक का टीका है। सचमुच इसे दफनाकर ही मनुष्य अपने-आपको बुद्धिवादी कहाने का अधिकारी है।

जो लोग यह सोचते हैं कि आक्रमण प्रत्याक्रमण से ही विफल हो सकता है, उनका चिन्तन विकल्प-शून्य है। किन्तु अहिंसावादी का चिन्तन निर्विकल्प नहीं है। उसकी दृष्टि में प्रत्याक्रमण का विकल्प है, अहिंसक प्रतिकार।

कुछ लोग यह मानते हैं—हिंसक प्रतिकार की अपेक्षा अहिंसक प्रति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार श्रेष्ठ है, पर प्रश्न यह है कि वह कैसे किया जाये ? मैं मानता हूं— अनुशासन, अभय, प्रेम और मनोबल का विकास हो तो अहिंसक प्रतिकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती। हमें जनता को इन तीन बातों से दीक्षित करना चाहिए कि वह आक्रमण का अहिंसक प्रतिरोध करने के लिए आक्रान्ता का सहयोग न करे, उसका शासन स्वीकार न करे और उसके अनुचित पग का विरोध करे। चौथी बात यह है कि जब तक आक्रान्ता अपने देश से लौट न जाये, तब तक इस प्रतिकार-पद्धति में शिथिलता न आने दें। यह प्रतिकार की पद्धति कभी विफल नहीं होगी। यह सही है कि आक्रान्ता के साथ असहयोग करने पर कष्ट झेलने पड़ते हैं, उसका शासन स्वीकार न करने पर यातनाएं सहनी पड़ती हैं, उसका विरोध करने पर बाधाओं का सामना करना पड़ता है, किन्तु यह सब सहे जा सकते हैं जब अहिंसा जनता का आत्म-धर्म बनता है और उसकी आराधना के लिए वह अनुशासित, अभय, प्रेममय और मनोबली बनता है।

महात्मा गांधी अहिंसा को धर्म मानते थे और कांग्रेस ने उसे नीति के रूप में स्वीकार किया था। महात्मा गांधी जन-मानस के प्रेरक थे और कांग्रेस ने शासन का भार संभाला। यही कारण है कि कांग्रेस सरकार ने शस्त्र-सज्जा को प्रोत्साहन दिया और अहिंसक प्रतिकार का मार्ग चुना। अहिंसा उसका धर्म होता तो ऐसा कभी नहीं होता पर वह उसकी नीति थी, इसलिए उसमें परिवर्तन हुआ। धर्म सर्वथा अपरिवर्तनीय होता है, नीति अपरिवर्तनीय नहीं होती।

मेरे लिए अहिंसा नीति नहीं किन्तु आत्म-धर्म है। मैं उसे छोड़ कोई अन्य बात सोच ही नहीं सकता। हिंसा का समर्थन मेरे लिए सर्वथा असम्भव है। मैं भारतीय नागरिक को यही परामर्श दूंगा कि वह अहिंसा के प्रतिकार के लिए शक्ति-संचय करे और युद्ध के कगार पर खड़े हुए विश्व के सामने एक आलम्बन प्रस्तुत करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युद्ध का समाधान : अहिंसा

अहिंसा के द्वारा यदि हम प्रतिरोध की बात करते हैं तब वैसे ही प्रतिरोधात्मक अस्त्रों को ढूंढना होगा। गांधीजी ने इस क्षेत्र में सविनय अवज्ञा आन्दोलन, सत्याग्रह, धरना आदि कुछ साधनों का प्रयोग किया था। आज भी इनका प्रयोग हमें यदा-कदा देखने-सुनने को मिलता है। किन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि गांधीजी के समय इन अस्त्रों में जो प्रभाव था, वह आज नष्ट हो गया है। ऐसा क्यों हुआ ? इसके उत्तर में मुझे ऐसा जंचता है कि आज इन प्रवृत्तियों की विशुद्धता विलुप्त हो गयी है।

इन साधनों का प्रयोग करने वाले आज भी गांधी और उनके आदर्शों और उन आदर्शों को प्राप्त करने के साधनों का बखान करते हैं, किन्तु फिर भी आम जनता को उन साधनों की भूमिका में विशुद्धता नजर नहीं आती। मैंने पहले भी कहा था कि अहिंसात्मक प्रतिरोध में देश, काल और परिस्थिति का विचार करते हुए निर्णय होना चाहिए; वैसे ही इसके लिए आग्रहमुक्तता, तटस्थ और विनम्र दृष्टिकोण तथा आत्मोत्सर्ग का तीव्र भाव होना भी जरूरी है। इन सबके अभाव में इन साधनों की पवित्रता समाप्त हो जाती है और वे हतप्रभ हो जाते हैं।

मैं ऐसा मानता हूं कि अहिंसात्मक प्रतिरोध में अपने सहयोग का समाहरण हो सकता है। अपने असहयोग के द्वारा दूसरे व्यक्ति को बाध्य भी किया जा सकता है, किन्तु उसमें बलात्कार मान्य नहीं। बलात्कार स्वयं हिंसा है। अपने विचारों को मनवाने के लिए अपने सहयोग का समाहरण एक अलग बात है और उसके लिए प्रतिपक्ष को बलात् बाध्य किया जाए, यह एक अलग बात है। हम घेराव को ही लें। घेराव में हिंसात्मक उपकरण का आश्रय नहीं लिया जाता, यह ठीक है। फिर भी मैं इसे अहिंसा के साधन में नहीं ले सकता, क्योंकि इसमें आत्मोत्सर्ग की भावना विलुप्त है। प्रतिपक्ष को इसमें एक प्रकार से कैद कर लिया जाता है। अहिंसा में अपने उत्सर्ग से सामने वाले को बाध्य किया जा सकता है। अपनी शक्ति (समूह-शक्ति) से किसी को बाध्य किया जाना अहिंसा नहीं है। शक्ति का प्रयोग ही हिंसा है, फिर चाहे वह किसी भी प्रकार की क्यों न हो।

इस प्रकार सविनय अवज्ञा आन्दोलन, सत्याग्रह, घेराव आदि साधनों की भूमिका में विशुद्धता, तटस्थ दृष्टिकोण, देश, काल और परिस्थितियों का सही विचार और आत्मोत्सर्ग की भावना निहित हो तो मैं समझता हूं, अहिंसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को इन्हें स्वीकारने में संकोच नहीं है। वे आधार ही इन साधनों को सफल बनाने वाले हैं।

इन आधारों की गौणता भी सफलता में संदेह उत्पन्न करती है। गांधीजी जब नमक का कानून तोड़ने के लिए दण्डी-यात्रा पर निकले, उन्होंने बहनों को उस सत्याग्रह में नहीं लिया। कस्तूरबा, मीठू बहन आदि को यह बहुत अखरा। उन्होंने गांधीजी से शिकायत के स्वर में कहा—आप जब स्त्रियों को पुरुषों के समान दर्जा देने की बात करते हैं, फिर इस सत्याग्रह में हमें शरीक क्यों नहीं कर रहे हैं? क्या आपको हमारी क्षमता और बलिदान की भावना में संदेह है? यदि नहीं तो हमें आपको इस आन्दोलन में शरीक करना होगा।

गांधीजी ने कहा—मुझे तुम लोगों की क्षमता और बलिदान की भावना में कोई संदेह नहीं है। फिर भी मैं तुम्हें इस आन्दोलन में नहीं ले रहा हूं, इसका दूसरा कारण है। तुम जानती हो, अंग्रेज एक सभ्य जाति है। वह कदाचित् स्त्रियों पर हाथ न उठाए और स्त्रियों को देखकर हम लोगों पर भी अनुकम्पा कर दे। मैं नहीं चाहता कि इस कारण से लाठी-चार्ज या गोली-चार्ज न हो, क्योंकि हमारे साथ में महिलाएं हैं। दूसरे, इस आन्दोलन में महिलाओं के शामिल होने को अन्य लोग सहज ही हमारे बचाव के साधन के रूप में मानेंगे। मैं चाहता हूं, स्वयं-सेवकों के बलिदान में कोई बाधा न आए और यह आन्दोलन कमजोर न बने, इसलिए मैं इस सत्याग्रह में महिलाओं को शामिल होने की अनुमति नहीं दे सकता हूं।

इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा को किस भूमिका तक कौन-सी चीज मान्य है? उस भूमिका के अभाव में वही साधन अमान्य हो सकता है। आज मुझे इस पवित्र भूमिका का अभाव नजर आता है। फिर कोई भी साधन समुचित कैसे ठहर सकता है? प्रश्न साधनों का नहीं, भूमिका निर्माण का है।

क्या अहिंसा युद्ध का समाधान बन सकती है?

युद्ध का समाधान असंदिग्ध रूप से अहिंसा ही है। हिंसा में कभी अन्त न होने वाली शस्त्र-परम्परा है। शस्त्र-परम्परा से कभी युद्ध का अन्त आ ही नहीं सकता।

युद्ध का वास्तविक अन्त अहिंसा से ही संभव है। शक्ति-संतुलन के अभाव में बंद होने वाले युद्ध का अन्त नहीं होता। वह विराम दूसरे युद्ध की तैयारी के लिए होता है, शक्ति-संचय के लिए होता है। इसलिए ही तो आज की शान्ति का अर्थ है—दो युद्धों का वह मध्य-काल, जिसमें अग्रिम युद्ध की पूर्व तैयारी होती है।

यह अहिंसा का सिद्धान्त पक्ष है कि युद्ध का वास्तविक समाधान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा ही है। अब हम इसके व्यवहार-पक्ष को लें। युद्ध अपने आप में देश, काल और परिस्थितियों की विवशता है। परस्पर टकराने वाली परिस्थितियां ही युद्ध को जन्म देती हैं किन्तु क्या युद्ध उन परिस्थितियों का समाधान भी है? समाधान आपसी सौहार्द और मित्र-भाव में से ही आ सकता है। इससे स्पष्ट है युद्ध परिस्थितियों को दबा सकता है, शान्त नहीं कर सकता। दबी हुई चीज जब भी अवसर पाकर उफनती है, दुगुने वेग से उभरती है। दूसरा महायुद्ध और तीसरे महायुद्ध की चिनगारियां इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। इस हालत में एकमात्र अहिंसा में ही इसका आश्वासन दीखता है।

अहिंसा में परिस्थितियों के समापन की क्षमता है किन्तु यह युद्ध के पूर्व या पश्चात् के समय में कार्यकर होती है। युद्ध के समय में अहिंसा क्या करे, इस प्रश्न का उत्तर तो कठिन नहीं; व्यवहार अवश्य कठिनता लिये है। क्योंकि उस व्यवहार के लिए समुचित भूमिका, प्रभावशाली नेतृत्व, अहिंसा के प्रति अनन्य निष्ठा और उसके लिए मर-मिटने वाले बलिदानियों की अपेक्षा है। जब तक इनका अभाव होता है, तब तक अहिंसा में तेज नहीं आ सकता। निस्तेज अहिंसा हिंसा से भी गयी-गुजरी होती है।

युद्ध एक भयंकर ज्वर है। ज्वर के उपशमन के लिए उसका भीतरी ताप निकलना जरूरी होता है। इस दृष्टि से कभी-कभी युद्ध को आवश्यक भी समझा जाता है। उत्ताप का उपशमन हो, इसमें कोई दो मत नहीं। किन्तु उस शमन का मार्ग युद्ध ही हो, यह अवश्य विचारणीय है। शरीर-शास्त्रियों का अभिमत है कि तेज ज्वर को एकदम तोड़ देना अथवा कृत्रिम साधनों से उसे कम करने का प्रयत्न करना अनेक दूसरी प्रतिक्रियाओं को जन्म देना है। यह दूसरे अनेक रोगों का कारण है। इनकी अपेक्षा उस उत्ताप को सहज रूप से और अपनी सहज गति से बाहर निकलने देना, अनेक रोगों से मुक्ति पाने का रास्ता है। उपवास, ठण्ड और गर्मी का संतुलन आदि साधनों से भयंकर ज्वर भी स्वास्थ्य के लिए वरदान बन जाते हैं।

यही विचार अहिंसा के साथ मैं देखता हूं। वैसे तो युद्ध की नियम-संहिता भी क्या अहिंसापरक नहीं है? अस्पताल, धर्म-स्थान, स्कूल-कॉलेजों आदि पर आक्रमण नहीं करना, आबादी वाले स्थानों पर बमबारी नहीं करना, असैनिक ठिकानों पर आक्रमण नहीं करना आदि अनेक नियम मानवीय दृष्टि-कोण पर ही आधारित हैं।

इसी विचार को और अधिक विकसित किया जा सकता है। भरत और बाहुबली के बीच युद्ध का होना अनिवार्य हो गया, तब यह सोचा गया कि सारी निरीह जनता को इन युद्ध की लपटों में क्यों झोंका जाए? संघर्ष जब दो व्यक्तियों के बीच है, तब शेष प्रजा को यह उत्पीड़न क्यों दिया जाए? द्वन्द्व-युद्ध हो, जिससे शक्ति-परीक्षा हो जाए और लाखों की संख्या में होने वाला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नरसंहार भी टल जाए। अन्ततः यही हुआ और एक भीषण नरसंहार सहज ही टल गया।

यह विचार अहिंसा की ओर एक कदम है। उन परिस्थितियों में यह एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग था। आज की परिस्थितियां भिन्न हैं। फिर भी इस उदाहरण के आधार पर कोई व्यावहारिक समाधान निकाला जा सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है। सिद्धांत-पक्ष को व्यावहारिक रूप मिलना जरूरी है। युद्ध की परिस्थितियों और परिणामों को देखते हुए विश्वास और आश्वासन भी अहिंसा में ही दीखता है। आवश्यकता केवल एक व्यापक नेतृत्व की है, जिसका अभाव अब समाप्त हो, यह जरूरी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणुबम नहीं : अणुव्रत चाहिए

'विज्ञान और तकनीकी विकास के कारण मनुष्य को संहार की भयानक शक्ति मिल गई है। पर प्रश्न यह है कि क्या उसमें मानव जाति को बचाने की भी समझदारी आई है? आज हमारे सामने सबसे बड़ी चुनौती मानवता के प्रति निष्ठा और लगाव पैदा करने की है।' एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के उद्घाटन भाषण में भारत के प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी के उक्त विचार इस बात के साक्षी हैं कि आज देश के चिन्तनशील और दायित्वशील लोगों को सबसे बड़ी चिन्ता मानवता को बचाने की है। यह एक प्रासंगिक और अपेक्षित चिन्ता है। आज मानवता को बचाने से अधिक कोई करणीय काम प्रतीत नहीं होता। मनुष्य औद्योगिक और यांत्रिक विकास कर पाए या नहीं, इनसे मानवता की कोई क्षति नहीं होने वाली है, किन्तु उसमें मानवीय गुणों का पर्याप्त विकास नहीं होता है तो कुछ भी नहीं होता है। एक मानवता बचेगी तो सब कुछ बचेगा। जब इसकी सुरक्षा नहीं हो पायी तो क्या बचेगा? और उस बचने का अर्थ भी क्या होगा?

मनुष्य एक सर्वाधिक शक्तिशाली प्राणी है, इस तथ्य को सभी धर्मों ने स्वीकार किया है। पर मानव जाति का दुर्भाग्य यह रहा कि उसकी शक्ति मानवता के विकास में खपने के स्थान पर उसके ह्रास में खप रही है। मानवता की सुरक्षा के लिए जिस ऊर्जा को संगृहीत किया गया था, वह हथियार का रूप लेकर उसका संहार कर रही है। मनुष्य के मन की धरती पर उगी हुई करुणा की फसल क्रूरता से भावित होकर धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है। यह एक ऐसा भोगा हुआ यथार्थ है, जिसे कोई भी संवेदनशील व्यक्ति नकार नहीं सकता।

पानी को जीवनदाता माना जाता है, सर्वोत्तम तत्त्व माना जाता है फिर भी उसके स्वभाव की विचित्रता यह है कि वह ढलान का स्थान प्राप्त होते ही नीचे की ओर बहने लगता है। दूसरों को जीवन देने वाला जल भी जब नीचे की ओर जाने लगे तो उसे कौन रोक सकता है? यही स्थिति आज के मनुष्य की है। सर्वाधिक शक्तिशाली होकर भी वह स्वयं का दुश्मन हो जाए, करुणा को भूलकर क्रूर बन जाए तो उसे कौन समझा सकता है?

भगवान् महावीर ने कहा है—'पुरिसा! तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि'—पुरुष जिसे हंतव्य मानता है, वह तू ही है, केवल तू ही। इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शाश्वत सत्य का संदेश या तो उन लोगों तक पहुंचा नहीं है या उन्होंने इसे सुनकर भी अनसुना कर दिया है, जो अपनी बुद्धि और शक्ति को मनुष्य जाति के व्यापक हनन में लगा रहे हैं।

इस बात को सब मानते हैं कि विज्ञान ने बहुत तरक्की की है। यह बहुत अच्छी बात है। विज्ञान की प्रगति से अनेक अज्ञात रहस्यों पर गिरा हुआ पर्दा हटा है, किन्तु इस बात को भी हमें नहीं भूलना चाहिए कि विज्ञान में तारक और मारक दोनों शक्तियां होती हैं। कोई आदमी उसकी तारक शक्ति को भूलकर मारक शक्ति को ही काम में लेने लगे, इसमें विज्ञान का क्या दोष ?

पौराणिक मान्यता के अनुसार भगवान् ने आदमी को दो पुड़िया दीं और कहा—एक पुड़िया में पैसा है और दूसरी में ईमान। तुम पैसा बिखेरते जाओ और ईमान बटोरते जाओ। आदमी ने दोनों पुड़िया हाथ में ली। एक पुड़िया को उसने बिखेर दिया और दूसरी को सहेजकर रख लिया। रख तो लिया, पर कुछ उल्टा हो गया। उसने पैसे के स्थान पर ईमान को बिखेर दिया और ईमान के बदले पैसे को बटोर कर रख लिया।

यही बात विज्ञान के संदर्भ में है। उसके साथ मानवता या मानव जाति को बचाने की जो विलक्षण शक्ति है, उसे भुला दिया गया और संहार की भयानक शक्ति को उजागर किया गया। इस विपर्यास को दूर करने के लिए सम्यक् दृष्टिकोण के निर्माण की आवश्यकता है। विज्ञान की देन अणुबम की विभीषिका को समाप्त करने में अणुव्रत की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। मानवता को बचाने की चिन्ता करने वाले किसी भी व्यक्ति का घोष होगा—'अणुबम नहीं, अणुव्रत चाहिए।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एटमी युद्ध टालने की दिशा में पहला प्रयास

८ दिसम्बर १९८७ का दिन विश्व इतिहास का महत्त्वपूर्ण दिन हो गया। इस दिन अमेरिका के 'व्हाइट हाउस' में सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाचेव और अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने मध्यम दूरी के परमाणु प्रक्षेपास्त्र समाप्त करने की संधि पर हस्ताक्षर कर दिए। दुनिया को एटमी युद्ध के खतरे से उबारने के लिए किए गए प्रयत्नों में यह प्रथम सफल प्रयत्न है। इससे पहले सन् १९८५ में जेनेवा में और सन् १९८६ में रिक्याविक में इस आशय की दो बैठकें हुई थीं, जो सफल नहीं हो सकी।

सन् १९८६ के नवम्बर महीने में गोर्बाचेव भारत आए थे। भारत के प्रधानमंत्री राजीव गांधी से वे मिले। दोनों नेताओं ने शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व और इस सदी के अन्त तक आणविक अस्त्रों को नष्ट करने की दृष्टि से बात-चीत की और एक दस-सूत्री घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किए। उस घोषणापत्र के कुछ सूत्र ये हैं—

- अहिंसा को सामाजिक जीवन का आधार माना जाए।
- भय और सन्देह की जगह सद्भाव और विश्वास का वातावरण बनाया जाए।
- शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का आधार बनाया जाए।
- परमाणु हथियार मुक्त और अहिंसक विश्व बनाने के लिए तुरन्त ठोस कार्यवाही की जाए।

इन सूत्र को पढ़ने से ऐसा नहीं लगता कि सोवियत और भारत के शीर्षस्थ नेताओं ने ऐसे सूत्र दिए हैं। इन सूत्रों में भगवान् महावीर की आत्मा बोल रही है, महात्मा गांधी की आत्मा बोल रही है। इस घोषणा पत्र के लिए हमने ५ नवम्बर १९८९ को अणुव्रत भवन में मिलने के अवसर पर भारत के प्रधानमंत्री राजीव गांधी को साधुवाद दिया और उनके माध्यम से सोवियत नेता गोर्बाचेव तक हमारा साधुवाद पहुंचाने का संकेत किया। सोवियत नेता देर-सवेर अहिंसा के रास्ते पर आए, यह भारत के लिए भी गौरव की बात है। उस घोषणा-पत्र के संबंध में कुछ लोगों की यह प्रतिक्रिया थी कि अहिंसा और निःशस्त्रीकरण की बात करना सरल है, पर एक साम्यवादी राष्ट्र द्वारा उसकी स्वीकृति बहुत कठिन है।

कौन-सा काम कठिन है और कौन-सा सरल ? इसका निर्णय तो समय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही कर सकता है। घोषणा-पत्र के कुछ कार्यक्रम अविलम्ब लागू हो गए। कुछ कार्यक्रम अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों से संबंधित थे। उनकी क्रियान्विति के लिए अनुकूल समय की अपेक्षा थी और सम्बन्धित देशों के नेताओं की सहमति भी आवश्यक थी। इस दृष्टि से काम वहीं तक रुका नहीं। अहिंसा की दिशा में कदम आगे बढ़े और असंभव सम्भव हो गया। दुनिया को परमाणु हथियारों से मुक्त करने की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण समझौता हो गया। यह समझौता हुआ उन दो महाशक्तियों में, जिनके संतुलन पर पूरे विश्व का संतुलन टिका हुआ है।

पिछली दो बार की असफल वार्ताओं के दौर ने दोनों राष्ट्रों के नेताओं को हतोत्साह नहीं किया। 'तीजे लोग पतीजे' इस कहावत के अनुसार सोवियत और अमेरिका की तीसरी शिखर वार्ता पूरी तरह से सफल हो गई। इस वार्ता में पांच सौ से पांच हजार कि० मी० दूरी तक भूमि पर से मार करने वाले प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट करने का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। कहा जाता है कि प्रक्षेपास्त्र दोनों देशों के शस्त्रागार के महत्त्वपूर्ण हथियार हैं। इससे अगले समझौते में हथियारों के जखीरे को आधा कर देने की संभावना पुष्ट की जा रही है। यह समझौता सन् १९८८ के बसन्त में मास्को में करने की घोषणा 'व्हाइट हाउस' से की जा चुकी है।

गोर्बाचेव और रीगन के बीच हुए इस समझौते का दुनिया के प्रायः सभी देशों ने हार्दिक भाव से स्वागत किया है। कोई देश इसे सुखद भविष्य की शुरूआत बता रहा है, तो किसी की दृष्टि में यह यूरोप की सुरक्षा का सपना साकार हुआ है। चारों ओर से प्राप्त होने वाली बधाइयां इस बात की साक्षी हैं कि कोई भी व्यक्ति, वर्ग, समाज या राष्ट्र हिंसा नहीं चाहता। एटमी आयुध हिंसा के मूर्त प्रतीक हैं। इनसे भय, प्रतिशोध और प्रतिस्पर्धा के भाव जागते हैं। इन आयुधों के रहते हुए कोई भी निश्चिन्त होकर नहीं बैठ सकता। पड़ोसी या दुश्मन देशों के पास ऐसे आयुध हों तो किसी भी राष्ट्र के सामने बड़ी चुनौती खड़ी हो जाती है। उस चुनौती का मुकाबला करने के लिए वह शिक्षा, संस्कृति, मानवीय मूल्य आदि तत्त्वों को गौण कर अपनी सारी शक्ति सेना और शस्त्रों पर लगा देता है। इससे राष्ट्र के विकास में जो बाधाएं आती हैं, वे किसी से अज्ञात नहीं हैं।

अमेरिका आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न राष्ट्र है और रूस की शस्त्र-सम्पदा को अमेरिका से बेहतर माना जाता है। अमेरिका अपनी अर्थ-शक्ति के बल पर रूस की शस्त्र-शक्ति से आगे बढ़ जाए तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य है इन दोनों महाशक्तियों द्वारा अपनी आणविक शक्तियों को नष्ट करने का फैसला। यह एक ऐसा फैसला हुआ है, जिसे बहुत वर्षों पहले हो जाना चाहिए था। पर 'जब जागे तभी सवेरा' अब भी दुनिया के बड़े-बड़े

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देश अहिंसा की शरण में चले जाएं और शस्त्र-निर्माण में लगी हुई अपनी चेतना को वहां से हटा लें तो विश्व-शान्ति के क्षेत्र में बड़ी उपलब्धि हो सकती है।

पूर्वाग्रह, भय, अहम्, संदेह, स्पर्धा आदि जिन-जिन कारणों से हिंसा को बल मिलता है, उन्हें समाप्त करना जरूरी है। जिस दिन अणु-अस्त्रों पर संपूर्ण प्रतिबन्ध लगेगा, क्रूर हिंसा रूपी राक्षसी को कील दिया जाएगा, वह दिन समूची मानव जाति के लिए महान उपलब्धि का दिन होगा। यह मेरा व्यक्तिगत सपना है। मेरा ही क्यों, न जाने कितने-कितने लोगों का सपना है। हम सब मिलकर प्रयत्न करें और मंगल-कामना करें कि शान्ति का जो द्वार खुला है, वह खुलता ही चला जाए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज और अपरिग्रह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति और समाज

व्यक्ति और समाज--ये दो वास्तविकताएं हैं। व्यक्तिवादी दार्शनिकों का सिद्धांत यह है—'मनुष्य समाज से बाहर का मानव-प्राणी है अथवा रह सकता है।' इस मान्यता में यह विचार निहित है कि मनुष्य समाज में प्रवेश करने के पूर्व व्यक्ति विशेष है। वह अपनी संपत्ति, अधिकार, जीवन की सुरक्षा अथवा अन्य किसी इच्छित उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करता है।

समाजवादी दार्शनिकों का सिद्धांत यह है—व्यक्ति और समाज को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। मानव-विकास के इतिहास में व्यक्ति और समाज दोनों का समान रूप से प्राधान्य है।

अनेकान्तवाद व्यक्ति और समाज की सापेक्ष व्याख्या करता है। व्यक्ति में वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों के मूल तत्त्व सन्निहित होते हैं। क्षमताओं का होना व्यक्ति की वैयक्तिकता है, उनका अभिव्यक्त होना व्यक्ति की सामाजिकता है। इसलिए व्यक्ति और समाज भिन्न-भिन्न हैं। व्यक्ति की वैयक्तिकता कभी खंडित नहीं होती। उसका कभी विनिमय नहीं होता। व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग बनकर भी व्यक्ति ही रहता है। इस अर्थ में व्यक्ति समाज से भिन्न भी है। व्यक्ति अपनी आकांक्षा, अपेक्षा और कर्म का विस्तार करता है, विनिमय और परस्परता का सम्बन्ध स्थापित करता है, इस अर्थ में वह समाज से अभिन्न भी है। व्यक्ति की सीमा संवेदन है। एक व्यक्ति को प्रेम, हर्ष, भय और शोक का संवेदन होता है, वह नितान्त वैयक्तिक है। वह संवेदन साधारण नहीं है। उसका विनिमय नहीं होता। वह दूसरों को दिया नहीं जा सकता। विनिमय व्यक्ति और समाज के बीच का सेतु है। उसके इस ओर व्यक्ति है, उस ओर समाज। व्यक्ति का मूल आधार है संवेदन और समाज का मूल आधार है विनिमय। वस्तु सामाजिक है, क्योंकि उसका विनिमय किया जा सकता है। संवेदन वैयक्तिक है, क्योंकि उसका विनिमय नहीं किया जा सकता।

समाजशास्त्री मेकाइवर के अनुसार 'समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है।' 'समाज सामाजिक सम्बन्धों की एक पद्धति है, जिसके द्वारा हम जीते हैं। समाजशास्त्री ग्रीन के अनुसार 'समाज एक बड़ा समूह है जिससे हर व्यक्ति संबद्ध है। इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सम्बन्ध स्थापित होता है और जीने के लिए हर व्यक्ति के लिए सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। संवेदन न स्थापित होता है और न वह जीने के लिए आधारभूत है। वह स्वाभाविक है। संवेदना की अपेक्षा से व्यक्ति वास्तविक है और जीवन-यापन की अपेक्षा से समाज वास्तविक है। इन दोनों की वास्तविकता में कोई विरोध नहीं है। व्यक्ति समाज को वास्तविक मानकर ही सुखपूर्वक जी सकता है और समाज की वास्तविकता को ध्यान में रखकर सामाजिक मूल्यों की सुरक्षा कर सकता है।

समाज-व्यवस्था के आधार तत्त्व दो हैं—काम और अर्थ। काम की सम्पूर्ति के लिए सामाजिक सम्बन्धों का विस्तार होता है। अर्थ काम-संपूर्ति का साधन बनता है। धर्म (विधि-विधान) के द्वारा समाज की व्यवस्था का संचालन होता है। प्राचीन समाजशास्त्रियों में से कुछेक ने काम को मुख्य माना और कुछेक ने धर्म को। महामात्य कौटिल्य ने अर्थ को मुख्य माना। उन्होंने कहा—काम और धर्म का मूल अर्थ है। इसलिए इस त्रिवर्ग में अर्थ ही प्रधान है। आधुनिक समाजवादी समाज-व्यवस्था में भी अर्थ की प्रधानता है। वह अर्थ पर ही आधारित है। अर्थाधारित समाज-व्यवस्था में व्यक्ति का स्वतन्त्र मूल्य नहीं हो सकता। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को नियंत्रित किए बिना समाजवादी व्यवस्था फलित नहीं हो सकती। व्यक्ति अपने संवेदनों को जितना मूल्य देता है, उतना दूसरों के संवेदनों को नहीं देता। इसलिए व्यक्तिवादी समाज-व्यवस्था में दो स्थितियां निर्मित हुईं—स्वार्थ की अपेक्षा और परार्थ की उपेक्षा। फलतः उस व्यवस्था में अप्रामाणिकता, अनैतिकता, शोषण और भ्रष्टाचार जैसी बुराइयां पनपीं। इन बुराइयों से संत्रस्त समाज ने समाजवादी व्यवस्था के द्वारा स्वार्थ और परार्थ की खाई को पाटने का प्रयत्न किया। व्यक्ति को व्यक्तिवादी समाज-व्यवस्था जितना स्वतन्त्र मूल्य दिए जाने पर उस खाई को पाटा नहीं जा सकता। इसलिए इस व्यवस्था में व्यक्ति को समाज के एक पुर्जे का स्थान देना पड़ा।

व्यक्तिवादी समाज-व्यवस्था में सामाजिक विषमता फलित होती है। उसमें कुछ लोग सम्पन्न होते हैं और जन-साधारण विपन्न रहता है। सम्पन्न लोग भोग-विलास में आसक्त रहते हैं। वे अपनी सुख-सुविधा की ही चिन्ता करते हैं, दूसरों के हितों की चिन्ता नहीं करते। उनकी इन्द्रियपरक आवश्यकताएं बढ़ जाती हैं। वे भोग से हटकर अन्य विषयों पर विचार के लिए समय ही नहीं निकाल पाते। विपन्न लोगों को इन्द्रियपरक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अत्यन्त श्रम करना होता है। उन्हें विचार का अवसर ही नहीं मिलता। इस इन्द्रियपरक समाज-रचना में सामाजिक विषमता चलती रहती है। राजतंत्र का इतिहास इस बात का साक्षी है। विचारपरक समाज-रचना का श्रीगणेश उन लोगों ने किया जो भोग में लिप्त नहीं थे। उस विचारपरक समाज-रचना ने ही समाजवादी समाज-व्यवस्था को जन्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया। महावीर ने न समाज की व्यवस्था की और न समाज-व्यवस्था का दर्शन दिया। उन्होंने धर्म की व्याख्या की और धर्म का दर्शन दिया। वह धर्म-दर्शन न व्यक्तिवादी है, और न समाजवादी। वह आत्मवादी है। व्यक्ति का मानदंड संवेदन है, समाज का मानदण्ड विनिमय। धर्म का मानदण्ड इन दोनों से भिन्न है। उसका मानदण्ड संवेदनातीत चेतना और अकर्म है।

जैन दर्शन समाज-व्यवस्था का सूत्र नहीं देता, काम और अर्थ का दिशा-निर्देश नहीं देता, जीवन की समग्रता का दर्शन नहीं देता, इसलिए वह अपूर्ण है। यह तर्क उपस्थित किया गया है और यह तथ्य से परे भी नहीं है। जैन दर्शन में मोक्ष की मीमांसा प्रधान है। मोक्षवादी दर्शन का मुख्य कार्य धर्म की मीमांसा करना होता है। इस सन्दर्भ में धर्म का अर्थ भी बदल जाता है। काम और अर्थ के सन्दर्भ में धर्म का अर्थ समाज-व्यवस्था के संचालन का विधि-विधान होता है। मोक्ष के संदर्भ में उसका अर्थ होता है—चेतना का शोधन। महावीर ने जितने निर्देश दिए, वे सब चेतना की शुद्धि के लिए दिए। उन निर्देशों से अर्थ और काम प्रभावित होते हैं, स्वार्थ पर नियंत्रण और समाजवादी समाज-व्यवस्था को आधार प्राप्त होता है, किन्तु इनके लिए महावीर ने कुछ किया, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्या मोक्षवादी दर्शन ऐसा कर सकता है ?

हिंसा और परिग्रह को सर्वथा समाज-व्यवस्था में से पृथक् नहीं किया जा सकता। मोक्ष-धर्म का मौलिक आधार है—अहिंसा और अपरिग्रह। अतः समाज-व्यवस्था और मोक्ष-धर्म को एक आधार नहीं दिया जा सकता। मोक्ष-धर्म समाज-व्यवस्था को हिंसा और परिग्रह के अल्पीकरण का दिशानिर्देश देता है। यह समाजवादी समाज-व्यवस्था के हित-पक्ष में है, इसलिए इस बिन्दु पर इन दोनों का मिलन हो सकता है। किन्तु दोनों का मौलिक आधार एक नहीं है।

व्यक्तिवादी समाज-व्यवस्था स्वार्थ-शासित थी, इसलिए उसमें व्यक्तिगत संग्रह पर कोई अंकुश नहीं था। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ क्रूरता के लिए भी पूरा अवकाश था। समाजवादी समाज-व्यवस्था राज्य-सत्ता से शासित है, इसलिए इसमें सम्पत्ति पर समाज का प्रभुत्व है। इसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता सीमित हो जाती है। मोक्ष-धर्म से प्रभावित समाज-व्यवस्था करुणा-शासित होती है। इसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता और संग्रह पर अंकुश—दोनों फलित हो सकते हैं। किन्तु इसके लिए सामाजिक चरित्र को और अधिक उदात्त करने की अपेक्षा है।

क्या अनेकान्त के द्वारा समाज-व्यवस्था और मोक्ष-धर्म की एकता स्थापित नहीं की जा सकती ? क्या हिंसा और अहिंसा, परिग्रह और अपरि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रह में अविरोध स्थापित नहीं किया जा सकता ? अनेकान्तवादी समन्वय और सापेक्षता के द्वारा विरोध में अविरोध की व्याख्या करता है, इसलिए यह प्रश्न होना स्वाभाविक है। किन्तु हम इस तत्त्व की उपेक्षा कर अनेकान्त को नहीं समझ सकते कि जिस गुण की अपेक्षा से विरोध होता है, उसी गुण की अपेक्षा से अविरोध नहीं होता। पदार्थ में नित्य और अनित्य—दोनों गुण अविरोधी हैं। किन्तु जिस गुण की अपेक्षा से पदार्थ नित्य है, उसी गुण की अपेक्षा से वह नित्य नहीं है। किन्तु नित्य और अनित्य—दोनों गुण एक ही पदार्थ में अविरोधी भाव से रहते हैं। इसीलिए पदार्थ नित्यानित्यात्मक होता है और उस पदार्थ की सापेक्षदृष्टि से सामंजस्यपूर्ण व्याख्या की जा सकती है। समाज-व्यवस्था में हिंसा और अहिंसा, परिग्रह और अपरिग्रह—दोनों तत्त्व अविरोधभाव से रहते हैं। अनेकान्त के द्वारा समाज-व्यवस्था और मोक्ष-धर्म की एकता स्थापित नहीं की जा सकती। हिंसा और अहिंसा तथा परिग्रह और अपरिग्रह में अविरोध स्थापित नहीं किया जा सकता किन्तु समाज-व्यवस्था के साथ उनके सहावस्थान की व्याख्या की जा सकती है। हिंसा और परिग्रह को समाज-व्यवस्था से पृथक् नहीं किया जा सकता, इस अपेक्षा से समाज व्यवस्था और मोक्ष-धर्म में एकता नहीं है। समाज-व्यवस्था में हिंसा और परिग्रह की अल्पता की जा सकती है, इस अपेक्षा से समाज-व्यवस्था और मोक्ष-धर्म में एकता है।

धर्म संवेदनातीत होने के कारण वैयक्तिक नहीं है, आत्मिक है। किन्तु वह व्यक्ति का अपना गुण है, इस अपेक्षा से वह वैयक्तिक भी है। नैतिकता व्यक्ति का अपना गुण है, इस अपेक्षा से वह वैयक्तिक है, किन्तु वह दूसरे के प्रति होती है, इसलिए सामाजिक भी है। वह सामाजिक है किन्तु सामाजिक आचार-संहिता से अभिन्न नहीं है। समाज की आचार-संहिता देश-काल के भेद से भिन्न-भिन्न, परिवर्तनशील और समाज की उपयोगिता के आधार पर निर्मित होती है। नैतिकता देश और काल की धारा में एक-रूप, अपरिवर्तनशील और धर्म से प्रभावित होती है। धर्म और नैतिकता को शाश्वत सत्य की श्रेणी में रखा जा सकता है, समाज की आचार-संहिता को उस श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। वे दोनों व्यक्ति की आन्तरिक अवस्थाएं हैं। समाज की आचार-संहिता समाज का बाहरी नियमन है। यह शुद्ध अर्थ में सामाजिक है। नैतिकता उद्गम में वैयक्तिक और व्यवहार में सामाजिक है। धर्म शुद्ध अर्थ में आत्मिक और व्यवहार में वैयक्तिक है।

त्रिवर्ग में अर्थ और काम के साथ जिस धर्म का उल्लेख है वह सामाजिक आचारसंहिता ही है। इसलिए महावीर ने काम, अर्थ और धर्म को लौकिक व्यवसाय कहा है। स्मृतियों में इसी धर्म की व्याख्या अधिक मात्रा में हुई है। सहस्राब्दियों से भारत की बहुसंख्यक जनता ने इसी को शाश्वत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य के रूप में स्वीकार किया है। इसी के आधार पर उसमें अनेक अवांछनीय तत्त्व विकसित हुए, जिनका आज के समाजशास्त्री धर्म की इन कुसेवा के रूप में वर्णन करते हैं—

१. रूढ़िवादिता—धर्म ने रूढ़िवादिता को जन्म दिया। उसके नाम पर जनता परम्परा और रीति-रिवाज को तोड़ने का साहस नहीं कर सकी।

२. शोषण—धर्म के नाम पर स्त्रियों का अत्यधिक शोषण होता रहा है। कर्मवाद के सिद्धान्त ने गरीबों को शोषण के विरुद्ध क्रान्ति करने से रोका है।

३. आलस्य और भाग्यवादिता—धर्म ने भाग्यवाद को प्रचारित किया। फलतः जनता आलसी और अकर्मण्य हो गई।

४. हिंसा और युद्ध—मानव इतिहास के पृष्ठ धर्म के नाम पर किए गए नर-संहार और जिहादों से भरे पड़े हैं।

५. घृणा—समाज में जातीय भेदभाव, घृणा और छुआछूत के लिए धर्म उत्तरदायी है।

समाजशास्त्रीय साहित्य में धर्म और नैतिकता का अन्तर इस आधार पर प्रतिपादित किया गया है कि कुछ बातें नैतिकता की दृष्टि से गलत किन्तु धर्म की दृष्टि से सही होती हैं। कभी-कभी धर्म समाजहित के विरोधी आचरण का विधान करता है। धर्म ने छुआछूत का विधान किया—नैतिकता की दृष्टि से यह गलत है। एक पत्नी अपने क्रूर और दुष्ट पति को नहीं छोड़ सकती—धर्म की दृष्टि से यह सही है किन्तु नैतिकता की दृष्टि से गलत है। सचाई यह है कि नैतिकता मनुष्य को आगे ले जाती है और धर्म मनुष्य के विकास को अवरुद्ध कर देता है।

इस समूची समाजशास्त्रीय समालोचना का आधार वह स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म या त्रिवर्ग का धर्म है। जैन-बौद्ध, सांख्य और वेदान्त ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है उसके विषय में इस प्रकार की समालोचना नहीं की जा सकती। इनके द्वारा प्रतिपादित धर्म शाश्वत सत्य की व्याख्या है। उसका परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप नहीं है। धर्म के नाम पर समाज-व्यवस्था का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। परिवर्तनशील तत्त्व को अपरिवर्तनशील तत्त्व के नाम से प्रचारित करने पर रूढ़िवादिता पैदा होती है। स्मृतिकारों ने परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था का विधान किया। यदि उसका प्रस्तुतीकरण शाश्वत सत्य के रूप में नहीं होता तो धर्म का रूढ़िवादी रूप हमारे सामने नहीं होता। स्त्रियों की हीनता का प्रतिपादन भी स्मार्त धर्म की समाज-व्यवस्था का अंग है। शाश्वत धर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर ने कर्मवाद की सबसे अधिक व्याख्या की है। उनका कर्मवाद इस बात का समर्थन नहीं करता कि गरीब-गरीब ही रहेगा और उसे अपना कर्मफल भोगने के लिए अमीरों के द्वारा किए गए शोषण को सहन करना पड़ेगा। गरीबी और अमीरी सामाजिक अवस्थाएं हैं। इनका सम्बन्ध समाज की व्यवस्था से है, कर्मवाद से नहीं है।

महावीर ने पुरुषार्थ का प्रतिपादन किया। उनके धर्म में आलस्य और अकर्मण्यता को कोई स्थान नहीं है। पुरुषार्थ के द्वारा कर्म के परिणामों में भारी परिवर्तन किया जा सकता है।

महावीर ने अहिंसा को सर्वोच्च धार्मिक मूल्य दिया। उनका सूत्र है—अहिंसा धर्म है, धर्म के लिए हिंसा नहीं की जा सकती। धर्म की रक्षा अहिंसा से होती है, धर्म की रक्षा के लिए हिंसा नहीं की जा सकती।

महावीर ने घोषणा की—मनुष्य जाति एक है। जातीय भेदभाव, घृणा और छुआछूत—ये हिंसा के तत्त्व हैं। अहिंसा धर्म में इनके लिए कोई अवकाश नहीं है।

महावीर ने धर्म के तीन लक्षण बतलाए—अहिंसा, संयम और तप। ये तीनों आत्मिक और वैयक्तिक हैं। इनसे फलित होने वाला चरित्र नैतिक होता है। राग-द्वेषमुक्त चेतना अहिंसा है। यह धर्म का आध्यात्मिक स्वरूप है। जीव की हिंसा नहीं करना, झूठ नहीं बोलना, चोरी नहीं करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, परिग्रह नहीं रखना—यह धर्म का नैतिक स्वरूप है। राग-द्वेष-मुक्त चेतना आत्मिक स्वरूप ही है। वह किसी दूसरे के प्रति नहीं है और उनका सम्बन्ध किसी दूसरे से नहीं है। जीव की हिंसा नहीं करना—यह दूसरों के प्रति आचरण है। इसलिए यह नैतिक है। नैतिक नियम धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप से ही फलित होता है। इसका उद्गम धर्म का आध्यात्मिक स्वरूप ही है। इसलिए यह धर्म से भिन्न नहीं हो सकता। हर्बर्ट स्पेन्सर और थॉमस हक्सले तथा आधुनिक प्रकृतिवादी और मानवतावादी चिंतकों ने धर्म और नैतिकता को पृथक् स्थापित किया है। यह संगत नहीं है। जो आचरण धर्म की दृष्टि से सही है, वह नैतिकता की दृष्टि से गलत नहीं हो सकता। धर्म अपने में और नैतिकता दूसरों के प्रति—इन दोनों में यही अन्तर है। किन्तु इनमें इतनी दूरी नहीं है, जिससे एक ही आचरण को धर्म का समर्थन और नैतिकता का विरोध प्राप्त हो। समाजशास्त्रियों ने धर्म और नैतिकता के भेद का निष्कर्ष स्मृति-धर्म के आधार पर निकाला। उस धर्म को सामने रखकर धर्म और नैतिकता में दूरी प्रदर्शित की जा सकती है, धर्म के द्वारा समर्थित आचरण को नैतिकता का विरोध प्राप्त हो सकता है। वह धर्म रूढ़िवाद का समर्थक होकर समाज की गतिशीलता का अवरोध बन सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म का आध्यात्मिक स्वरूप आत्म-केन्द्रित और उसका नैतिक स्वरूप समाजव्यापी है। इस प्रकार धर्म दो आयामों में फैला हुआ है। इस धर्म के दोनों रूप शाश्वत सत्य पर आधारित होने के कारण अपरिवर्तनीय हैं। स्मृति-धर्म (समाज की आचार-संहिता) देशकाल की उपयोगिता पर आधारित है। इसलिए यह परिवर्तनशील है। इस परिवर्तनशील धर्म को अपरिवर्तनशील धर्म के रूप में स्थापना और स्वीकृति होने के कारण ही धर्म के नाम पर समाज में बुराइयां उत्पन्न हुईं, जिनकी चर्चा समाजशास्त्रियों ने की है।

स्मृति-धर्म ने अर्थ के अर्जन और भोग का दिशा-निर्देश दिया है, काम-सेवन की दिशाएं भी प्रदर्शित की हैं। यह दिशा-निर्देश करना स्मृति-धर्म का ही काम है। शाश्वत धर्म का यह काम नहीं है। उसके द्वारा यदि काम और अर्थ की परिवर्तनशील व्यवस्था का दिशा-निर्देश हो तो वह शाश्वत का रूप लेकर समाज की भावी व्यवस्थाओं में गतिरोध पैदा कर देता है, जैसा कि आज हो रहा है। स्मृति-धर्म द्वारा प्रतिपादित काम और अर्थ की व्यवस्था में शाश्वत धर्म का सहयोग हो सकता है। महावीर ने यह सहयोग किया था। उन्होंने गृहस्थों की धर्म-संहिता (या नैतिक संहिता) में जो नियम निश्चित किए, उनसे समाज-व्यवस्था को भी बहुत सहारा मिला। उदाहरण-स्वरूप इन नियमों का निर्देश किया जा सकता है—

१. अपने कर्मकरों की आजीविका का विच्छेद न करना।
२. पशुओं पर अधिक भार न लादना।
३. झूठी साक्षी न देना।
४. अपनी विवाहित स्त्री के अतिरिक्त किसी के साथ अब्रह्मचर्य का सेवन न करना।
५. संग्रह की एक निश्चित सीमा करना। उस सीमा से अतिरिक्त संग्रह न करना।
६. धन-संग्रह और भोगवृद्धि के लिए दूसरे देशों में न जाना, आदि-आदि।

महावीर ने अर्थार्जन और काम-सेवन में होने वाली आसक्ति को कम करने का विधान किया। किन्तु उनके उपभोग का विधान नहीं किया। उन्होंने धर्माचार्य की सीमा का काम किया, किन्तु समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री और कामशास्त्री की सीमा का काम नहीं किया। इस अर्थ में यदि कोई उनके दर्शन को अपूर्ण माने तो माना जा सकता है। उनके अनुयायी को दूसरी व्यवस्थाओं पर निर्भर होना पड़ता है—यदि कोई यह आरोप लगाए तो लगाया जा सकता है। शाश्वत धर्म की यह अपूर्णता और पर-निर्भरता न हो तो स्मृति-धर्म शाश्वत के स्वरूप को ही धुंधला कर देगा। पूर्णता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और आत्म-निर्भरता सापेक्ष ही हो सकती है। धर्म और नैतिकता की अपेक्षा से व्यक्ति वास्तविक हो सकता है, किन्तु अर्थ और काम की अपेक्षा से वह वास्तविक नहीं है। अर्थ और काम की अपेक्षा से समाज वास्तविक हो सकता है किन्तु धर्म और नैतिकता की अपेक्षा से वह वास्तविक नहीं है। व्यक्ति वास्तविक और समाज अवास्तविक—व्यक्तिवादी दार्शनिकों की इस स्वीकृति ने व्यक्ति को अर्थ-संग्रह की असीमित स्वतन्त्रता देकर शोषण की समस्या को जन्म दिया। समाज वास्तविक और व्यक्ति अवास्तविक—समाजवादी दार्शनिकों की इस स्वीकृति ने व्यक्ति की वैचारिक स्वतन्त्रता को राज्य-प्रतिबद्ध कर मानव के यंत्रीकरण की समस्या को जन्म दिया। व्यक्ति और समाज की सापेक्ष वास्तविकता की स्वीकृति ही इन समस्याओं से समाज को मुक्ति दे सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वस्थ समाज-रचना का संकल्प

सामाजिक मूल्य विकसित होते हैं तो व्यक्ति सुख और शांति के साथ जीता है। सामाजिक मूल्य विघटित होते हैं तो अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इसलिए चिन्ता होना स्वाभाविक है। पर चिन्ता यथार्थ की होनी चाहिए, उपायात्मक होनी चाहिए। केवल चिन्ता के लिए चिन्ता नहीं। कभी-कभी अर्थहीन चिन्ता हो जाती है, केवल तार्किक चिन्ता हो जाती है।

एक बार दो मूर्ख आपस में बात कर रहे थे। बात चल पड़ी तर्कशास्त्री की। तर्कशास्त्र का नियम बताया गया कि आदमी मरणधर्मा है। जो जन्म लेता है वह मरता है। यह एक निश्चित व्याप्ति है। दूसरा मूर्ख बोला—"यह बड़ी समस्या है। यदि सब आदमी मरने वाले हैं तो अन्त में मरेगा उसे श्मशान कौन ले जाएगा?"

यह चिन्ता तो है, किन्तु अर्थहीन चिन्ता है, केवल तार्किक चिन्ता है। हमारी चिन्ता सार्थक चिन्ता होनी चाहिए, उपायात्मक होनी चाहिए। चिन्ता की निष्पत्ति उपाय में आए।

समाज के मूल्य अधिक नहीं हैं। केवल तीन मूल्य है—अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह। समान-रचना के ये तीन आधार हैं और ये तीन सामाजिक मूल्य हैं। अहिंसा के बिना समाज नहीं बनता। सत्य के बिना भी समाज नहीं बनता और अपरिग्रह के बिना भी समाज नहीं बनता।

हिंसक आदमी समाज बना नहीं पाता। समाज-रचना के इन तीन आधारभूत तत्त्वों और इन तीन मूल्यों का विकास और उनके उपाय भी हमारे हाथ में हों, यह आवश्यक है। निरुपाय व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता। वही व्यक्ति सफल होता है जिसके पास कुछ उपाय होता है। हम उपाय की मीमांसा करें, उससे पहले कुछ समझ भी लें।

पहला आधार है—अहिंसा और अहिंसा का पहला तत्त्व है—भावना का परिवर्तन। हिंसा के अनेक कारण हैं। उनमें एक बड़ा कारण है—भावना, एक प्रकार की धारणा का न्यास। आदमी आदमी को आदमी नहीं मान रहा है। यह एक भावना है और जब तक इस भावना का परिवर्तन नहीं होता तब तक इस सामाजिक मूल्य का विकास नहीं हो सकता।

अध्यात्म के आचार्यों ने इस भावना-परिवर्तन के लिए कुछ शब्द दिए —'आत्मौपम्य' 'आत्मतुला', 'सब जीव समान', 'सब जीव अपनी आत्मा के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे हैं।' ये शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और गम्भीर अर्थ की सूचना देने वाले हैं। इस भावना के अभाव में जातीय विद्वेष पनपा, सांप्रदायिक विद्वेष पनपा और राज्य का सीमागत विद्वेष पनपा। यदि यह भावना विकसित होती कि सब जीव समान हैं, मेरी आत्मा के जैसी ही है दूसरे की आत्मा, जैसी सुख-दुःख की अनुभूति मुझे होती है, वैसी ही सामने वाले व्यक्ति को होती है, तो यह जातीय और साम्प्रदायिक आक्रोश-विद्वेष कभी पनप नहीं पाता।

वर्तमान स्थिति क्या है? एक काला आदमी है और दूसरा गोरा आदमी है। आदमी आदमी है, केवल चमड़ी का और रंग का अन्तर है। किन्तु गोरा आदमी अपने आपको श्रेष्ठ मान रहा है और काले आदमी को नीच मान रहा है। एक सवर्ण है, दूसरा असवर्ण है। सवर्ण अपने को श्रेष्ठ मान रहा है और असवर्ण को नीच मान रहा है। यह रंग के आधार पर विद्वेष, जाति के आधार पर विद्वेष, धारणाओं के आधार पर विद्वेष है। एक नाजी यहूदी को हीन मानता है और यहूदी नाजी को पागल कुत्ता जैसा मानता है। यह जातिगत विद्वेष है। विचारधारा के आधार पर भी यह विद्वेष पनपता है। एक सम्प्रदाय वाला दूसरे सम्प्रदाय वाले को हीन मान रहा है और अपने आपको उच्च प्रमाणित कर रहा है। ये सारे जो विद्वेष पनपे हैं, वे इस आधार पर पनपे हैं कि अहिंसा का जो एक सूत्र था मानव जाति की एकता का, उसे भुला दिया गया। जब हम सामाजिक मूल्यों के ह्रास की चर्चा करते हैं तो इस बात पर हमें फिर विचार करना होगा कि कहां भूल हुई है? उस भूल को पकड़ना होगा। जहां दर्द है वहां अंगुली टिके तब तो कोई उपचार की बात हो सकती है। दर्द कहीं और उपचार कहीं किया जाए तो बहुत सार्थकता नहीं होती। ठीक दर्द पर अंगुली टिकनी चाहिए।

'मनुष्य जाति एक है'—इस मूल्य की प्रतिष्ठा हमारी अनेक समस्याओं का एक समाधान है। कुछ लोगों ने इस दिशा में प्रयत्न किए। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रयत्न है महात्मा गांधी का। उन्होंने इन सारे विद्वेषों को मिटाने के लिए काफी प्रयत्न किए और अहिंसा के प्रति आस्था उत्पन्न करने का अथक प्रयास किया। किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है, घटनाएं स्वयं प्रमाण हैं कि वह प्रयत्न एक सीमा तक सफल हुआ, किन्तु व्यापक स्तर पर सफल नहीं हो सका। इसका कारण यही है कि जो प्रयत्न हुआ, वह बड़े लोगों में हुआ। अवस्था पक गई, विचार परिपक्व बन गए, धारणाएं पक गईं, उन लोगों में प्रयत्न हुआ। जब तक एक प्रभावशाली वातावरण रहा, परिस्थिति रही, तब तक तो लगा कि हिन्दुस्तानी मानस अहिंसा के निकट जा रहा है, किन्तु जैसे ही वह साया उठा, वह प्रभावी व्यक्तित्व सामने नहीं रहा और हिंसा देखते-देखते उग्र बन गई। जैसे ही हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का विभाजन हुआ, हिंसा ने क्या रूप लिया? कितनी उग्रता सामने आई? इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घटना से एक निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिंसा की शक्ति भी कमजोर नहीं है। अहिंसा को अगर हम शक्ति-शाली मानें तो हिंसा की शक्ति भी कम नहीं है। घटनाओं के आधार पर और इतिहास के साक्ष्यों के आधार पर तो यह कहा जा सकता है कि समय-समय पर हिंसा ने अपना जो रौद्र रूप दिखाया है, अहिंसा उतना सौम्य रूप नहीं दिखा पाई है। तो फिर हम पराजय स्वीकार कर लें कि समाज के लिए अहिंसा का मूल्य कोई स्थायी मूल्य या शाश्वत मूल्य नहीं है और हम हिंसा का वरण इसलिए करें कि हिंसा का मूल्य समाज के लिए ज्यादा कारगर है। किन्तु यह भी स्वीकार नहीं किया जा रहा है। जहां-जहां हिंसा की समस्या उग्र बनायी है, तत्काल ध्यान अहिंसा की ओर जाता है। जहां विवाद उग्र होता है, वहां तत्काल ध्यान समझौते की ओर जाता है। सब कहते हैं कि हिंसा की समस्या सुलझनी चाहिए, विवादों का अन्त आना चाहिए।

पंजाब की समस्या उग्र बनी। पूरे राष्ट्र का ध्यान केन्द्रित हो गया कि आतंकवाद समाप्त होना चाहिए, हिंसा की उग्रता अब नहीं चलनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि आदमी हिंसा चाहता नहीं, करता है। बस, चाहता अहिंसा है, चाहता शांति है किन्तु उन्माद आता है और उन्माद में वह हिंसा कर डालता है, शांति भंग हो जाती है।

दो स्थितियां हैं। एक है उन्माद की स्थिति और दूसरी है शांत स्थिति। शांत-स्थिति में आदमी अहिंसक-मूल्य को महत्त्व देता है किन्तु उन्माद जब आता है, उस स्थिति में वह हिंसा कर लेता है।

हिंसा स्वाभाविक या नैसर्गिक मांग नहीं है। वह एक अस्वाभाविक परिस्थिति है। हम कुछ कारणों से प्रभावित होकर उस दिशा में चले जाते हैं। यह बात समझ में आनी चाहिए कि समाज का मूल्य अहिंसा ही हो सकता है और इसी आधार पर समाज बना है। वह नहीं होता तो समाज बनता ही नहीं। एक आदमी दूसरे आदमी को खाने और काटने को तैयार रहता। किन्तु सबसे पहला समझौता यही हुआ कि भई! तुम भी अपनी सीमा में रहो और मैं भी अपनी सीमा में रहूं और हम दोनों साथ-साथ जीएं, समाज बन कर जीएं।

आदमी अहिंसा की बात को भूल-सा गया है। इस स्थिति में उपाय की बात सोचनी चाहिए कि किस उपाय से इस अहिंसा के मूल्य को पुन प्रस्थापित करें? इस पर जब चिंतन करते हैं तो ऐसा लगता है कि एक औ प्रयोग किया जाए। वह प्रयोग यह हो कि बचपन से ही अहिंसा की आस्थ उत्पन्न की जाए। जब हिंसा की आस्था उत्पन्न हो जाती है, यह धारणा बन जाती है कि हिंसा के बिना काम नहीं चलता, फिर उसे बदलना बहुत जटिल हो जाता है। बचपन के संस्कार इतने प्रभावी होते हैं कि बाद में आने वाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कार उनके सामने टिक नहीं पाते। एक प्रयोग करने की जरूरत है और वह प्रयोग होगा बचपन से अहिंसा की आस्था का निर्माण।

जीवन-विज्ञान की प्रकल्पना इसी चिंतन का परिणाम है। जिन सामाजिक मूल्यों को हम समाज में देखना चाहते हैं, विकसित करना चाहते हैं, उन सामाजिक मूल्यों को बचपन से ही प्रतिफलित करना चाहिए, उनके प्रति आस्था पैदा करनी चाहिए।

आज सबसे बड़ा संकट है आस्था का। श्रद्धा इतनी विचलित है कि आदमी कहीं भी टिक नहीं पा रहे हैं। एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा और तीसरे के बाद चौथा कदम आगे बढ़ रहा है। कहीं पैर जमाकर खड़े होकर आदमी कुछ करना नहीं चाहते। मैंने एक आदमी को देखा है कि बचपन से ही उसके मन में साधना की बात आई और वह साधना करने चला किन्तु चंचलता इतनी कि किसी भी बात पर जमा नहीं। आज एक पद्धति को अपनाया तो तीसरे दिन दूसरी पद्धति को। और सातवें दिन तीसरी पद्धति को। बदलता गया, बदलता गया। आज यह स्थिति है कि वह जहां था, लगभग वहीं है, बहुत आगे सरक नहीं पाया। कहीं न कहीं आदमी को अपना पैर जमाकर खड़ा होना होता है और जब वह बिन्दु प्राप्त नहीं होता है तो कहीं भी हम कुछ कर नहीं पाते। हमें आस्था को दृढ़ बनाना है और उसके लिए भावना का परिवर्तन आवश्यक है। शिक्षा के साथ इस संस्कार को पुष्ट किया जाए कि 'सब जीव समान हैं। सब जीव समान हैं'—यह बात भी कुछ अमूर्त्त बन जाती है। मूर्त्त बात, सगुण भाषा ज्यादा प्रभावशाली बनती है। अमूर्त्त बात कभी-कभी कमजोर बन जाती है तो फिर इस आधार पर एक सिद्धांत विकसित किया कि सब जीवों की बात हम छोड़ दें पर कम से कम जो हमारे सामने हैं, हमारे जैसे हैं, उसके प्रति तो यह भाव विकसित करें कि मानव जाति एक है। दूसरा मनुष्य वैसा ही है, जैसा मैं हूं। और जैसा मैं हूं, वैसा ही दूसरा मनुष्य है। इतनी आस्था उत्पन्न हो जाए तो मानवीय व्यवहार बदल जाए और यह बचपन में ही ज्यादा संभव है, क्योंकि उस अवस्था तक दूसरे संस्कार हावी नहीं होते, प्रभावी नहीं बनते।

जैसा प्रारंभिक पाठ मिलेगा, विद्यार्थी उसे जल्दी पकड़ेगा। समाज-शास्त्र के अनुसार जिन मालिकों और दासों में मानवीय स्तर पर चिन्तन हुआ और संबंध स्थापित हुए उनका व्यवहार बदल गया। एक बड़ी क्रूर कहानी रही है इतिहास की कि मालिकों ने अपने दासों पर इतने क्रूर अत्याचार किए हैं कि उनको मानव नहीं माना जा सकता। मालिक मानो मनुष्य हो और दास जैसे उसका पशु हो। पशु के प्रति भी उतने अत्याचार या क्रूर व्यवहार नहीं किए जाते किन्तु मनुष्य के प्रति किए गए हैं और इतिहास की हजारों-हजारों घटनाएं इस तथ्य की साक्षी दे रही हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज भी देखते हैं तो बड़ा आश्चर्य होता है। आदमी कुछ अर्थों में आदमी से ज्यादा पशु को मूल्य देता है, क्योंकि उसकी उपयोगिता मानता है। वहां उसका अपना स्वार्थ है। एक घोड़ा सुविधा के साथ रहता है। उसका स्थान है वातानुकूलित गृह। उसकी सेवा में पांच-पांच, दस-दस नौकर हैं। घोड़े पर जितना खर्च हो रहा है उतना उसके परिचारकों पर नहीं हो रहा है, क्योंकि घोड़ा ज्यादा उपयोगी है। एक रेस का घोड़ा लाखों रुपए या लाखों डालर पैदा करा देता है, जबकि आदमी इसका एक तुच्छ अंश भी लाभ नहीं देता। आदमी की सारी दृष्टि उपयोगिता पर, स्वार्थ पर और लाभांश पर टिकी हुई है, मानवीय स्तर पर टिकी हुई नहीं है।

जिन लोगों ने इस सचाई का अनुभव किया, उनका व्यवहार बदल गया। मानवीय व्यवहार के लिए सबसे प्रथम बात है कि मनुष्य जाति की एकता में आस्था उत्पन्न हो। ऐसा होने पर क्रूर व्यवहार करना कठिन हो जाता है।

अहिंसा का पहला सूत्र है—धारणा या भावना का परिवर्तन। दूसरा सूत्र है—प्रेम या मैत्री का विकास।

हिंसा का मूल है—घृणा। जब तक घृणा पैदा नहीं होती, आदमी हिंसा कर नहीं सकता। लड़ना होता है, युद्ध करना होता है तो सामने वाले के प्रति घृणा पैदा की जाती है। यदि यहूदी जाति के प्रति घृणा पैदा नहीं की जाती तो लाखों यहूदियों को बिना मौत नहीं मारा जाता। पहले घृणा पैदा की जाती है और फिर हिंसा की जाती है। आज भी जितना आतंकवाद चल रहा है वह सारा घृणा के आधार पर चल रहा है। आतंकवाद का प्रशिक्षण मिलता है। प्रशिक्षण में सामने वाली जाति के प्रति इतनी घृणा भर दी जाती है कि फिर उसे मारने में कोई संकोच नहीं होता। घृणा हिंसा का बहुत बड़ा कारण है। उसे बदलना और उसके स्थान पर प्रेम उत्पन्न करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रेम उत्पन्न होने पर फिर कोई किसी को सता नहीं सकता।

एक चोर या डाकू अपनी पत्नी के गहने नहीं चुराता, घरवालों को कभी नहीं लूटता। मिलावट करने वाला व्यापारी बाजार में जाता है तो क्या वह अपने परिवार के लिए मिलावटी दूध या मिलावटी सामान लाना चाहता है? वह अपने घर में अच्छा लाना चाहेगा। अपनी पत्नी को व अपने बच्चों को खराब चीज खिलाना नहीं चाहेगा। वह दूसरों को मिलावटी माल बेचता है और स्वयं शुद्ध लेना चाहता है। इसका कारण यह है कि उसका परिवार के प्रति प्रेम है। जहां प्रेम है वहां क्रूर व्यवहार हो नहीं सकता।

यदि चोर या डाकू क्रूर ही होते तो उनका परिवार बनता ही नहीं। किन्तु वे अपने परिवार के प्रति बड़े दयालु, बड़े प्रेमालु होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेम उत्पन्न करना, प्रेम का विकास करना, मैत्री का विकास करना यह अहिंसा का दूसरा तत्त्व है।

प्रेम की बहुत महिमा गाई है हमारे संतों ने। कबीर ने यहां तक लिखा—

पोथा पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय॥

आज समस्या यही है कि शिक्षा के साथ संवेदनशीलता, प्रेम, मैत्री या करुणा के विकास की बात बहुत जुड़ी हुई नहीं है। कहीं-कहीं होगी पर जुड़ी हुई नहीं है। और मैं यह मानता हूं कि केवल शिक्षा या पढ़ाई से ही यह बात आने वाली नहीं है। प्रेम के जो केन्द्र हैं शरीर में, जब तक उनको नहीं छुआ जाता, करुणा के केन्द्रों को नहीं छुआ जाता, तब तक वे विकसित नहीं होते।

इस विषय में एक बात और स्पष्ट करना जरूरी होगा कि हमारे शरीर की रचना बहुत जटिल है, हमारे मस्तिष्क की रचना भी जटिल है। उसे समझे बिना संवेदनशीलता का विकास नहीं हो सकता। घृणा का केन्द्र भी हमारे मस्तिष्क में है और प्रेम का केन्द्र भी हमारे मस्तिष्क में है। दोनों विद्यमान हैं। अब जिसको बल मिलेगा वह पुष्ट हो जाएगा। जिसको बल नहीं मिलेगा वह कमजोर हो जाएगा।

दो लड़के हैं। जिस लड़के को प्यार मिलेगा, वह अच्छा बन जाएगा और जिसको तिरस्कार मिलेगा, वह सूख जाएगा। जिस पौधे को प्यार मिलेगा वह पल्लवित हो जाएगा। जिसे प्यार नहीं मिलेगा, पानी नहीं मिलेगा, जीवन नहीं मिलेगा, वह पौधा सूख जाएगा।

स्मृति पर खोज करने वाले वैज्ञानिक बतलाते हैं कि हमारे स्मृति के रसायन बड़े अद्भुत हैं। एक रसायन को आप हजार बार बल दें वह पुष्ट हो जाएगा और वह बात २०-३० वर्ष तक बराबर आपकी स्मृति में बनी रहेगी। यदि उसको बल नहीं मिलेगा तो वह रसायन कमजोर पड़ता चला जाएगा और विस्मृति की मात्रा बढ़ती चली जाएगी।

प्रश्न है आवृत्ति का, प्रश्न है पल्लवन का और प्रश्न है उसे पोषण मिलने का। हम उन केन्द्रों को यदि पल्लवित करते हैं, उनको छूते हैं तो अवश्य ही घृणा की भावना कम होती है और प्रेम का विकास होता है।

प्रेक्षाध्यान का एक प्रयोग है—ज्योति-केन्द्र का ध्यान। यदि ज्योति-केन्द्र पर हम ध्यान करेंगे और बार-बार उसको देखेंगे, बार-बार उसका अनुभव करेंगे तो प्रेम, मैत्री और संवेदनशीलता की भावना बढ़ेगी। और यदि हमारा ध्यान ज्यादा पेट की ओर जाएगा, नाभि के आसपास परिक्रमा करेगा तो क्रूरता की भावना, उद्दण्डता की भावना और घृणा की भावना को बल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिलता रहेगा। इसलिए हम किसको छूएं या किसको अनछुआ रखें, यह जानना बहुत आवश्यक है।

आचार्य भिक्षु ने बहुत महत्त्वपूर्ण बात लिखी। उन्होंने कहा—एक व्यक्ति ने दो बीज बोए—एक आम का और दूसरा धतूरे का। दोनों पास पास में थे। उसने अपने लड़के को कहा कि पौधों को सींचना है। लड़का भोला था, ना-समझ था। वह धतूरे के बीज पर बहुत पानी डालता, उसकी रखवाली करता, खूब सार-संभाल करता और जो आम का पौधा था उसे न पूरा पानी देता, न रखवाली करता, पूरा ध्यान भी नहीं देता। परिणाम यह हुआ कि आम का पौधा मुरझा गया और धतूरे का पौधा चमक उठा।

यह निर्णय हमें करना है कि क्या हम धतूरे के पौधे को ज्यादा पानी दे रहे हैं या आम के पौधे को ज्यादा पानी दे रहे हैं? हम किसकी ज्यादा सार-संभाल कर रहे हैं। जिस पर अधिक ध्यान देगें, वह ज्यादा विकसित होगा और जिस पर कम ध्यान देगें, वह सिकुड़ जाएगा।

प्रश्न है कि हमारा ध्यान आज कहां है? ध्यान प्रेम के पौधे पर है या घृणा के पौधे पर है? हम पानी कहां सींच रहे हैं? हमारे लिए यह बहुत ज्वलन्त प्रश्न है। पानी तो सींच रहे हैं घृणा के पौधे पर और हम चाहते हैं कि अमन से रहें, शांति से रहें, कहीं आतंक न हो, कहीं हिंसा न हो, लूट-खसोट न हो, अपराध न हो। हमारी कल्पना तो चलती है रामराज्य की ओर, कार्य चलता है रावणराज्य का। संगति कैसे हो? इन विसंगतियों में जीते हुये हम मूल्यों का विकास नहीं कर सकते। यदि सचमुच हमारी आस्था है मूल्यों का विकास करना, सामाजिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करना, तो हमें पानी वहीं सींचना होगा जिससे कि मूल्यों का विकास संभव बन सके। अन्यथा बात कुछ अटपटी-सी बन जाएगी। हमें अपनी कमजोरी का पूरा अनुभव नहीं होता। और कभी-कभी ऐसा होता है कि जब तक अपनी कमजोरी को आदमी साफ नहीं रखता है तब तक दूसरा उसे ठीक समझ ही नहीं पाता। जब कमजोरी सामने आती है तो दूसरा ठीक समझ लेता है। पर आदमी की प्रवृत्ति है कि वह अपनी कमजोरी को छुपाना चाहता है।

एक दिन एक आदमी अपने मैनेजर के पास जाकर बोला 'यह जो महिला टाइपिस्ट मेरे साथ काम कर रही है, उसकी सेवा-निवृत्ति करना चाहता हूं।' मैनेजर ने पूछा—'क्यों छोड़ना चाहते हो?' उसने कहा—यह ठीक टाइप करना ही नहीं जानती, बार-बार अशुद्ध शब्द लिख देती है, बार-बार मुझे तंग करती है, पूछती रहती है कि इस शब्द का स्पेलिंग क्या होगा? उस शब्द का स्पेलिंग क्या होगा? मुझे बताने में कितना समय लगाना पड़ता है?' मैनेजर ने कहा—'इतनी छोटी-सी बात के लिए उसको छोड़ना क्या ठीक होगा? पूछने में क्या आपत्ति है? तुम्हें पूछती है तो तुम बता दिया करो।' उसने कहा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'मैं बार-बार बताऊं तो मुझे बार-बार डिक्सनरी देखनी पड़ती है। मेरा समय ऐसे ही व्यर्थ चला जाता है।'

कमजोरी तो अपनी है और छोड़ना उसको चाहता है। यह एक बड़ी समस्या है। आदमी यदि अपनी दुर्बलता को ठीक समझ ले तो कोई समाधान मिल सकता है। पर हम अपनी कमजोरी को ठीक समझ ही नहीं पा रहे हैं। हमारी यह कमजोरी है कि जहां पल्लवन देना चाहिए, हम स्वयं उसे पल्लवन नहीं दे रहे हैं।

अहिंसा की चर्चा हजारों वर्षों से हो रही है। उसे आज भी आवश्यक मानते हैं। उसकी अनावश्यकता को हम स्वीकार नहीं करते। पर उसका विकास नहीं हो पा रहा है। उसका मूल कारण है हमारी दुर्बलता। दुर्बलता यह है कि हम उसके प्रति सच्चे मन से प्रयत्न करना नहीं चाहते। आप स्वयं समझें कि आज हिंसा के पीछे जितनी मानवीय शक्ति खर्च हो रही है उसका एक प्रतिशत भाग भी अहिंसा के पीछे खर्च नहीं हो रहा है। बड़े आश्चर्य की बात है। हमारी दुहाई है अहिंसा की और सारी शक्ति का नियोजन हो रहा है हिंसा के पीछे। क्या यह विरोधाभास नहीं है? हर आदमी शान्ति से रहना चाहता है और उसकी सारी प्रवृत्तियां अशान्ति को सिंचन दे रही हैं। क्या यह विरोधाभास नहीं है? यह सब क्यों हो रहा है? इसलिए कि बचपन से ही संस्कार दूसरे प्रकार के बने हुए हैं।

एक बार आचार्य श्री के सामने एक प्रश्न आया कि छोटे बच्चों को दीक्षित नहीं करना चाहिए। बड़ा आन्दोलन छिड़ा। उस स्थिति में आचार्य श्री ने कहा—'मैं इस पक्ष में नहीं हूं कि छोटे बच्चों को ही दीक्षा दी जाए। किन्तु यह मुझे स्पष्ट लगता है कि छोटे बच्चे जितने योग्य प्रमाणित होते हैं उतने शायद बड़े योग्य प्रमाणित नहीं होते। यह हमारा अनुभव है।' मैं केवल अपनी परम्परा की बात आपको बताऊं कि आठ आचार्य हो चुके हैं, आचार्य श्री तुलसी नौवें हैं और दसवां मैं आपके सामने बैठा हूं। इस परम्परा में लगभग १०, ११, १२, वर्ष की अवस्था वाले आचार्य हुए हैं। आचार्य श्री ग्यारह वर्ष की अवस्था में मुनि बने, मैं दस वर्ष की अवस्था में मुनि बना, और भी बने। पर हमारा अनुभव है कि जो छोटी अवस्था में बने, उन्होंने जो साधना का विकास किया और उनके संस्कार जितने उपयोगी बने, बड़ी अवस्था वालों के नहीं बने। कारण स्पष्ट है कि पहले गृहस्थी में उलझे और फिर बाद में मुनि बने तो स्मृतियां दोनों तरफ काम करती हैं। इधर तो मुनि बन गए तो मुनि-धर्म को निभाना है और स्मृतियां अतीत वाली काम करती हैं। वे बंधन बार-बार सामने आ जाते हैं। यह इसलिए आपको बता रहा हूं कि बचपन में संस्कारों की उतनी तीव्रता नहीं होती, बाधाएं नहीं आतीं, और नए संस्कारों, नई आदतों को, पैदा करने में हमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बड़ी सुविधा होती है। जब संस्कार रूढ़ हो जाते हैं, अर्जित आदतें जब रूढ़ बन जाती हैं तब उन्हें तोड़ना हर किसी के वश की बात नहीं होती। कुछ व्यक्ति अपवाद हो सकते हैं कि जो बड़ी अवस्था में भी आमूलचूल बदल सकते हैं, अपनी आदतों को बदल देते हैं, अपने संस्कारों में भी परिवर्तन ला देते हैं। किन्तु इसे मैं साधारण घटना नहीं मानता। यानी बड़ा होने के बाद संस्कारों को बदलना एक विशेष घटना है और छोटी अवस्था में संस्कारों को न बदलना एक विशेष घटना है। जब कि सम्भावना यह है कि छोटी अवस्था में अभिलषित आदत का निर्माण किया जा सकता है, वह बहुत संभव है।

इसलिए शिक्षा के साथ इसकी बहुत संगति बैठती है कि प्रारम्भ से ही बच्चों में वैसी आस्थाओं का निर्माण किया जाए, जिनकी अपेक्षा समाज रखता है और जिन्हें हम सामाजिक मूल्य के रूप में विकसित करना चाहते हैं।

अहिंसा का तीसरा तत्त्व है—कष्ट-सहिष्णुता। हमारे सामने दो मार्ग हैं। एक है सुविधा का मार्ग और दूसरा है कष्ट-सहिष्णुता का मार्ग। मैं कष्ट-सहिष्णुता की चर्चा करूं तो मुझे ऐसा लगता है कि मैं आज की धारा के प्रतिकूल बात कह रहा हूं। आज युग की धारा सुविधावादी धारा है। सारे आश्वासन सुविधावाद के मिल रहे हैं। एक व्यक्ति चुनाव लड़ता है, वह अपने चुनाव क्षेत्र में आश्वासन देता है। आश्वासन सबसे ज्यादा यह देता है कि मैं तुम्हें अधिक से अधिक सुविधा उपलब्ध कराऊंगा, और उस आधार पर चुनाव में हार और जीत होती है। शायद पूरा कर सके या न कर सके, पर आश्वासन सुविधा का देगा, अधिक से अधिक सुविधा का।

एक व्यक्ति चुनाव में खड़ा हुआ। उसने चुनाव का प्रचार शुरू किया और कहा कि देखो, पहली बार तुम लोगों ने मुझे जिताया तो मैंने गांव-गांव में पानी के नल लगवा दिए। अगर मुझे जिताओगे तो नलों में पानी भी आ जाएगा। आश्वासन देता है और उस सुविधा के आश्वासन में आदमी उलझ जाता है।

एक बड़ी समस्या है—सुविधावादी दृष्टिकोण। मैं उसके प्रतिपक्ष में कष्ट-सहिष्णुता की बात कर रहा हूं। अभी गर्मी नहीं है। यदि गर्मी हो तो हर व्यक्ति पंखे के आस-पास बैठना चाहेगा, कमरे में बैठना कोई नहीं चाहेगा। हमारी प्रवृत्ति है सुविधा की ओर। सहज आकर्षण है सुविधा के प्रति। तो क्या हम मनुष्य की सहज मांग को ठुकरा कर कोई ऐसी प्रतिकूल धारा की बात तो नहीं कर रहे हैं जिसे अस्वाभाविक कहा जाए?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज-रचना के आधार

चेतना का सम्बन्ध ज्ञान से है। ज्ञान का आधार है विचार और भावना। बलवती भावना, इच्छा या जागृत विवेक से जो काम होता है, वह मनुष्य की स्वतंत्र चेतना की प्रेरणा है। सामान्यतः इच्छा के बिना कोई काम नहीं होता पर उस इच्छा की प्रेरक शक्ति इच्छा भी हो सकती है और व्यवस्था का दबाव भी। व्यवस्था के दबाव से काम होता है, बुराइयां मिटती हैं और मनुष्य नये सांचे में भी ढलता है। क्योंकि किसी सीमा तक व्यवस्था उसके द्वारा स्वीकृत होती है। समाज शास्त्रियों का अभिमत है कि व्यवस्थाओं के दबाव बिना कोई समाज चल ही नहीं सकता।

समाज के लिए व्यवस्थाएं आवश्यक हैं पर वे शत-प्रतिशत सफल ही होती हैं, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि जब तक मनुष्य के मन में बुराइयों के प्रति घृणा नहीं होती तब तक वह प्रकारान्तर से बुराइयां करता रहता है। समाज का भय और संकोच उसके मन में झिझक पैदा करता रहता है, किन्तु वह झिझक प्रत्यक्ष रूप से बुराई करने तक सीमित रहती है। परोक्ष में संकोच मिट जाता है, भय का प्रभाव भी क्षीण हो जाता है। प्रकट रूप में व्यवस्था की दुहाई देना और परोक्ष में उसे तोड़ देना व्यवस्था के साथ आंख-मिचौनी करना है। परोक्ष रूप से बुरे कार्य में प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति अपनी बुराई पर आवरण डालने के लिए दूसरे लोगों को भी भ्रष्ट करता है। भ्रष्टाचार एक संक्रामक रोग है। इसके संक्रमण से ही समाज में नयी-नयी बुराइयां पैदा हो रही हैं।

आज का शासन-तन्त्र इसका स्पष्ट उदाहरण है। एक व्यक्ति व्यवस्था का उल्लंघन करता है, वह अधिकारियों को रिश्वत देकर अपने साथ कर लेता है। कुछ अधिकारी मानवीय दुर्बलता से अभिभूत हो पैसे का प्रलोभन छोड़ नहीं सकते इसलिए उसे निषिद्ध वस्तुओं के व्यापार की अनुमति मिल जाती है, अवैध लाइसेंस प्राप्त हो जाता है और उसके लिए बुराइयों का द्वार खुल जाता है। इससे व्यक्ति की मानसिक शक्ति क्षीण होती है और वह बुराइयों से लड़ने की क्षमता खो बैठता है।

परोक्ष में पनपने वाले दोषों से बचाव करने के लिए अहिंसा की पृष्ठ-भूमि पर चिंतन हुआ। अहिंसा के क्षेत्र में दबाव का स्थान स्वतंत्र चेतना को मिला। स्वतंत्र चेतना को प्रहरी बनाकर कार्यक्षेत्र में उतारा जाए तो न मानसिक दुर्बलता आती है और न समाज में दोष पनपते हैं। इस क्रम से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य में शक्ति का प्रवेश होता है। ऐसे प्रयोग सफल भी हुए हैं। इनकी सफलता का आधार अध्यात्म और अहिंसा के प्रति आस्थाशीलता है। अणुव्रत का आधार अध्यात्म और अहिंसा है, अतः वह निर्माण के साथ स्वतंत्र चेतना का सम्बन्ध जोड़ता है।

स्वतंत्र-चेतना को जागृत करने की प्रक्रिया

—चेतना-जागरण का अर्थ है विवेक-जागरण। इसके लिए कुछ मानदण्डों और मूल्यांकनों को बदलना आवश्यक है। किसी भी युग में मूल्य-परिवर्तन का काम बहुत कठिन होता है; क्योंकि इसके लिए वातावरण और संस्कारों को बदलना पड़ता है। आज पैसे का मूल्य अधिक है इसलिए जनता की शक्ति का व्यय पैसा बटोरने में हो रहा है। इसके स्थान पर मानसिक शांति का मूल्य अधिक हो तो पैसा अपने आप गौण हो जाता है। खाने का एक मूल्य है, उसके अनुसार खाना ही श्रेय है। किन्तु दूसरा मूल्य स्वास्थ्य का भी है। जिस भोजन से स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है, दिन भर बेचैनी रहती है, पेट फूल जाता है, उस भोजन से क्या लाभ होगा ?

एक समय था, जब सती-प्रथा का सामाजिक मूल्य था। पति के पीछे सती होना स्त्री के गौरव का प्रश्न था। चित्तौड़ और जैसलमेर में एक साथ बीस-बीस हजार स्त्रियों के जौहर का इतिहास है। क्योंकि उस समय में जौहर का अंकन था। आज वह मूल्य बदल गया, इसलिए सती-प्रथा का भी अन्त हो गया।

मूल्य-परिवर्तन के लिए दृष्टिकोण की स्पष्टता के साथ लाभ की अनुभूति कराना भी आवश्यक है। लाभ और अलाभ इन दो स्थितियों में हर व्यक्ति लाभ की स्थिति स्वीकार करना पसन्द करता है। लाभ की स्थिति में भी वह प्रकृष्ट लाभ देखना चाहता है। किसी व्यक्ति को यह अनुभव हो जाए कि प्रामाणिक रहने में जो सच्चा लाभ मिलता है, वह अप्रामाणिकता से नहीं मिल सकता तो उसके दिमाग में अप्रामाणिक बनने का चिन्तन ही नहीं आएगा।

विदेशी चिंतकों ने इस पर बहुत बल दिया कि नैतिकता से व्यापार अधिक सफल होता है। अनैतिकता से तात्कालिक सफलता मिल सकती है, किन्तु वहां दीर्घकालिक लाभ से वंचित होना पड़ता है। नैतिक व्यक्ति एक बार व्यापार में असफल भी हो जाते हैं तो उनके मन का संतोष खण्डित नहीं होता।

एक समय भारत के व्यापारी भी प्रामाणिकता का मूल्य समझते थे। 'जावो लाख रहो साख' यह किंवदन्ती मनुष्य की नैतिक आस्था का प्रतीक है। आज यह मानदण्ड बदल गया है। मनुष्य की प्रतिष्ठा पैसे के आधार पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने लगी है। व्यापारियों की दृष्टि पैसे पर टिकी हुई है। भारतीय व्यापारियों की अफसलता का सबसे बड़ा कारण यही हो सकता है कि उन्होंने अपनी व्यापार-नीति से नैतिक मूल्यों को अलग कर दिया है। आज फिर से इन मूल्यों के प्रतिष्ठापन की अपेक्षा है। ऐसा होने से ही मनुष्य की स्वतंत्र चेतना विकसित हो सकेगी।

नया-निर्माण

व्यक्ति और समाज का नये सिरे से निर्माण करना अणुव्रत का उद्देश्य है। अणुव्रत के इस निर्माण कार्य का स्वरूप क्या है ?

यह तथ्य पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि अणुव्रत मूल्य-परिवर्तन के माध्यम से स्वतंत्र चेतना द्वारा व्यक्ति-निर्माण और समाज-निर्माण का मार्ग प्रस्तुत करता है। समाज-रचना के मुख्यतः तीन आधार हैं—विचार, व्यवहार और संस्कार। मूल्य-परिवर्तन के द्वारा विचारों, व्यवहारों और संस्कारों को नैतिक मूल्यों के अनुरूप ढालना सबसे बड़ा निर्माण है।

अणुव्रत मूल्य-परिवर्तन की दिशा में सदा ही सक्रिय रहा है। वह अपने इस प्रयोग में सफल भी रहा है। धर्मोपासना के सम्बन्ध में कुछ मूल्यांकन स्थिर थे, जैसे—

परलोक सुधारने के लिए धर्म करना चाहिए।

मनुष्य नैतिक बने या नहीं पर उसे धार्मिक बनना चाहिए।

धर्माचरण के लिए धर्मस्थानों में जाना चाहिए।

अवस्था विशेष आ जाने के बाद धर्मोपासना के लिए समर्पित हो जाना चाहिए आदि।

इन मूल्यों के आधार पर धर्म में रूढ़ता आ गई है। धर्म को रूढ़ होने से बचाने के लिए अणुव्रत ने नया दर्शन दिया—

धर्म परलोक के लिए नहीं, वर्तमान जीवन की शांति के लिए है।

मनुष्य धार्मिक बने, पर उससे पहले नैतिक बनना जरूरी है।

क्षेत्र और समय की सीमाओं से धर्म का कोई अनुबंध नहीं है।

अणुव्रत रूढ़ धाराओं, मिथ्या मान्यताओं और अर्थहीन मूल्यों को विघटित कर निर्माण के लिए नयी पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाजवाद और अहिंसा

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद समाजवाद की आवाज को अनेक बार दोहराया गया है। किसी विशेष संदर्भ के संयोग से वह आवाज तीव्र भी हो जाती है। किन्तु बहुत बार यह भी अनुभव होने लगता है कि यह आवाज महज औपचारिक ही तो नहीं है? आज तक इसे नारेबाजी का रूप देकर क्या परिस्थितियों से लाभ उठाने की चेष्टा नहीं की गयी है?

जब-जब देश में किसी आन्दोलन ने जन्म लिया है, समाजवाद की आवाज को तीव्र किया गया। अभी पृथक् तेलंगाना के आन्दोलन ने जोर पकड़ा तो सरकार की आंख खुली। प्रश्न यह है, क्या यही उसका अंतिम हल है? यदि नहीं तो प्रश्न को जड़ से क्यों नहीं पकड़ा जाता है?

आज देश के अधिकांश आन्दोलनों के मूल में विषमता ही काम कर रही है। कहीं आर्थिक विषमता का स्वर तीव्र है और कहीं अधिकारों की विषमता का। यही विषमता का स्वर जब विनाश का रूप धारण कर आता है, तब सबको चिन्ता होती है और उसे समाधान देने के लिए दौड़-धूप होती है। यदि उस समाधान के लिए समय पर प्रयत्न हो जाता तो आन्ध्र के विकास का एक चौथाई विनाश क्यों होता?

अणुव्रत-दर्शन समाजवाद का पूरा समर्थन करता है। उसका सैद्धान्तिक पक्ष समाजवादी व्यवस्था को पूरा बल देता है। उसकी आस्था है समाज में किसी प्रकार की विषमता और शोषण न रहे। मानवीय वैषम्य हिंसा को खुला आमंत्रण है। विषमता घृणा की जननी है और घृणा हिंसा की। समाजवाद विषमता में आस्था नहीं रखता। उस विषमता को मिटाने के लिए गांधीजी ने जिस अहिंसा-प्रधान माध्यम की परिकल्पना की, अणुव्रत उससे सर्वथा सहमत है। वह यह मानकर चलता है कि समाजवाद ही विषमता मिटाने का सहज सरल तरीका है और उस समाजवाद को सफलता और प्रभावशीलता के लिए अहिंसा को बुनियाद में रखना आवश्यक है।

अणुव्रत के योगदान का जहां तक प्रश्न है, वह एक प्रयोग दे सकता है, किन्तु शासनगत व्यवस्था देना उसका लक्ष्य नहीं। प्रयोग में से जो भी निष्कर्ष आए, उससे शासन लाभान्वित हो सकता है। उस प्रयोग की दृष्टि से सबसे पहले विषमता के विरुद्ध विचार-क्रान्ति का वातावरण तैयार करना होगा। अणुव्रत अपने जन्म से ही इस विचार-क्रांति की दिशा में प्रयत्नशील रहा है। उसने देश के समग्र वातावरण में यह निष्ठा उत्पन्न करने का प्रयास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया है कि जब तक इस नैतिक प्रश्न का हल नहीं हो जाता, समस्याएं सुलझने वाली नहीं हैं। मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूं, राष्ट्र का अधिकांश भाग आज मेरी इस आवाज के साथ है।

उस प्रयोग का दूसरा पक्ष यह होगा कि पूंजी पर व्यक्तिगत स्वामित्व न रहे। आर्थिक विषमता का मूल पूंजी पर व्यक्तिगत स्वामित्व ही है। जब तक यह बना रहेगा, गरीब और धनवान—ये दो वर्ग बने रहेंगे; जिसका अर्थ होगा, समाजवाद की असफलता। मैं अपनी लंबी पद-यात्राओं के बीच साम्यवाद में आस्था रखने वाले हजारों व्यक्तियों के संपर्क में आया हूं। उस सम्पर्क में मैंने पाया, उनमें से नब्बे प्रतिशत लोगों की साम्यवाद में आस्था धार्मिक विमुखता के कारण नहीं, आर्थिक विषमता के कारण ही है। धर्म के संस्कार आज भी उनमें हैं। चर्च और मन्दिरों में आज भी उनके दिलों में श्रद्धा है। फिर भी वे अपने को साम्यवादी मानते हैं और इसके पीछे एकमात्र कारण देश की आर्थिक विषमता ही है। यदि आज यह आर्थिक विषमता मिट जाती है, तो हिंसात्मक आन्दोलन स्वयं अपनी मौत मर जाते हैं। वर्तमान परिस्थितियों में पूंजी पर से व्यक्तिगत स्वामित्व हटने से ही यह संभव है।

संत विनोबा ने भूदान का जो प्रयोग किया, उसके पीछे विषमता मिटाने का लक्ष्य रहा हो, ऐसा मैं नहीं सोचता। जिनके पास बिलकुल जमीन नहीं थी, उनमें से कुछ को इस प्रयोग से कुछ राहत मिली, यह हो सकता है, किन्तु यह राहत ही है, स्थिति का समाधान नहीं।

जिसके पास पांच सौ बीघा जमीन हो, वह पांच बीघा जमीन भूदान में दे दे—इससे विषमता का अन्त नहीं होता, प्रत्युत उस ४९५ बीघा जमीन की उम्र और अधिक लम्बी ही जाती है। जिस किसान के मन में सर्वथा अभाव के कारण रोष होता है, वह 'कुछ' भाव के कारण उतना तीव्र नहीं रह पाता। फिर इसने देश की आर्थिक व्यवस्था में जटिलता ही पैदा की है। इसलिए भूदान के प्रयोग को आर्थिक विषमता मिटाने की दिशा का प्रयोग कहने में मुझे कठिनाई महसूस हो रही है।

अणुव्रत ने इस दिशा में इस रूप से कोई प्रयोग करने का कोई निर्णय नहीं लिया है। विचार-क्रांति की दृष्टि से उसने देश में अवश्य वातावरण का निर्माण किया है। प्रयोग की दृष्टि से भी उसे निर्णय लेना है। इससे पूर्व वह इस विषमता को मिटाने वाले हर अहिंसात्मक प्रयास का पूरा समर्थन करता है।

प्रजातंत्र का प्रासाद जनता के विश्वास और सद्भावना पर ही टिका होता है। जिस दिन वह विश्वास और सद्भावना टूट जाए, मान लेना चाहिए कि वह प्रजातंत्र भी अधिक निभने वाला नहीं है। अब देश के भविष्य में दो संभावनाएं ही शेष हैं—कोई दल-विशेष अपना विश्वास उत्पन्न कर शासन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तंत्र को सम्हाले या फिर प्रजातंत्र के स्थान पर दूसरे तंत्र का सन्निवेश हो।

प्रजातंत्र के प्रति जनता का विश्वास ही नहीं रहा है, ऐसा मैं आज भी नहीं मानता। स्थिति यह है कि प्रजातंत्र की ध्वजा मजबूत हाथों में नहीं है। योग्यता के अभाव में जन-मानस में एक तीव्र आक्रोश है। वह आक्रोश ही समय-समय पर फूटकर बाहर आता रहता है।

किसी नये शासन-तंत्र की स्थिति भारत के मानस में अभी पैदा नहीं हो सकती। राजतंत्र और अधिनायकवाद के हृदय-विदारक परिणामों को वह आज भी नहीं भूला है। इतना अवश्य है, प्रजातंत्र का मधुर परिणाम जो आज तक उसे मिलना चाहिए था, वह नहीं मिल पाया है। प्रजातंत्र में से जो न्यायप्रियता, नीति-कुशलता, चरित्र-निष्ठा और समान अधिकार उसे मिलने चाहिए थे, वे नहीं मिल पाए हैं। प्रजातंत्र का रथ हांकने वाले व्यक्तियों में पांच गुण अत्यन्त आवश्यक होने चाहिए—

१. न्यायप्रियता,
२. नीति-कौशल,
३. नैतिक आचरण,
४. सेवाभाव,
५. उदार दृष्टिकोण।

जब इन गुणों का नेतृ-वर्ग में अभाव हो जाता है, जनता का विश्वास टूट जाता है। आज भारत की भी यही स्थिति है। यह विश्वासहीनता की स्थिति देश के भविष्य के लिए भी कभी शुभ नहीं हो सकती। जनता एक सही दिशा का चुनाव कर ले, तो फिर भी यह एक शुभ संकेत है, अन्यथा इसका परिणाम कोई अच्छा नहीं दीखता।

विद्यार्थी-वर्ग हो या कर्मचारी-वर्ग, उनकी मांग पूरी न हुई कि हिंसात्मक तोड़-फोड़ शुरू हो जाती है। यह स्थिति राष्ट्र के सभी वर्गों की है। किसी कार्य के पीछे न्याय और औचित्य बोलता हो तो उसकी भयंकरता को भी सहन किया जा सकता है। किन्तु जिसके पीछे कोई न्याय और औचित्य नहीं हो, वह कैसे सहन किया जाए? जब पंच आयोग को स्वीकार किया गया, फिर उसके निर्णय पर, [क्योंकि वह एक पक्ष की इच्छा के प्रतिकूल जाता है] हिंसा पर उतारू हो जाना भी उचित नहीं कहा जा सकता।

इन परिस्थितियों को देखते हुए एक उदाहरण मेरी स्मृति में आ रहा है। एक बार साधुओं की एक जमात एक गांव में पहुंची। गांव के मुखिया लोग उनकी आवभगत के लिए पहुंचे और साथ ही निवेदन किया—'आप लोग थोड़ी देर विश्राम कीजिए, हम बहुत जल्दी ही भोजन का प्रबन्ध कर रहे हैं।'

भोजन की व्यवस्था में जरा विलम्ब हो गया। साधु लोग भोजन की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतीक्षा करते-करते थक गये। उनके धैर्य ने सीमा को तोड़ दिया। हाथों में बड़ी-बड़ी लाठियां लेकर बाजार में पहुंचे और मकानों के घास-फूस के छप्परों को जोर-जोर से पीटने लगे। लोगों ने पूछा—'महात्मन्! यह आक्रोश कैसा?' साधुओं ने कहा—'अभी तक भोजन का प्रबन्ध कहां हो पाया है? ग्रामवासियों ने विनम्र निवेदन किया—'भगवन्, यह तोड़-फोड़ कृपा कर बन्द कीजिए। हम अविलम्ब भोजन की व्यवस्था कर रहे हैं।' साधुओं ने कहा—'जब तक भोजन सामने नहीं आ जाता, तोड़-फोड़ बन्द नहीं होगी।'

यही स्थिति आज सारे राष्ट्र की हो रही है। हर वर्ग का यह आग्रह है, हमारी मांग यदि पूरी नहीं होती है तो हम तोड़-फोड़ करेंगे, लोगों को लूटेंगे; मकानों, रेलगाड़ियों, बसों और कारों को आग लगाएंगे और राष्ट्र की सम्पत्ति को तबाह करेंगे। गैर-कम्युनिस्ट लोग कम्युनिस्ट दल की विजय से एक प्रकार का आतंक अनुभव कर रहे हैं, क्योंकि साम्यवादी अपनी लक्ष्य-प्राप्ति के लिए हिंसा का सहारा भी ले लेता है। मैं कहता हूं यदि अन्यान्य दल भी हिंसा का सहारा लेते हैं, तो फिर कम्युनिस्टों को दोष देने से क्या लाभ? इतना ही नहीं, मुझे यह भी अनुभव हो रहा है, आज अहिंसा की बात करना प्रतिगामिता का लक्षण माना जाता है। आज का पढ़ा-लिखा वर्ग गांधीजी के द्वारा बताये गये अहिंसात्मक उपायों को दकियानूसी विचार मानता है। आस्था के बदलते हुए इस रूप का ही परिणाम है, आज स्थान-स्थान पर बिना किसी संकोच के हिंसा, लूटपाट, आगजनी की घटनाएं बढ़ रही हैं।

जनतन्त्र के प्रभाव का जहां तक प्रश्न है, मुझे लगता है जैसे आज उसकी रीढ़ ही टूट गयी है। स्वस्थ जनतन्त्र में हिंसा, उच्छृंखलता, असहिष्णुता को कभी अवकाश नहीं होता। आज जब खुले रूप से यह सामने आ रहा है, फिर इसको जनतंत्र कहने में ही मुझको संकोच हो रहा है। विचारों के स्वातंत्र्य का यह अर्थ तो नहीं कि हम जनतंत्र की मर्यादाओं को ही भूल जाएं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शोषण–विहीन समाज-रचना

अणुव्रत का प्रारम्भिक लक्ष्य वर्तमान समाज में संशोधन करने का रहा। समाज को विकृत करने वाले तत्त्वों, भ्रष्ट आचरणों, अन्धविश्वासों व अर्थहीन रूढ़ परम्पराओं के विरुद्ध उसने एक सशक्त आवाज उठाई और समाज में नैतिक चेतना के वातावरण का निर्माण किया।

इसी प्रक्रिया के मध्य उसे अनुभव हुआ— केवल संशोधन या सुधार की बात का महत्त्व अवश्य है, किन्तु व्यवस्थागत कठिनाइयों के बीच संशोधन या सुधार की बात का प्रभाव चिर-स्थायी रहना कठिन है। दूसरी बात—कोई भी आन्दोलन तब तक अपूर्ण ही होता है, जब तक वह जीने का एक समग्र दर्शन प्रस्तुत न करे।

इन्हीं सब प्रश्नों की ऊहापोह में पिछले दो-तीन वर्षों से शोषण-विहीन समाज-रचना की परिकल्पना सामने आयी। यद्यपि उसका लक्ष्य यहीं समाप्त नहीं हो जाता, फिर भी पहला लक्ष्य उसका यह निर्णीत किया गया। शोषण-विहीन समाज-रचना के अभाव में सामाजिक मूल्यों में संघर्ष होना अनिवार्य है। इस स्थिति में सर्वोपरि महत्त्व नैतिक मूल्यों का नहीं होता, व्यवस्थागत मूल्यों का होता है। आन्दोलन मानसिक स्तर पर कार्य करे और व्यवस्थाएं सामाजिक स्तर पर भिन्न प्रभाव डालें, तो फिर दोनों में सामंजस्य नहीं बैठता। मनोभूमिका और व्यवस्था अलग-अलग पड़ जाते हैं और मनोभूमिका पर किया गया कार्य समाज की भूमिका तक आते-आते क्षीण हो जाता है।

अणुव्रत का आधार संयम है। वह प्रत्येक समस्या को संयम के माध्यम से सुलझना चाहता है। उसका विश्वास है कि संयम ही मनुष्य को शान्तिपूर्ण जीवन की व्यवस्था दे सकता है। उस शोषण-विहीन समाज की रचना के मूल में भी संयम की प्रतिष्ठा ही होगी।

संयम का रूप नकारात्मक है—यह बात बहुत सारे लोग मानते हैं। मैं ऐसा नहीं मानता। मेरे अभिमत से उसका सकारात्मक रूप भी है। जहां हम रचना की बात करते हैं, वह उसके सकारात्मक रूप से ही संभव है।

शोषण-विहीन समाज का क्या स्वरूप हो, उसको लेकर अणुव्रत के सामने रेखाएं बहुत स्पष्ट हैं—

१. वह समाज अल्पेच्छा और अल्प अपरिग्रह को पहला स्थान देगा। अल्पेच्छा से तात्पर्य है कि उसकी आकांक्षाएं निरंकुश नहीं हों। आकांक्षाओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का विस्तार संग्रह या परिग्रह का कारण बनता है और संग्रह शोषण का कारण बनता है, इसलिए अणुव्रत इच्छा-संयम पर बल देता है। इच्छा के साथ संग्रह-संयम स्वयं हो जाएगा।

२. अणुव्रत अर्थ और सत्ता के केन्द्रीकरण को, फिर चाहे वह व्यक्तिगत स्तर पर हो या राष्ट्रीय पर, प्रश्रय नहीं देगा। अर्थ और सत्ता का यह केन्द्रीकरण ही शोषण और संग्रह की समस्याओं को जन्म देता है।

३. उस समाज में श्रम और स्वावलम्बन की प्रतिष्ठा होगी। व्यक्ति आत्म-निर्भर बने और श्रम का मूल्यांकन सामाजिक स्तर पर हो; यह प्रयत्न किया जाएगा।

४. संग्रह करने वालों को उसमें सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी। मनुष्य बहुधा अधिक संग्रह प्रतिष्ठा पाने के लिए ही करता है। आवश्यकता पूर्ति के लिए मनुष्य को अधिक धन अपेक्षित नहीं होता। फिर भी धन के प्रति उसकी जो लालसा देखी जाती है, उसका एकमात्र कारण प्रतिष्ठा ही है। एक बार मैंने एक बड़े उद्योगपति से जालसाजी करने का कारण पूछा। उन्होंने कहा कि मैं हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा उद्योगपति बनना चाहता हूं। आज भी लोगों के मन में संग्रह के प्रति जो आकर्षण है, उसके पीछे सामाजिक प्रतिष्ठा की भावना ही काम कर रही है। यही कारण है कि वे सब प्रकार के छल, प्रपंच, फरेब और षड्यंत्र रचकर भी पैसा कमाना चाहते हैं। आज यदि अर्थ की भूमिका में से सामाजिक प्रतिष्ठा को निकाल लिया जाए, तो दूसरे ही क्षण संग्रह का महल ढह जाने वाला है।

५. उस समाज के आधार में अहिंसा होगी। उसका यह विश्वास होगा कि समस्या का सही समाधान अहिंसा में ही है। अपनी हर समस्या को वह अहिंसा के माध्यम से ही सुलझाने का प्रयत्न करेगा।

इस प्रकार वह एक संयम-प्रधान समाज होगा। निरंकुश मनोवृत्ति, संग्रह और परिग्रह के प्रति आकर्षण, अर्थ और सत्ता का केंद्रीकरण, अर्थ की प्रतिष्ठा, हिंसा और शक्ति-बल का उसमें कोई स्थान नहीं होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामाजिक क्रांति और उसका स्वरूप

समाज की व्यवस्थाएं परिवर्तनशील हैं। परिवर्तन का प्रभाव समाज के मूल्यों और भावनाओं पर भी होता है। जहां साधारण परिवर्तन से काम हो जाता है वहां क्रान्ति की अपेक्षा नहीं रहती। जहां परिवर्तन पर्याप्त नहीं होता, वहां स्थिति को रूपान्तरित करना पड़ता है। आमूलचूल रूपान्तरण का नाम है क्रांति। क्रांति का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है क्रमण करना, मूल स्थिति का लंघन कर दूसरी स्थिति में पहुंच जाना। देश, काल और परिस्थितियों के संदर्भ में जिन व्यवस्थाओं और जिन मूल्यों की उपयोगिता कम या समाप्त हो जाती है, उन्हें मिटा देना जागृत तथा चेतनाशील समाज का काम है।

सामाजिक क्रांति का स्वरूप है समाज-व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन। परिवर्तन आंशिक भी होता है। आंशिक परिवर्तन सुधार कहलाता है। वह क्रांति का प्राग् रूप है। सुधार ऊपर से होता है और क्रांति मूल को बदल देती है। शरीर के किसी अवयव पर कोई खरोंच आ गयी, उस पर मरहमपट्टी करना सुधार है। किसी अवयव पर फोड़ा हो गया, वह शल्य-चिकित्सा के बिना ठीक नहीं होता है, तब शल्य-चिकित्सा करायी जाती है। इस शल्य-चिकित्सा को क्रांति का प्रतिरूप कहा जा सकता है।

क्रांति गुणात्मक परिवर्तन नहीं, जात्यन्तर परिवर्तन है, क्योंकि इसमें स्वरूप बदल जाता है। ठंडे पानी को गर्म करना अथवा गर्म पानी को ठंडा करना गुणात्मक परिवर्तन है, इसलिए क्रांति नहीं है। गर्म पानी एक तापमान तक पहुंचने के बाद भाप बन जाता है। इसी प्रकार ठंडा पानी एक स्थिति तक पहुंचने के बाद बर्फ रूप में जम जाता है। यह स्वरूपान्तर ही क्रांति (रिवोल्युशन) है।

एक समाज में स्त्रियों के लिए घूंघट रखने की पद्धति है। दाएं हाथ की ओर मोड़ने वाले घूंघट को बाएं हाथ की ओर मोड़ना जात्यन्तर परिवर्तन नहीं है। इसमें केवल क्रम बदलता है, पर मूल स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती है। क्रम परिवर्तन सुधार की कोटि में आता है। कुछ मूल्यों और व्यवस्थाओं में केवल सुधार की आवश्यकता रहती है, किन्तु जहां सुधार मात्र से जीवन पद्धति विकसित नहीं होती, वहां क्रांति को कोई टाल नहीं सकता।

सामाजिक क्रांति-नेताओं का काम है या धर्माचार्यों का ?

सामाजिक क्रान्ति का सम्बन्ध उन सबसे है जो समाज के परिपार्श्व में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीते हैं। समाज से प्रभावित हर व्यक्ति सामाजिक क्रांति में योग देता है। धर्म जब समाजगत होता है, तब धर्माचार्य अपने सामाजिक दायित्व से मुक्त कैसे रह सकेंगे ? धर्म, धर्माचार्यों और धर्म के प्रतिनिधियों की यह विशेष जिम्मेदारी है कि वे समाज को रूढ़ियों की पकड़ से मुक्त करें। समाज धर्म और अध्यात्म की पात्रता प्राप्त करे, इसलिए समाज का परिष्कार आवश्यक है।

सामाजिक क्रान्ति के दो आधार हैं—सैनिक शासन और हृदय-परिवर्तन। राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र इन दोनों आधारों को मानकर चलते हैं। एक समय तुर्की में बुर्का ओढ़ने की प्रथा थी। तुर्की के तत्कालीन राष्ट्रपति कमालपाशा ने विशेष आदेश द्वारा रात-रात में ही बुर्का उठा दिया। इसी प्रकार अनेक देशों में सामाजिक क्षेत्र में समय-समय पर क्रांतियां होती रही हैं। एक समय था जब बड़ा आदमी वह माना जाता था जो अधिक-से-अधिक अलंकरणों से सुसज्जित होता था। नगर के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को पांवों में सोने के कड़े पहनने की मुक्तता प्राप्त होती थी। वे सोना-निवेश कहलाते थे और पांवों में सोना पहनना उनके राजकीय सम्मान का प्रतीक था। आज यह मूल्य समाप्त हो गया है। अब अलंकरणों के आधार पर व्यक्ति के बड़प्पन का अंकन नहीं होता है। पांवों में सोना पहने या न पहने, आज उसका कोई मूल्य नहीं है।

एक युग था जब धन को जमीन में गाड़कर रखना, सोने का संचय करना अच्छा माना जाता था किन्तु आज अर्थशास्त्रीय नीति बदल गयी है और उस युग के मूल्य परिवर्तित हो गए हैं। अर्थ का संग्रह करना, उसके प्रवाह को रोककर रखना अब अनुचित माना जाने लगा है। अर्थशास्त्र के अनुसार अर्थ की उपयोगिता यह है कि व्यक्ति स्वयं उससे लाभान्वित हो और दूसरों की आजीविका के साधन सुलभ हों। व्यावसायिक क्षेत्र में उद्योग-धंधे ही देश की प्रगति में साधक हैं, अतः अर्थ को जमीन में गाड़कर रखने का मूल्य समाप्त हो गया है।

समाज में कुछ ऐसी प्रथाएं भी चलती हैं, जो धर्म को प्रभावित करती हैं। मृत्यु पर प्रथा रूप से रोना, पति के मरने पर स्त्री के लिए वर्षों तक कोने में बैठे रहना, विधवा स्त्री को कलंक रूप मानना, उसका मुंह देखने को अपशकुन कहना आदि ऐसी रूढ़ियां हैं, जिनके सम्बन्ध में दृष्टिकोण देना धर्मगुरुओं के लिए आवश्यक हो जाता है; क्योंकि परिवर्तनीय के प्रति अपरिवर्तनीय का आग्रह गलत दृष्टिकोण है। मिथ्या अभिनिवेश मिटाकर सत्य को निखार देना क्रांति का उद्देश्य है। जिस धर्म के अनुयायी मिथ्या आग्रह और अंध-विश्वासों को नहीं छोड़ सकते, वह धर्म ही क्या ? अनुयायी समाज की अर्थहीन रूढ़ परम्पराओं के परिवर्तन का दृष्टिकोण देना धर्माचार्यों के करणीय कामों में से एक है। इसके लिए उन्हें अपना वर्चस्व काम में लेना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म-गुरु का नेतृत्व बड़े समाज पर होता है। उनके क्रांतिकारी दृष्टिकोण का आधार समाज की स्वस्थता है।

क्रांति करने से पहले क्रांति के मानदण्डों की स्थापना होना आवश्यक है। भगवान् महावीर के सामने समता का मानदण्ड था। उसके आधार पर उन्होंने समाज की विषमता-मूलक हर प्रवृत्ति पर प्रहार किया। उस समय दास-प्रथा, जातिवाद और अर्थ-संग्रह—ये विषमता के उत्स थे। आज स्थितियां बदल गयी हैं, फिर भी इस क्षेत्र में बहुत कुछ करणीय है। समता का मानदण्ड हमें परम्परा से प्राप्त है, और वह आज भी सम्मत है। आर्थिक विषमता और जातिगत विषमता के विरुद्ध आवाज उठाने के साथ-साथ मानवीय समता का पूर्ण विकास होना जरूरी है।

दहेज-प्रथा, ठहराव, शादी के प्रसंग में अतिव्यय, संग्रह की मनोवृत्ति आदि सामाजिक अभिशापों का अन्त करने के साथ मूल्य-परिवर्तन की दिशा में भी काम करना है। वर्ग-भेद की कल्पना और धार्मिक प्रतिबद्धता भी समाज के हित में नहीं है। पर्दा-प्रथा और पहनावे के संबंध में दृष्टिकोण स्पष्ट होना जरूरी है। कुल मिलाकर सादा और सात्त्विक जीवन जीने के प्रति आकर्षण पैदा कर समाज के मिथ्या मानदण्डों को बदलना है। मूल्य-परिवर्तन और विचार-परिवर्तन के परिवेश ही क्रांति की सफलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणुव्रत-प्रेरित समाज-रचना

युग का चिंतन इतना आगे बढ़ चुका है कि अब कोई भी दल आर्थिक विषमता का खुला समर्थन नहीं कर सकता। किन्तु मैं नहीं समझ पा रहा हूं कि क्या सभी समस्याओं का हेतु केवल आर्थिक विषमता ही है। वह बहुत बड़ा हेतु है, इसे मैं मानता हूं किन्तु एकमात्र हेतु नहीं मानता।

समस्या का एकमात्र हेतु है वैचारिक विपर्यय। मनुष्य का दृष्टिकोण सही हो, विचार की भित्ति यथार्थ हो तो क्या आर्थिक विषमता टिक सकती है? वह इसीलिए टिक रही है कि मनुष्य का दृष्टिकोण यथार्थ नहीं है।

जाति-भेद और रंगभेद की समस्या आज भी उग्र है। मनुष्य के प्रति मनुष्य का दृष्टिकोण सही नहीं है, इसीलिए वह चल रही है। अमरीका जैसा सभ्य और सुसंस्कृत देश आज रंग-भेद की समस्या में उलझ रहा है। हिन्दुस्तान जैसा धार्मिक देश आज जाति-भेद की समस्या से संत्रस्त है। गरीबी भी इसीलिए चल रही है कि मनुष्य के प्रति मनुष्य में पूर्ण प्रेम नहीं है, करुणा नहीं है।

बेरोजगारी मिटाने के लिए श्रम, बुद्धि, परम्परा, मुक्त विचार और उचित संयोजन आवश्यक हैं। इनके होने पर भी गरीबी रहती है यानी कुछ लोग बहुत संपन्न हो जाते हैं और कुछ लोग बहुत विपन्न—इसका कारण प्रेम का अभाव ही है। यदि बौद्धिक क्षमता से संपन्न लोगों में अक्षम लोगों के प्रति प्रेम हो तो यह विषमता की स्थिति नहीं आ सकती। चालीस व्यक्तियों के परिवार को एक सक्षम व्यक्ति पाल लेता है। उसका हेतु क्या है? यही तो है कि परिवार को वह अपना मानता है और उसके प्रति प्रेम का सूत्र जुड़ा रहता है।

आज उस प्रेम को विस्तार देने की आवश्यकता है। समूचे समाज को एक परिवार मान लेने की आवश्यकता है। राजनीति के विचारक कई दशकों पूर्व ऐसा मान चुके हैं। आश्चर्य और खेद है कि धर्म के विचारक आज भी इस सत्य को स्वीकार नहीं कर रहे हैं। यदि आर्थिक समानता की बात किसी धार्मिक मंच से आती तो बहुत स्वाभाविक होती, किन्तु ऐसा नहीं हुआ।

अपरिग्रह और असंग्रह के सिद्धांत की स्थापना भगवान् महावीर ने प्रखर रूप में की। अन्य धर्माचार्यों ने भी उनका साथ दिया। किन्तु समाज के क्षेत्र में उसका व्यावहारिक प्रयोग किसी धार्मिक ने नहीं किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ?
भूखे भजन न होहि गोपाला ।

हमारे कवि और शास्त्रकार इस सत्य की अनुभूति करते रहे पर उसका समाधान खोजने की दिशा का उद्घाटन नहीं किया ।

आज का युग उसके समाधान का सिंहद्वार खोल चुका है । अब गरीबी ईश्वरीय इच्छा न होकर मनुष्यकृत समाज-व्यवस्था की त्रुटियों का परिणाम प्रमाणित हो चुकी है । अब दीनता को सहारा देने वाला चिंतन निरस्त हो चुका है । आज का चिंतन है—त्रुटिपूर्ण समाज-व्यवस्था को बनाए रखकर दीनता को सहारा मत दो, किन्तु उसका परिमार्जन करो ।

इस परिमार्जन के युग में हर व्यक्ति को नया दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है । दीन-वर्ग को धर्म-पुण्य के नाम पर उठाने की पुरानी धारणा में प्राण-संचार हो गया है । समाज के समर्थ वर्ग द्वारा कृत व्यवस्था दोष से विपन्न वर्ग उत्तेजित हुआ है । फलतः उसमें हिंसा उभरी है । इस हिंसा को उभारने के दोष का प्रायश्चित्त उन कारणों को निरस्त करके ही किया जा सकता है । मैं वर्तमान में हो रहे परिवर्तन को बहुत बड़ा सृजन नहीं मानता, मात्र अतीत की भूलों का प्रायश्चित मानता हूं ।

भूल की अनुभूति हुए बिना प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है ? अनुभूति होने पर भी भविष्य में उसकी पुनरावृत्ति न करने का संकल्प किए बिना प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है ? अणुव्रत इन दोनों की भूमिका पर दो दशकों से अपना चिंतन प्रस्तुत कर रहा है । चिंतन की दिशा में वह आगे भी बढ़ा है । अब उसे सफल करना है । चिंतन की सफलता की कसौटी है क्रिया । क्रिया और क्या है ? चिंतन का चरम बिंदु ही क्रिया है ।

अणुव्रत के कार्यकर्ताओं को अब चिंतन को प्रयोग की भूमिका पर लाना है । मनुष्य जाति एक है—यह अणुव्रत का मुख्य सिद्धांत है । क्या यह कोरा आदर्श है या व्यावहारिक भी है ? यदि व्यावहारिक है तो वह फलित कैसे हो सकता है ? मानवीय व्यक्तित्व के दो रूप हैं—आंतरिक और बाह्य । धर्म ने आंतरिक व्यक्तित्व में समानता लाने का दिशा-बोध भी दिया है । अर्जित संस्कारों एवं आवरणों की क्षीणता का अभ्यास करने पर आंतरिक समानता साधी जा सकती है । अणुव्रत को साधना केन्द्र के माध्यम से यह कार्य करना है, केवल परम्परा के रूप में नहीं, प्रायोगिक स्तर पर करना है ।

दूसरी बात यह है कि अणुव्रत को ऐसे समाज की रचना करनी है, जिसमें मनुष्य जाति की एकता का स्पष्ट प्रतिबिम्ब हो । उसके मुख्य आधार चार हो सकते हैं—नैतिकनिष्ठा, प्रेम, सहानुभूति और अनाग्रही दृष्टिकोण ।

नैतिक निष्ठा के अभाव में एक आदमी दूसरे आदमी के हितों का विघटन करता है । उसे लूटता है । उसका शोषण करता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेम के अभाव में एक आदमी दूसरे आदमी से घृणा करता है। उसे हीन मानता है, तिरस्कृत करता है।

सहानुभूति के अभाव में एक आदमी दूसरे आदमी की कठिनाइयों की उपेक्षा करता है। अपने ही सुख-दुःख की समस्या को प्राथमिकता देता है।

अनाग्रही दृष्टिकोण के अभाव में मनुष्य वैचारिक स्वतंत्रता का हनन करता है। मतभेद के आधार एक-दूसरे को कुचलने का प्रयत्न करता है।

आज का विश्व दो समस्याओं का सामना कर रहा है। विश्व का एक भाग व्यक्तिगत स्वामित्व को निरस्त कर सामुदायिक व्यवस्था चला रहा है। उसे व्यक्ति के आर्थिक विकास की प्रेरणा की समस्या का सामना करना पड़ रहा है। व्यक्तिगत लाभ से जो आर्थिक विकास की प्रेरणा मिलती है, वह सामुदायिकता के क्षेत्र में अपनी तीव्रता खो देती है।

विश्व का दूसरा भाग व्यक्तिगत स्वामित्व की व्यवस्था चला रहा है। उसे बेकारी तथा आर्थिक वैषम्य की समस्या का सामना करना पड़ रहा है। क्या विसर्जन इन दोनों समस्याओं का समाधान है? उसमें व्यक्तिगत स्वामित्व की व्यवस्था का लोप भी नहीं है और अतिरिक्त संग्रह की बुराई भी नहीं है। किन्तु विसर्जन ऐच्छिक है, अनिवार्य नहीं है। इसलिए उसका सामुदायिक बनना कठिन है। इस दुनिया की प्रकृति ही ऐसी है कि कोई भी वस्तु पूर्ण-रूपेण कठिनाई से मुक्त नहीं होती।

पूर्वोक्त दोनों प्रयोग राजकीय व्यवस्था द्वारा संचालित हैं। विसर्जन का प्रयोग किसी तंत्र द्वारा नहीं, एक नैतिक प्रेरणा द्वारा संचालित हो सकता है। अणुव्रत को अवश्य ही इसका संचालन करना है। मनुष्य जाति की एकता और विसर्जन—ये दोनों अणुव्रत-प्रेरित समाज-रचना के मुख्य सूत्र हैं। इस प्रकार की समाज-रचना समाजवाद के अनुकूल ही नहीं होगी, अपितु उससे उत्पन्न हिंसा और प्रतिक्रिया की समस्याओं को समाधान देने वाली होगी।

यह बहुत बड़ा कार्य है, बहुत जटिल और बहुत श्रम-साध्य। इसकी संपूर्ति के लिए दृढ़ निष्ठा, दृढ़ संकल्प और दृढ़ अध्यवसाय लेकर चलने वाले कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है। विभक्त निष्ठा वाले कार्यकर्ता बहुत नहीं कर पाते। ऐसे कार्यकर्ताओं की उपलब्धि या निर्माण आवश्यक है। अब परिस्थितियां इतनी तेजी से बदल रही हैं कि इस कार्य में विलम्ब क्षम्य नहीं है। कालातिक्रांत कार्य स्वयं अर्थहीन हो जाता है। क्या मैं आशा करूं कि अणुव्रत के कार्यकर्ता इस पर गंभीरतापूर्वक विचार करेंगे?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शोषण-मुक्त समूह-चेतना

मनुष्य साधन-निर्भर प्राणी है। उसके जीवन का निर्वाह साधन-सापेक्ष है और उसकी समृद्धि का विकास भी साधनों पर ही निर्भर है। साधन दो प्रकार के होते हैं—प्राकृतिक और श्रम-निष्पन्न। प्राकृतिक साधन सबके लिए समान रूप से प्राप्त हो सकते हैं, इसलिए वहां कोई विवाद खड़ा नहीं होता। विवादास्पद हैं श्रम-निष्पन्न साधन। श्रम का नियोजन बुद्धि से होता है। अतः साधनों के विकास में श्रम और बुद्धि दोनों मूल्यार्ह हैं।

विश्व का इतिहास यह है कि श्रम और बुद्धि का योग बहुत कम रहा है। साधनों का संचालन और नियोजन बुद्धि के हाथ में रहा है और उनका उत्पादन श्रम के हाथ में है। श्रम और बुद्धि दोनों में एकरसता नहीं रही है। एकरसता न होने का भी कारण है। दोनों के स्वार्थ भिन्न-भिन्न हैं। जहां स्वार्थ भिन्न होते हैं, वहां सशक्त व्यक्ति अपने हित के लिए दूसरों के हित को कुचलने के लिए उद्यत हो जाता है। श्रम और बुद्धि के संघर्ष में श्रम बुद्धि की जकड़ में आ गया और वह बुद्धि द्वारा शोषित होने लगा। इस प्रकार एक शोषण-मुक्त समाज की नींव पड़ गयी।

साधनों का उत्पादन करने के लिए श्रम की आवश्यकता है पर श्रम का संचालन बौद्धिक आधार पर होता है। बुद्धि के अभाव में शक्ति भी काम नहीं कर सकती। महामात्य चाणक्य अपनी बुद्धि के प्रति पूर्ण आश्वस्त था। उसने अपने राजा और जनता को आश्वासन देते हुए कहा—'जब तक मैं हूं, अपने देश को कोई खतरा नहीं है।' बुद्धिमान् व्यक्ति अपने हित के लिए श्रमिकों का शोषण करता है। उसका अपनत्व जिस सीमा तक विस्तृत होता है, शोषण की पद्धतियां भी उतना ही विस्तार पा लेती हैं। वैयक्तिक स्वार्थ को गौण कर दिया जाए तो शोषण की वृत्ति को पनपने का अवकाश ही नहीं मिल सकता।

व्यापार के क्षेत्र में जब तक वैयक्तिकता थी, शोषण का क्रम नहीं था। व्यक्तिगत व्यवहार में कुछेक व्यक्ति काम करते और श्रम के अनुपात से अर्थ का वितरण हो जाता। शोषण की बात उद्योग के साथ आयी। उद्योगों में हजारों मजदूर काम करते हैं। श्रम हजारों का होता है पर उसका लाभ एक व्यक्ति को मिलता है। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि बड़े उद्योग शोषण के मुख्य केन्द्र हैं। प्राचीन समय में सामंत, जमींदार आदि जनता से बेगार लेते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थे। वह शोषण का एक रूप था। उद्योग-धंधों का प्रचलन लगभग चार सौ वर्ष से है। इस दृष्टि से शोषण का इतिहास चार सौ वर्ष पुराना है।

शोषण-विहीन समाज-रचना में उद्योग-धन्धे

वर्तमान समाज-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था के अनुसार यह कहना उचित नहीं होगा कि उद्योगों को मिटा दिया जाए। उद्योग देश के लिए आवश्यक हैं पर उनके साथ शोषण का अनुबन्ध नहीं होना चाहिए। शोषण होगा तो शोषित-वर्ग में उसकी प्रतिक्रिया भी होगी। क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्यं-भावी है। प्राचीन समय में संगठित प्रतिक्रिया के साधन नहीं थे; क्योंकि श्रमिकों के संगठन नहीं थे। जब एक मिल में हजारों श्रमिक काम करने लगे, तब से श्रमिकों के संगठन (यूनियन) बन गये। श्रमिक संगठन अपने प्रति होने वाले अन्याय के प्रतिरोधक बने। यदि श्रमिकों के संघ नहीं होते तो सम्भव है उनके प्रति अधिक अन्याय होता। क्योंकि जिस स्थिति का प्रतिरोध नहीं होता है, वह हावी हो जाती है। मजदूरों के हितों को संरक्षण देने के लिए मजदूर नेताओं ने क्रांति की। शोषण के विरोध में आवाज उठी, किन्तु इस आवाज का अर्थ यह नहीं कि उद्योग-धन्धों को समाप्त कर देना चाहिए।

शोषण के विरुद्ध आवाज

धार्मिक क्षेत्र में महावीर और बुद्ध ने शोषण के विरोध में आवाज उठायी। नैतिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में आजीविका-विच्छेद को बहुत बड़ा अपराध माना गया। किसी के अधिकार का हनन औचित्य का अतिक्रमण है। जीविका के लिए प्राप्तव्य साधनों में कटौती करना व्यक्ति के श्रम का अवमूल्यन है। श्रम का अवमूल्यन होने से ही शोषण-मूलक मनोवृत्ति का विकास हुआ है। इस वृत्ति पर बार-बार प्रहार हुआ, फिर भी इसकी जड़ें नहीं उखड़ सकीं।

इन शताब्दियों में मजदूरों को भान हुआ। वे जागृत हुए। कुछ व्यक्तियों ने उनके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की। मजदूरों ने उनको अपना नेता बना लिया। मजदूर नेताओं ने सामूहिक आवाज उठाकर शोषण से मुक्ति पाने का प्रयत्न किया। मजदूरों की क्रांति का विकसित रूप ही साम्यवाद है। साम्यवाद का उद्घोष है—श्रम का मूल्य मजदूरों को मिले। स्वामित्व का दायित्व वहन करने के लिए सरकार भी मजदूरों की बने। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि जो विचारधारा शासन और पूंजी का अधिकार सर्वहारा वर्ग को देती है, वही साम्यवाद है। साम्यवादी लोगों का प्रमुख उद्देश्य है शोषित—श्रमिक वर्ग को त्राण देना।

शोषण-विहीन समाज का निर्माण

मनुष्य की प्रकृति यह है कि वह संग्रह से विमुख नहीं हो पाता। पूंजी से अलग होकर अथवा व्यक्तिगत पूंजी न रखने की व्यवस्था स्वीकार करने के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाद भी उसे एक बलवान् प्रेरणा मिलती है, जिससे वह संग्रह करता है। प्रकट रूप से संग्रह करने की स्थिति न हो तो छिपकर करता है। साम्यवादी देशों में भी संग्रह और भ्रष्टाचार का क्रम चलता है। इस क्रम को तोड़ने के लिए वहां कड़े नियंत्रण की व्यवस्था होती है। इसका परिणाम यह हुआ कि साम्यवादी देशों में जहां समाज शासन-मुक्त होना चाहिए था, अधिक नियंत्रित हो गया। इस अतिनियंत्रण का एकमात्र कारण यही है कि जब तक वृत्तियों का शोधन नहीं होता, जब तक संग्रह के संस्कार नहीं मिटते, तब तक केवल व्यवस्था से इतना बड़ा परिवर्तन असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

अणुव्रत मानवीय स्वभाव को बदलने के लिए प्रयत्नशील है। वह व्यक्ति की स्वतन्त्र-चेतना और संग्रह-मुक्त चेतना का निर्माण करना चाहता है। संग्रह-मुक्त चेतना ही स्वार्थ-मुक्त चेतना हो सकती है। अध्यात्म चेतना में पदार्थ के प्रति अनासक्ति के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। अनासक्त-चेतना में आवश्यकता मात्र बचती है, इसलिए संग्रह की मनोवृत्ति स्वयं समाप्त हो जाती है।

शोषण-विहीन और स्वतन्त्र समाज की रचना साम्यवाद और अणुव्रत दोनों का उद्देश्य है पर दोनों की प्रक्रिया भिन्न है। साम्यवाद व्यवस्था देता है और अणुव्रत वृत्तियों को परिमार्जित करता है। व्यवस्था की गति तीव्र हो सकती है किन्तु वह उत्तरोत्तर लक्ष्य से प्रतिकूल होती जाती है। अणुव्रत की गति मंद है पर वह उत्तरोत्तर लक्ष्य के अनुकूल है। त्वरित गति का उतना महत्त्व नहीं है, जितना लक्ष्य-प्रतिबद्ध गति का है। साम्यवादी देशों का व्यक्ति-वाद की ओर बढ़ता हुआ झुकाव देखकर यह सहज ही जाना जा सकता है कि व्यवस्था-परिवर्तन की अपेक्षा वृत्ति-परिवर्तन का क्रम प्रशस्य है।

स्वतन्त्र समाज की रचना

जिस समाज के हित दूसरे समाज के हितों द्वारा बाधित न हों, वह समाज स्वतन्त्र समाज है। व्यवसायी लोगों का एक समाज है। एक समाज राज्य-कर्मचारियों का है और एक समाज राजनेताओं का है। व्यवसायियों के हित कर्मचारियों द्वारा बाधित न हों और कर्मचारियों के हितों में राजनेताओं की ओर से कोई बाधा न हो। इस प्रकार जितने वर्ग या समाज हैं, उनके हितों में परस्पर संघर्ष न हो। जिस समाज में दूसरे के हितों को कुचलने की स्वतन्त्रता नहीं है, वह समाज स्वतन्त्र समाज है।

अणुव्रत मनुष्य को यही दृष्टिकोण देता है कि शक्ति का नियोजन किसी एक के हित में न हो। इसी दृष्टिकोण को व्यावहारिक रूप देते हुए किसी व्यक्ति ने आत्म-निवेदन किया है—'इससे बढ़कर भगवान् की मुझ पर क्या कृपा होगी कि दूसरों को सताने के लिए मेरे पास शक्ति नहीं है।' शक्ति प्राप्त होने पर भी उसका दुरुपयोग न करने की वृत्ति धार्मिक चेतना में ही विकसित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकती है। व्यवस्था यह दृष्टिकोण नहीं दे सकती। साम्यवादी व्यवस्था भी यह दृष्टिकोण नहीं दे सकती। साम्यवादी व्यवस्था ने सबके हितों को महत्त्व दिया पर उनमें सामंजस्य स्थापित करने की दृष्टि नहीं दी। यही कारण है कि वह व्यवस्था सफल नहीं हो सकी। साम्यवादी व्यवस्था के साथ अनासक्त चेतना का विकास होने से ही शोषणविहीन और स्वतन्त्र समाज का निर्माण हो सकता है।

शोषण-विहीन और स्वतन्त्र समाज का रूप

उस समाज में वैयक्तिक-हितों और स्वार्थों को ही प्रश्रय नहीं मिलेगा। एक-दूसरे के हितों में परस्पर संघर्ष नहीं होगा। समुचित व्यवस्था होगी। शक्ति का सम्यक् नियोजन होगा। अपने हित के लिए दूसरे के हितों को कुचलने की मनोवृत्ति नहीं होगी। उद्योग सार्वजनिक हो या व्यक्तिगत, उनसे वैयक्तिक स्वार्थों को पोषण नहीं मिलेगा। किसी भी व्यक्ति की शक्ति, बुद्धि, श्रम और अर्थ का शोषण नहीं होगा। कोई व्यक्ति किसी दूसरे का दास बनकर नहीं रहेगा। आत्मानुशासन के भाव विकसित होंगे। सहयोग और सहानुभूति की भावना प्रबल होगी। संग्रह के मनोभाव समाप्त हो जाएंगे। श्रम और अर्थ का विसर्जन महत्त्वपूर्ण माना जाएगा तथा मानवीय चेतना को स्वतन्त्र और अनासक्त होने का वातावरण मिलेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाजवादी व्यवस्था और हिंसा का अल्पीकरण

आधुनिक विचारधारा एक सूत्र का प्रस्तुतीकरण करती है—जीवन के लिए संघर्ष अनिवार्य है। दूसरा सूत्र है—विकास के लिए इच्छा का आधिक्य अपेक्षित है। अधिक इच्छाएं और अधिक अपेक्षाएं पदार्थों की अधिकता का मुख्य हेतु हैं। वर्तमान की भाषा में कहा जा सकता है—संघर्ष और इच्छा-विस्तार—इन दो सूत्रों के आधार पर जन-जीवन का ढांचा टिका हुआ है। पुरानी भाषा में इस तथ्य को इस प्रकार प्रतिपादित किया जा सकता है—हिंसा और परिग्रह जीवन के आधार हैं।

अणुव्रत की विचार-सारिणी इससे भिन्न है। अणुव्रत का दर्शन भगवान् महावीर के ढाई हजार वर्ष प्राचीन चिंतन पर आधारित है। भगवान् महावीर ने कहा—संघर्ष जीवन का आधार नहीं है। जीवन का आधार है—अहिंसा, प्रेम, करुणा और मैत्री। यद्यपि इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जीवन में हिंसा करनी पड़ती है, किन्तु इस स्वीकृति और उस स्वीकृति में अन्तर है। आधार और अनिवार्यता दो भिन्न पहलू हैं। अणुव्रत विचार-धारा के अनुसार हिंसा जीवन की अनिवार्यता हो सकती है, आधार नहीं। इसका फलित यह होता है कि शारीरिक स्तर पर हिंसा की अनिवार्यता प्राप्त है किन्तु मानसिक स्तर पर उसे समर्थन नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह जीवन का आधार नहीं है।

वार्यता और अनिवार्यता के आधार पर हिंसा के तीन प्रकारों का उल्लेख मिलता है—आरंभजा, विरोधजा, संकल्पजा। आरम्भजा हिंसा कृषि आदि से सम्बन्धित हिंसा है। इसके बिना जीवनयापन में कठिनाई उपस्थित होती है, इसलिए इस हिंसा से उपरत होना कठिन बात है। विरोधजा हिंसा अस्तित्व-सुरक्षा के लिए होती है। आक्रान्ता आक्रमण करता है, यह हिंसा है। इससे अपना बचाव करना प्रतिहिंसा या विरोधजा हिंसा है। इसकी अपरि-हार्यता इसलिए स्वीकार की जाती है कि कुछ मनचले व्यक्ति अपने असंतुलित मस्तिष्क से आक्रमण करते रहते हैं। उनके आक्रमण को विफल करने के लिए या अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए हिंसा का क्षेत्र खुल जाता है। संकल्पजा हिंसा आक्रामक मनोभावों की निष्पत्ति है। इस हिंसा का न कोई प्रयोजन होता है और न कोई विशेष उद्देश्य। अहं-चेतना और प्रमाद-चेतना इसमें प्रेरक शक्ति है। जो लोग हिंसा को जीवन का आधार मानते हैं, उनका प्रति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाद इस तथ्य से हो सकता है कि संकल्पजा हिंसा सर्वथा अवांछनीय है और सर्वथा परिहार्य है।

आरम्भजा और विरोधजा हिंसा भी यदि आवश्यकता या अनिवार्यता पर आधारित नहीं होती है तो संकल्पजा हिंसा का रूप ले लेती है। इन संदर्भों में महारम्भ को वर्जित बताया गया है। महारंभ से उपरत रहने का तात्पर्य है, हिंसा का अल्पीकरण। हिंसा की अनिवार्यता को स्वीकृति मिलने पर भी हिंसा के अल्पीकरण की दिशा में गति यह प्रमाणित करती है कि जीवन का आधार हिंसा नहीं, अहिंसा, प्रेम और मैत्री है।

अणुव्रत एक व्यावहारिक प्रयोग है। यह हिंसा के अल्पीकरण का सूत्र देता है। सामाजिक शांति, जीवन-विकास और अस्तित्व की स्थिरता के लिए यह सूत्र सर्वथा उपयुक्त है। हिंसा की उन्मुक्तता महाहिंसा की ओर प्रयाण है। ऐसे प्रयाण जहां भी हुए हैं, वहां सांस्कृतिक खतरे उपस्थित हुए हैं। प्राचीन संस्कृतियों के ह्रास और विलोप में असंतुलन का बहुत बड़ा हाथ है। असंतुलन को रोकने के लिए हिंसा की अल्पता के सिद्धान्त को मान्यता देनी होगी। यह सिद्धान्त केवल धार्मिक दृष्टि से ही मूल्यवान् नहीं है। यह सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य भी रखता है। इसलिए हिंसा की सघनता को तोड़ना अपेक्षित है।

हिंसक शक्तियां केन्द्रित न हों, इस चिंतन से ही संस्कृति का विकास प्रारम्भ होता है। जहां हिंसा केन्द्रित हो जाती है, अन्तिम शिखर तक पहुंच जाती है, अन्तिम बिन्दु का स्पर्श कर लेती है, वहीं से संस्कृति के पतन का दौर शुरू हो जाता है। केन्द्रित हिंसा के स्वरूप तथा उसके परिणाम के आधार पर ही अणुव्रत ने उसके विरोध में हिंसा के अल्पीकरण का स्वर उठाया है। वह जीवन की अनिवार्य अपेक्षाओं की पूर्ति के साथ अवांछनीय तत्त्वों को भी समाप्त करता है।

कुछ राजनीतिक पद्धतियां जीवन के स्तर पर नहीं, किन्तु विचारों के स्तर पर हिंसा की अनिवार्यता को स्वीकार करती हैं। कुछ धार्मिक मंच भी वैचारिक स्तर पर हिंसा को मान्यता देते हैं। इनके अनुसार अपना विचार और धर्म बलात् थोपा जा सकता है। यदि कोई उसे स्वीकार न करे तो उस व्यक्ति को निरस्त करना भी मान्य है।

अणुव्रत की दृष्टि से स्वस्थ समाज-रचना के लिए उक्त दोनों तथ्य अवांछनीय हैं। वैचारिक स्तर पर हिंसा की अनिवार्यता को स्वीकृति देने का अर्थ है मारकाट के सिलसिले को अनन्तता प्रदान करना। मेरे अभिमत से धार्मिक और वैचारिक स्वतन्त्रता स्वाभाविक है। स्वतंत्र विचारों की परिधि में भिन्नता भी स्वाभाविक है। भिन्न परिवेश में अपनी बात समझाई जा सकती है, पर थोपने की बात सम्यग् रूप से घटित नहीं हो सकती। इसमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो हिंसा की परम्परा चलती है, वह टूटती नहीं, अधिक गहरी हो जाती है। यह हिंसा जीवन के उपकरण कृषि आदि की भांति अनिवार्य भी नहीं है। एक दृष्टि से यह महा-हिंसा की ओर प्रस्थान है।

भगवान् महावीर ने कहा—महाहिंसा नरक का हेतु है। नरक और स्वर्ग की पारलौकिक परिभाषा से हटकर भी सोचें तो यह कहने में कोई कठिनाई नहीं है कि हिंसा की वृद्धि जीवन को नारकीय बना देती है। नारकीय यंत्रणाओं और संत्रास से बोझिल जीवन व्यक्ति को अधिक असंतुलित बना देता है। असंतुलन के परिणामस्वरूप सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्य विघटित हो जाते हैं और मानवीय चेतना पतन के गर्त में गिरकर दब जाती है।

हिंसा के अल्पीकरण का सिद्धान्त साधन-शुद्धि के सिद्धांत का विकास है। साध्य चाहे कितना ही प्रशस्त हो, पर साधन शुद्ध नहीं है तो वह प्रयत्न वांछनीय नहीं हो सकता। समाजवादी व्यवस्था का उद्देश्य है समाज के बहुसंख्यक लोगों को यथेष्ट सुख-सुविधा उपलब्ध कराना। कुछ धर्मों का उद्देश्य है—जैसे-तैसे अधिकांश व्यक्तियों को धर्म के मार्ग पर लाना। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समाज के कुछ व्यक्तियों को मिटा देने का सिद्धान्त प्रशस्य नहीं है।

एक-दूसरे की सत्ता या प्रभुत्व को समाप्त करने के लिए निरन्तर हत्याओं का जो सिलसिला चलता है, वह मानवीय चेतना में हिंसा के संस्कारों का निर्माण कर देता है। हिंसा के संस्कारों की निर्मिति और उसका शृंखलाबद्ध प्रवाह महाहिंसा को प्रत्यक्ष निमंत्रण है। (महाहिंसा की आग में झुलसी हुई चेतना किसी भी समाज के हित में हो, यह कभी संभव नहीं है।)

जो धार्मिक मंच बलात् धर्म-परिवर्तन के सिद्धांत में विश्वास करते हैं, धर्म की आत्मा को उपलब्ध नहीं कर सकते। उनमें धर्म की अपेक्षा संगठन या सम्प्रदाय मुख्य रहता है। साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से हिंसा को जो खुला प्रोत्साहन मिलता है, वह और अधिक घातक है।

इस स्थिति में निरपवाद मार्ग है साध्य और साधन, दोनों की शुद्धि का, अर्थात् हिंसा के अल्पीकरण का। जिस समाज में हिंसा की अल्पता की ओर गति होती रहेगी, उस समाज में दुर्भावना और दुश्चिंताएं स्वयं क्षीण होती जाएंगी, क्रूर व्यवहार और प्राणवध जैसी घटनाओं को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा। अपने अहं-पोषण के लिए दूसरे के अस्तित्व को खतरा उपस्थित करने का मनोभाव नहीं रहेगा, तथा नहीं रहेगा सहानवस्थान जैसा अस्पृहणीय विचार। अणुव्रत हिंसा को जीवन का आधार कभी नहीं मान सकता और न ऐसा मानने से सामाजिक जीवन को आलम्बन मिल सकता है। समता, मैत्री, प्रेम, सौहार्द एवं सामंजस्य—ये सब हिंसा के अल्पतम और अल्पतर होने से ही घटित हो सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाजवादी व्यवस्था और परिग्रह का अल्पीकरण

समाज-संरचना का मुख्य आधार है—अर्थ-व्यवस्था। जिस समाज की अर्थ-व्यवस्था जितनी समुन्नत और संतुलित होती है, वह समाज उतनी ही प्रगति करता है। अर्थशास्त्रियों के इस सिद्धांत में सचाई नहीं है, ऐसा मैं नहीं मानता। दरिद्रता समाज के लिए अभिशाप है। इस अभिशाप से मुक्त हुए बिना कोई भी समाज आगे नहीं बढ़ सकता। इस तथ्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी अपरिग्रह का अपना मूल्य है और वह स्वस्थ समाज-निर्माण का प्रमुख अंग है।

अपरिग्रह का मूल्य न तो गरीबी की स्थिति में है और न लड़खड़ाती अर्थ-व्यवस्था पर आधारित है। वस्तु-उत्पादन और भौतिक संपदा के साथ उसका कोई विरोधी भी नहीं है। पदार्थ और पदार्थ-प्रयोग इन दोनों के होते हुए भी मन में लगाव या आसक्ति न हो, यह अपरिग्रह की आधार-भित्ति है। इसका निर्माण करने के लिए अंतर्जगत् में बहुत लम्बी यात्रा करनी होती है। वह यात्रा अध्यात्म का अनुसंधान है और विवेक का संधान है। सामाजिक व्यक्ति के लिए अपरिग्रह के चरम शिखर तक पहुंचना कठिन है, इस दृष्टि से भगवान् महावीर ने समाज के लिए परिग्रह के अल्पीकरण का सिद्धान्त दिया।

संपदा मूलतः अस्वामिक होती है। उस पर सत्ता, शक्ति और व्यावसायिक बुद्धि के द्वारा स्वामित्व स्थापित किया जाता है। जिस व्यक्ति के हाथ में सत्ता है, वह अपनी अभीप्सा के अनुरूप संपत्ति का स्वामी बन जाता है। शक्ति-प्रयोग भी स्वामित्व-स्थापना की शृंखला में एक कड़ी है। तीसरा तत्त्व है व्यावसायिक बुद्धि। इसके द्वारा व्यक्ति अपने स्वामित्व का विस्तार करके संपदा पर एकाधिपत्य स्थापित कर लेता है। व्यवसाय ऐसी कला है, जो बिना लड़ाई-झगड़े दूसरे की जेब से पैसा निकलवा लेती है।

स्वामित्व की सीमा का निर्धारण न होने के कारण व्यक्ति की आकांक्षा बढ़ती जाती है। अधिक आकांक्षाएं तीव्र आसक्ति को जन्म देती हैं और आसक्ति परिग्रह को केन्द्रित बना देती है, जो महापरिग्रह के रूप में परिणत हो जाता है।

महापरिग्रह का अर्थ ही है केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था। यह न तो सामाजिक हित में है और न धार्मिक दृष्टि से भी हितावह है। केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था संघर्ष, उपद्रव और हिंसा का कारण है। हर युग का इतिहास इस तथ्य का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साक्षी है। अर्थ के केन्द्रीकरण से संभावित दुष्परिणामों को ध्यान में रखकर सामाजिक और राजनैतिक स्तर पर संग्रह के समीकरण का प्रयत्न होता रहा है।

धार्मिक स्तर पर भगवान् महावीर ने इस संदर्भ में विशद चिंतन दिया। भगवान् महावीर ने महापरिग्रह की व्याख्या दो प्रकार से दी—महान् आसक्ति और महान् संग्रह। केवल आसक्ति ही परिग्रह के रूप में परिभाषित हो तो पदार्थों का प्रचुर संग्रह क्यों होगा; अनासक्त व्यक्ति अनावश्यक संग्रह करेगा ही क्यों? केवल पदार्थ-संग्रह ही महापरिग्रह हो तो मानसिक स्तर पर घटने वाली घटना को अस्वीकृति मिल जाएगी। इसलिए महान् आसक्ति और महान् संग्रह दोनों ही वांछनीय नहीं हैं। ये दोनों मिलकर महापरिग्रह की श्रेणी में आते हैं।

संग्रह और आसक्ति न आत्म-हित की दृष्टि से वांछनीय हैं और न समाज-व्यवस्था की दृष्टि से। इस स्थिति में अपरिग्रह का सिद्धान्त सामने आता है। पर इस सचाई को भी नकारा नहीं जा सकता कि व्यक्ति गरीब होकर अच्छा सामाजिक जीवन नहीं जी नहीं सकता। इसलिए भगवान् महावीर द्वारा निर्देशित परिग्रह के अल्पीकरण का सिद्धन्त कार्यकर हो सकता है। अल्पपरिग्रह का अर्थ है—इच्छा-अल्प और संग्रह-अल्प। अल्पता के इस सूत्र को आगे रखकर ही अणुव्रत अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करता है।

अणुव्रत सबसे पहले दृष्टिकोण-निर्माण की दिशा देता है। अर्थ आवश्यकता-पूर्ति का साधन है, साध्य नहीं। यह सिद्धान्त देश और काल से अबाधित है। इस दृष्टिकोण के स्थिर होने के बाद परिग्रह की सीमा और विसर्जन—ये दो माध्यम ऐसे हैं, जो अर्थ को विकेन्द्रित रख सकते हैं। अणुव्रत ने परिग्रह के एक निश्चित सीमाकरण की अपेक्षा अर्जन के स्रोतों की शुद्धि पर अधिक बल दिया है। अर्जन के सारे स्रोत शुद्ध रहे और व्यक्तिगत स्तर पर पदार्थ-उपभोग के संयम का लक्ष्य रहे तो अतिरिक्त संग्रह की स्थिति स्वयं मोड़ ले सकती है। वास्तव में महापरिग्रह के मुख्य स्रोत दो हैं—अर्जन के साधनों की अशुद्धि और व्यक्तिगत असंयम। यदि ये दोनों स्रोत बन्द हो जाएं तो सहज ही अल्पपरिग्रह फलित हो जाता है। अणुव्रत इसी भूमिका पर जनता का मार्गदर्शन करता है।

परिग्रह के अल्पीकरण की बात शाश्वत सत्य के रूप में मान्य है। यह आत्महित के लिए जितनी अनुकूल है, समाज-व्यवस्था के लिए भी उतनी ही अनुकूल है। एक सिद्धान्त स्थापित किया जा सकता है कि जो समाज-व्यवस्था आत्महित से प्रतिकूल जाती है, वह सामाजिक हितों की दृष्टि से भी कम अनुकूल होगी।

यह सत्य प्रमाणित हो चुका है कि जिस प्रवृत्ति में चैतन्य का स्पर्श नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, वहां प्राणवत्ता नहीं आ सकती। चैतन्य-स्पर्श में अन्तस् के स्पर्श किये बिना वह शक्ति स्फुरित नहीं हो पाती, जिसका आलोक बाहर और भीतर दोनों को प्रकाशित कर सके। दहलीज पर रखा हुआ दीपक कक्ष के भीतरी भाग और बाहरी भाग दोनों को आलोकित कर देता है। इसी प्रकार अन्तश्चेतना से सम्बद्ध समाज-व्यवस्था ही दोनों दिशाओं में हित-साधन के लिए सक्षम हो सकती है।

परिग्रह की अल्पता का सूत्र अन्तश्चेतना के स्पर्श से अभिव्यक्ति पाता है। अतः वह समाज-चेतना के लिए भी हितकर है। जो व्यक्ति मानवीय मूल्यों में विश्वास रखता है, वह अधिक संग्रह नहीं रख सकता। मानवीय मूल्यों में करुणा और समत्व, इन दोनों दृष्टियों से अल्पपरिग्रह का मूल्य आंका जा सकता है। जो व्यक्ति क्रूर नहीं होगा अर्थात् जो करुणाशील होगा, वह संग्रह-चेतना के केन्द्र में विस्फोट करने में सक्षम है। जिस व्यक्ति का समत्व विकसित है वह संग्रह-चेतना की एक-एक परत खोलकर असंग्रह की ओर गति कर सकता है। उक्त तथ्यों को इस प्रकार भी अभिव्यक्त किया जा सकता है—जीवन वृक्ष के तीन अमूल्य फल हैं—मानवीय दृष्टिकोण, करुणा और समत्व। ये तीनों फल जिस व्यक्ति को उपलब्ध हैं, वह अल्पपरिग्रह का प्रयोग कर सकता है।

वर्तमान अर्थशास्त्र का सिद्धांत है व्यक्ति निकम्मा न रहे। वह कुछ-न कुछ करता रहे, ताकि उसकी क्षमताओं में जंग न लगे। जिस व्यक्ति की व्यावसायिक क्षमता विकसित है, वह उसका उपयोग न करे, यह समाज के हित में भी नहीं है। इस दृष्टि से अणुव्रत एक व्यावहारिक सिद्धान्त की प्रस्थापना कर आगे बढ़ रहा है। वह यह नहीं कहता कि व्यक्ति व्यवसाय न करे, अपनी क्षमता का उपयोग न करे। किन्तु वह यह चिंतन देता है कि अर्जित संपत्ति पर अपना स्वामित्व स्थापित न करे। जो प्राप्त है, उसे एक सीमा के बाद अपने अधिकार में न रखे, उसका विसर्जन करे। अशुद्ध पद्धतियों से अर्जन न हो और अतिरिक्त का विसर्जन हो, यह उभयतः पाश—दोनों ओर से नियमन है। इससे अर्जन में शुद्धता का प्रवेश होगा और जो अतिरिक्त संग्रह समाज की पीड़ा बना हुआ है, वह विसर्जन के माध्यम से बहकर लाघव की अनुभूति देता रहेगा।

अणुव्रत परिग्रह के अल्पीकरण के सिद्धान्त को दृढ़ विश्वास के साथ जन-जन तक पहुंचाना चाहता है। इससे आत्महित सधेगा और साथ-साथ समाजवादी व्यवस्था को भी बल मिलेगा। समाजवादी व्यवस्था को बल देना दूसरी बात है, पहली बात है आत्महित के परिप्रेक्ष्य में इसका आध्यात्मिक मूल्यांकन। जिस समाज-व्यवस्था में आत्म-शान्ति, वैयक्तिक स्वतंत्रता और सम्पन्नता को संयुक्त मूल्य देने की परिकल्पना है, वहां अल्पपरिग्रह के सिद्धांत को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकताओं पर नियंत्रण ही समाजवाद की नींव है

एशिया का प्रत्येक देश आज औद्योगीकरण की ओर तेजी से कदम बढ़ाने के लिए उत्सुक है। जोर-जबरदस्ती से जब यह कदम आगे बढ़ाया जाता है तो उसका क्या परिणाम होता है, यह रूस और दूसरे कम्युनिस्ट देश हमें चेतावनी दे रहे हैं। इसलिए एशिया वालों को समाजवाद तक पहुंचने का अपना ही कोई रास्ता और औद्योगीकरण का अपना ही कोई नमूना खोज लेना चाहिए। यह सोचना भी भ्रामक होगा कि यदि लोकतान्त्रिक व्यवस्था के संरक्षण में औद्योगीकरण की प्रक्रिया चलती है, तो फिर औद्योगीकरण की गति से कोई डर नहीं है। एक निश्चित हद के बाहर जाते ही औद्योगीकरण की गति स्वत: अनिवार्य रूप से तानाशाही की परिस्थिति पैदा कर देगी।

(पूंजीवाद का तो है ही, पर) समाजवादी और साम्यवादी इन दोनों का भी जोर भौतिक समृद्धि, उत्पादन की उत्तरोत्तर वृद्धि और जीवनस्तर को अधिकाधिक ऊंचा उठाने पर रहता है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की यथोचित पूर्ति होनी चाहिए। यह सत्य है कि भारत जैसे गरीब और पिछड़े हुए देश में सामाजिक पुनर्निर्माण का मुख्य काम ही जन-साधारण के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाना है।

किन्तु भौतिक समृद्धि को देवता-तुल्य बना देने और भौतिक पदार्थों की इच्छा रखने वाली भूख को शांत करनेकी इच्छा रखने वाली जीवन-दृष्टि को प्रोत्साहित करने से न तो यहां काम चलेगा और न कहीं अन्यत्र ही।

यदि लगातार वह भूख उनको सताती रही, तो न लोगों के दिल और दिमाग में शांति रहेगी और न एक-दूसरे के बीच आपस में ही शांति रहेगी। उससे व्यक्तियों, दलों और राष्ट्रों के बीच अवश्य ही एक अनियन्त्रित स्पर्धा खड़ी हो जाएगी। प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ौसी से आगे बढ़ने की कोशिश करेगा और प्रत्येक राष्ट्र केवल दूसरे राष्ट्रों को पकड़ पाने की ही नहीं, बल्कि उन सबको पीछे छोड़ जाने की कोशिश करेगा। इस प्रकार के असंतोषी समाज में हिंसा और युद्ध उसकी एक खासियत हो जाते हैं। तब जीवन के समस्त मूल्य "और चाहिए," "और चाहिए" की सर्वोपरि इच्छा के अधीन हो जायेंगे। धर्म, कला, दर्शन, विज्ञान, सबको "अधिक चाहिए," "और अधिक चाहिए" इस एक ही लक्ष्य की पूर्ति में लग जाना पड़ेगा। समता, स्वतंत्रता,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्धुत्व सबके-सबको भौतिकवाद की सार्वभौम बाढ़ में डूब जाने का खतरा पैदा हो जायेगा। मानव-जीवन में कोई अन्य सहारा, कोई सच्चा सन्तोष नहीं रहेगा, क्योंकि जितना ही अधिक किसी के पास होता है, उतनी ही अधिक उसकी भूख बढ़ती है।

शारीरिक आवश्यकताओं पर नियन्त्रण

नैतिक जीवन और मानवीय व्यक्तित्व के विकास तथा समस्त मानवीय गुणों और मूल्यों के फूलने-फलने के लिए शारीरिक भूख (आवश्यकताओं) पर नियन्त्रण रखना अनिवार्य है। समाजवादी मूल्यों के सम्बन्ध में तो यह बात खास तौर से सही है। सबके साझे प्रयत्न से जो उपयोगी चीजें उपलब्ध हों, उन्हें एक-दूसरे के साथ बांटकर खाने का तरीका ही समाजवादी जीवन मार्ग है। बांट लेने का यह काम जितनी स्वेच्छा और सहमति से होता है, उतना ही समाज में तनाव और दबाव कम होगा और उतना ही अधिक समाजवाद उसमें होगा। मैं समझता हूं कि जब तक समाज के सदस्य अपनी आवश्यकताओं पर नियंत्रण रखना नहीं सीखते, स्वेच्छा से चीजों को बांट लेना यदि असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य होगा। तब समाज निश्चय ही टुकड़ों में बंट जाएगा। एक उन लोगों का, जो दूसरों को अनुशासित करने का प्रयत्न करते होंगे और दूसरा, बाकी बचे हुए सब लोगों का।

समाज की इस प्रकार की व्यवस्था में एक प्रश्न हमेशा सामने रहता है—

"अनुशासित करने वालों पर अनुशासन कौन रखेगा, राज्य करने वालों पर राज्य कौन करेगा?"

साम्यवादी देशों के उदाहरण और समाजवादी सरकारों के अनुभव से यह प्रकट है कि इस शाश्वत प्रश्न का उत्तर देना बहुत कठिन ही है। इसका एक ही हल मालूम होता है और वह यह कि ऊपर से अनुशासन करने की आवश्यकता और उसके क्षेत्र को जितना अधिक-से-अधिक संभव हो, संकुचित और सीमाबद्ध किया जाय तथा आत्मानुशासन के क्षेत्र का उत्तरोत्तर विस्तार किया जाय। यह हो सकेगा इस बात का इतमिनान दिलाने पर कि समाज का प्रत्येक सदस्य आत्मानुशासन से काम करता है और समाजवादी मूल्यों के अनुरूप आचरण करता है और दूसरी चीजों के साथ-साथ अपने साथियों के बीच स्वेच्छापूर्वक बांट-बांटता और सहयोग करता है।

सत्ता का विकेन्द्रीकरण नीचे से

अवश्य ही जनतान्त्रिक समाजवादियों में सत्ता के विकेन्द्रीकरण, 'चौखम्बा-राज्य' तथा इसी प्रकार की अन्य धारणाओं के संबंध में अस्पष्ट चर्चाएं होती थीं। किन्तु देखा कि अमल में उनका एकमात्र ध्येय सत्ता पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कब्जा करने का था। लगता है, उनका विश्वास था कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण भी पहले सत्ता के वर्तमान केन्द्रों को जीतकर अपने कब्जे में कर लेने के उपरान्त ही संभव होगा, क्योंकि उस समय विकेन्द्रीकरण और संस्था-विघटन कानून बनाकर किया जा सकता है। लेकिन वे इस प्रक्रिया की निरर्थकता को समझ नहीं पाये। ऊपर से लोगों के हाथ में सत्ता बांटकर विकेन्द्रीकरण नहीं किया जा सकता, खास तौर से जब लोग राजनीतिक दृष्टि से बिल्कुल कुचल दिये गये हों और दल-प्रथा तथा सत्ता के केन्द्रीकरण के कारण स्व-शासन की जिनकी शक्ति, यदि नष्ट नहीं, तो सर्वथा छिन्न-भिन्न कर दी गयी हो।

आज विधानसभा में बने हुए कानूनों के अनुसार ग्राम-पंचायतों का संगठन हो रहा है। ये सच्ची पंचायतें नहीं हैं। गांधीजी जिसे "ग्रामराज्य" कहते थे, वह ये नहीं हैं।

गांधीजी के सारगर्भित शब्दों में "पंचायत अपने ही बनाये हुए कानूनों के अनुसार काम कर सकती है।" समाज के जीवन को आत्म-नियन्त्रित रखने की यह शक्ति पैदा की जानी चाहिए, विकेन्द्रीकरण के नाम पर ऊपर से बख्शी नहीं जानी चाहिए। इसकी प्रक्रिया नीचे से शुरू होनी चाहिये। स्व-राज्य और आत्म-व्यवस्था के कार्यक्रम जनता के सामने रखे जायें और विधायक तथा निर्दलीय दृष्टि से उनकी सहायता की जाये, ताकि वे उन्हें व्यवहार में ला सकें। अब यह स्पष्ट हो गया है कि गांधीजी राष्ट्रीय पैमाने पर इस कार्य-क्रम को चलाने की दृष्टि से ही कांग्रेस के एक निर्दलीय लोक-सेवक संघ में परिवर्तित करने की बात सोच रहे थे।

मैं राज्य की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को गहरी आशंका और भय की दृष्टि से देखता रहा हूं। साम्यवादी, गणतान्त्रिक समाजवादी तथा कल्याणवादी—फासिस्टों की तो कहें ही क्या—सब-के-सब राज्यवादी हैं। वे सब पहले हाथ में सत्ता लेकर, उसके बाद राज्य के अधिकारों और कार्यक्षेत्रों में वृद्धि करके अपने ढंग का सतयुग निर्माण करना चाहते हैं।

बूर्जुआ (भद्र लोगों के) राज्य का राजनीतिक सत्ता पर एकाधिकार था। समाजवादी राज्य में उसके साथ आर्थिक एकाधिकार के जुड़ने का भय रहता है। सत्ता के इतने बड़े केन्द्रीकरण को नियन्त्रित और संयमित रखने के लिए उससे अधिक नहीं, तो उतनी शक्ति तो चाहिए ही। समाजवादी समाज में इस प्रकार की कोई शक्ति और प्रभुता के आश्वासन की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। आर्थिक और राजनीतिक अफसरशाही इतनी शक्तिशाली हो जायेगी और इतने महत्त्वपूर्ण सत्ता स्थान उसके हाथ में होंगे कि जनता की स्वतंत्रता और स्वाधिकार के साथ ही जनता की रोजी-रोटी भी सर्वथा उस अफसर-शाही की दया पर निर्भर करेगी।

इस खतरे से बचने का मुझे केवल एक ही उपाय मिला कि जहां तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यावहारिक हो सके, जनता के लिए राज्य के बिना काम चलाना और अपनी व्यवस्था प्रत्यक्ष रूप में अपने-आप कर लेना संभव बनाया जाय। समाजवाद की भाषा में बोलना हो तो मैं इस प्रकार कहूंगा कि राज्यसत्ता का इस्तेमाल करके समाजवाद कायम करने के बजाय जनता के स्वैच्छिक प्रयत्नों द्वारा समाजवादी जीवन के स्वरूपों की सृष्टि और विकास किया जाय। दूसरे शब्दों में उपाय यह है कि राज्यवादी समाजवाद के स्थान पर जनता का समाजवाद कायम किया जाय। सर्वोदय जनता का समाजवाद है। प्रत्येक समाजवादी सर्वोदय से सहमत हो या नहीं, इतना तो उसे मानना चाहिये कि "जितना ही जनता का अथवा स्वैच्छिक समाजवाद अधिक होगा और राज्य की ओर से लादा हुआ समाजवाद कम होगा, समाजवाद उतना ही अधिक पूर्ण और यथार्थ बनेगा।"

भावी समाज

प्रश्न यह है कि उस समाज का रूप क्या होगा जिसमें जनता के लिए अपने सामाजिक जीवन का स्वयं-संचालन करना और जीवन के उन समस्त मूल्यों का विकास करना संभव होगा, जो सहकार, आत्मानुशासन, उत्तरदायित्व की भावना आदि के रूप में समाजवादी समाज की विशेषताएं हैं। यह ऐसा प्रश्न है, जिसकी ओर समाजवादियों ने अब तक कम-से-कम ध्यान दिया है। मानव समाज कुछ इस तरह विकसित हुआ है कि उससे आज की पेचीदा औद्योगिक सभ्यताएं ही निकलतीं, इन 'सभ्यताओं' में शहर कहलाने वाले मनुष्यों के बड़े-बड़े जंगल हैं, आर्थिक और सामाजिक संबन्ध सर्वथा अवैयक्तिक और निष्प्राण हैं, कार्य-प्रणाली कष्टसाध्य है और मनुष्य आनन्द एवं सृजन-शक्ति की अभिव्यक्ति के अवसरों से वंचित है। उसे केवल उत्पादन-शक्ति और कार्यक्षमता के आधार पर ही मान्यता मिलती है। विज्ञान ने अखिल विश्व को सिकोड़कर एक पड़ौस बना दिया है, किन्तु मनुष्य ने एक ऐसी सभ्यता का निर्माण कर लिया है जिसमें कि पड़ौसी भी अपरिचित बन गये हैं। इस प्रकार का केन्द्रित, पेचीदा और ऊपर से बोझिल (Top-heavy) समाज अफसरशाहों, व्यवस्थापकों, यंत्रज्ञों और अंक-शास्त्रियों के लिए स्वर्ग बन जाता है। इस प्रकार का समाज एकरस नहीं बन सकता, जहां भाई भी भाई-भाई की तरह एक साथ न रह सकें।

समाजवादियों ने विज्ञान, उत्पादन, कार्यक्षमता, जीवन स्तर तथा ऊंचे-ऊंचे आदर्श वाले नारों के नाम पर समाज के इस भस्मासुर को बिलकुल ज्यों-का-त्यों ले लिया है और अब वे आशा करते हैं कि इसमें सार्वजनिक स्वामित्व या जनता की मालिकी जोड़कर वे उसे समाजवादी बनायेंगे। मैं नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूं कि इस प्रकार के समाज में समाजवादी सांस भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं ले सकता। यदि मनुष्य छोटे-छोटे समुदायों में रहे तो स्व-शासन स्व-व्यवस्था, पारस्परिक सहकार और समानता, स्वतन्त्रता, बन्धुत्व, इन सबका प्रयोग और विकास बेहतरी के लिए हो सकता है। पश्चिम में भी दूर-दृष्टि वाले विचारकों को अब ऐसा लगने लगा है।

इसके अतिरिक्त मनुष्य प्रकृति और संस्कृति दोनों की उपज है। इसलिए उसके सन्तुलित विकास के लिए यह आवश्यक है कि दोनों के बीच मधुर समरसता पैदा की जाय। लेकिन पार्कों और हरे-भरे मार्गों के होते हुए भी लन्दन, पेरिस, न्यूयार्क, मास्को जैसे आधुनिक सभ्यता के केन्द्रों में इस प्रकार की समरसता कायम करना संभव नहीं है। इसी का परिणाम है कि आधुनिक मनुष्य का विकास विकृत और एकांगी हो गया है। प्रकृति और संस्कृति का सरस सम्मिश्रण अपेक्षाकृत छोटे-छोटे समुदायों में ही संभव हो सकता है। आल्डस हक्सले की 'साइंस—लिबर्टी एण्ड पीस" में आता है : "अब यह काफी स्पष्ट हो गया है कि मनुष्य की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएं, उसकी आध्यात्मिक आवश्यकताओं की कौन कहे, तब तक पूरी नहीं हो सकती, जब तक (१) उसको काफी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और एक स्वशासित दल के रूप में एक-दूसरे के प्रति और पूरे दल के प्रति, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व न हो; (२) उसके कार्य में एक खास सौन्दर्य की भावना और मानवीय गौरव न हो और जब तक (३) अपने प्राकृतिक वातावरण के साथ उसका सजीव और गहरा अन्योन्याश्रय संबंध न हो।"

इन्हीं कारणों से गांधीजी इतना जोर देकर कहते थे कि भारतीय ग्राम और ग्राम-स्वराज्य (ग्रामराज) ही उनके भावी समाज की बुनियाद हैं। गांधीजी का अभिप्राय भाई-भाई की तरह शान्तिपूर्वक रहने वाले स्वतन्त्र और समान व्यक्तियों के समाज से था।

विज्ञान और लघु—उत्पादन

छोटी छोटी बस्तियो में रहने और अधिकांश अपने लिए या स्थानिक उपयोग के लिए छोटे-छोटे यंत्रों पर उत्पादन करने को लोग विज्ञान की सुई को पीछे घसीटना कह सकते हैं। लोग समझते हैं कि विज्ञान बड़े पैमाने पर केन्द्रित उत्पादन और मनुष्यों की घनी-घनी बस्तियां अनिवार्य रूप से सहचारी है। इससे अधिक बेमानी बात और क्या हो सकती है ? विज्ञान दो तरह का है। शुद्ध विज्ञान और व्यवहार्य विज्ञान। मैं केवल शुद्ध विज्ञान को ही विज्ञान कहूंगा, दूसरा तो यंत्र-कला है। विज्ञान का उपयोग स्वतः विज्ञान पर निर्भर नहीं करता बल्कि समाज के चरित्र पर निर्भर करता है। बड़ी मशीनों के द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन करना रुपया कमाने वालों के लिए लाभदायक था, इसलिए यंत्र-कला ने उस विशिष्ट प्रकार के उत्पादन का मार्ग अपनाया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज में पैसा कमाने वाले पूंजीपतियों का प्रभाव था, इसलिए उनके मन की बात होने ही वाली थी। सरकारें भी उनका ध्येय कुछ भी हो, केन्द्रित और बड़े पैमाने पर उत्पादन को ही पसन्द करती हैं। क्योंकि युद्ध करने के लिए (आप चाहें तो "संरक्षण के लिए" कह सकते हैं) उसकी आवश्यकता थी। इसलिए भी उसका महत्त्व था कि उसके द्वारा सारी आर्थिक और इसलिए राजनीतिक भी सत्ता उनके हाथों में केन्द्रित होती थी। इस प्रकार सरकारों और मुनाफाखोरों ने मिलकर आधुनिक समाज के भस्मासुर को पैदा किया है। बेचारे विज्ञान का इस मामले में कोई हाथ नहीं था। इतना ही नहीं, वैज्ञानिकों का बस चलता तो वे उत्पादन और विनाश के इन बहुत से साधनों को, जिनके निर्माण में उनके आविष्कारों से सहायता मिली है चकनाचूर करके प्रसन्न होते। समाज ने यदि सत्ता, मुनाफा और युद्ध के लक्ष्यों को न अपनाकर शान्ति, सद्भावना, सहकार, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व के लक्ष्यों को अपनाया होता, तो निश्चित ही यंत्र-कला का तदनुरूप विकास करने में विज्ञान का उतना ही सहयोग हुआ होता। वह विज्ञान की अवनति नहीं कही जाती बल्कि विनाश के बदले निर्माण की दिशा में उसकी प्रगति ही कही जाती। इस प्रसंग में मैं फिर "हक्सले" के विचार पेश करता हूं :—

"मेरा व्यक्तिगत विचार है, जो दरअसल विकेन्द्रीकरण के समस्त समर्थकों का विचार है कि जब तक शुद्ध विज्ञान के निष्कर्षों का उपयोग बड़े पैमाने पर उत्पादन और वितरण करनेवाली उद्योग-व्यवस्था को महंगी, अधिक विस्तृत और अधिकाधिक विशिष्ट बनाने में होता रहेगा, सत्ता का निरन्तर थोड़े-से-थोड़े हाथों में अधिकाधिक केन्द्रीकरण होने के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। आर्थिक तथा राजनीतिक सत्ता के इस केन्द्रीकरण के परिणाम स्वरूप जनता निरन्तर अपनी नागरिक स्वतन्त्रता, अपनी व्यक्तिगत स्वाश्रयता और स्वशासन के अपने अवसर खोती रहेगी। किन्तु हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि निर्लिप्त वैज्ञानिक अनुसंधानों की उपलब्धियां अपने आप में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो केन्द्रित आर्थिक व्यवस्था, उद्योग और सत्ता के लाभ के लिए अपने उपयोग को अनिवार्य बनाती हो। यदि आविष्कारक और यंत्रज्ञ लोग चाहें तो शुद्ध विज्ञान के निष्कर्षों को स्वतन्त्र रूप से या सहकारी मंडलों के काम करने वाले छोटे-छोटे कारोबार के मालिकों के आर्थिक स्वावलम्बन में और इसलिये राजनीतिक स्वातंत्र्य को बढ़ाने के कामों में, उतनी ही उपयोगिता के साथ इस्तेमाल कर सकते हैं।"

सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी द्वारा प्रकाशित—'समाजवाद से सर्वोदय की ओर' से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समूह-चेतना का विकास

व्यक्ति-चेतना समूह-चेतना से प्रभावित होती है, यह बात सही है। सामूहिक स्तर पर किए जाने वाले कार्यों में सुविधा भी बहुत रहती है। समूह चेतना में जागरण होने के बाद व्यक्ति के लिए प्रयास करने की अपेक्षा भी नहीं है किन्तु इस प्रक्रिया में भी कुछ कठिनाइयां हैं। पहली बात यह है कि सामूहिक परिवर्तन में दण्ड-शक्ति और व्यवस्था का योग आवश्यक है। जिनके हाथ में सत्ता और व्यवस्था नहीं है, वे समूह-चेतना का निर्माण कर सकें, यह बहुत कठिन बात है। अणुव्रत व्यक्ति-चेतना के माध्यम से समूह-चेतना का जागरण करने के लिए प्रयत्नशील है।

दूसरी बात यह है कि दण्ड और व्यवस्था के आधार पर जो काम होता है। उसमें आरोपण हो सकता है, स्वीकार नहीं। स्वीकृति का सम्बन्ध हृदय-परिवर्तन से है। हृदय-परिवर्तन का अर्थ किसी दूसरे हृदय का प्रत्यारोपण नहीं, किन्तु विचार-परिवर्तन है। बाध्यता या आरोपण व्यक्ति को बदल सकते हैं पर उसके विचारों को नहीं बदल सकते। एक लक्ष्य को लेकर चलने वाले सौ व्यक्ति भी हर तथ्य पर सहमत नहीं हो पाते, फिर लाखों-करोड़ों के स्तर पर परिवर्तन का जो प्रश्न है, वहां सबकी स्वीकृति सहज कैसे हो सकती है? एक-रूपता बाध्यता की स्थिति में संभव है। विचार-भिन्नता, इसे निष्पन्न नहीं कर सकती।

यद्यपि हर व्यक्ति नैतिकता को अच्छा मानता है, नैतिक बनने का लक्ष्य लेकर चलता है और यह बात भी उसकी समझ में आती है कि मुझे नैतिक बनना चाहिए; फिर भी सब लोग नैतिक बन जाएं, यह बहुत कठिन बात है। जब तक सब व्यक्ति नैतिक नहीं बनते, तब तक कुछ व्यक्तियों के नैतिक बने रहने में कठिनाई भी है। क्योंकि इससे उनके हित विघटित होते हैं। वैयक्तिक हितों का विघटन होने की स्थिति में भी जो व्यक्ति अध्यात्म और नीति को आधार मानकर चलते हैं, वे समूह-चेतना के विकास का माध्यम बन सकते हैं।

अध्यात्म-चेतना और व्यवस्था

अध्यात्म-चेतना और व्यवस्था में समझौता कभी नहीं होना चाहिए। जहां समझौते की स्थिति पैदा होती है, वहां अध्यात्म-चेतना लड़खड़ा जाती है। व्यवस्था अनैतिकता को मिटाने में सहयोगी बन सकती है पर अध्यात्म-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चेतना के स्तर पर कोई काम नहीं कर सकती। जहां व्यवस्था का सहायक सामग्री के रूप में उपयोग होता है, वहां अध्यात्म-चेतना निखर सकती है। किन्तु समझौते में कई कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि व्यवस्था अध्यात्म-चेतना पर हावी हो जाती है और परिवर्तन का मूल उद्देश्य पीछे छूट जाता है।

उपलब्धि दो प्रकार की होती है—दृष्ट और अदृष्ट। विज्ञान की जितनी उपलब्धियां हैं, वे दृष्ट हैं और उनसे प्रत्यक्ष रूप से भौतिक लाभ प्राप्त हो रहा है। अध्यात्म भौतिक लाभ पर नियन्त्रण करता है तथा उससे प्रातव्य आत्मोपलब्धि प्रत्यक्ष नहीं है। जो प्रत्यक्ष लाभ चाहते हैं वे परोक्ष में होने वाली उपलब्धि से आकृष्ट नहीं हो सकते। इसलिए आध्यात्मिक मूल्यों का अवमूल्यन हो रहा है और मनुष्य विज्ञान के प्रति अधिक आस्थावान् बनता जा रहा है। वैज्ञानिक उपलब्धियों ने मनुष्य को जितनी सुविधाएं दी हैं, उस रूप में अध्यात्म की कोई उपलब्धि नहीं है। अध्यात्म से बहुत बड़ी उपलब्धि हो सकती है, इस अभ्युपगम मात्र से अध्यात्म के प्रति जनता का आकर्षक बढ़ने वाला नहीं है। अणुव्रत आध्यात्मिक उपलब्धियों के प्रति आकर्षण पैदा करने का एक उपक्रम है किन्तु यह उन उपलब्धियों को प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत करके ही आगे बढ़ सकता है।

समूह चेतना और समाज विकास

अध्यात्म के स्तर पर समाज में अब तक कोई व्यापक परिवर्तन नहीं हुआ है। कारण, अध्यात्म के प्रति व्यापक आकर्षण नहीं है और आकर्षण पैदा करने वाली व्यापक उपलब्धियां भी नहीं हैं। जो व्यक्ति आध्यात्मिक हैं उनका मानस भौतिक की ओर आकृष्ट हो रहा है, तब भौतिकवादी लोग अध्यात्म की शरण में कैसे आ सकेंगे ?

आध्यात्मिक क्रान्ति न होने का एक कारण यह हो सकता है कि अध्यात्मवादियों की मान्यता और यथार्थ भिन्न-भिन्न कोणों पर आधारित हैं। वे मान्यता अध्यात्म को देते हैं पर उसकी यथार्थता स्पष्ट करने वाले साधन उन्हें प्राप्त नहीं हैं। अध्यात्म जब मान्यता के परिवेश में बंध जाता है, तब यथार्थ का मूल्य भौतिकता को प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में आध्यात्मिक स्तर पर व्यापक परिवर्तन होने की संभावना भी नहीं की जा सकती।

अध्यात्म सूक्ष्म जगत् का विषय है और भौतिक स्थूल जगत् का। स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म सदा उलझन में रहता है। यह उलझन तब तक समाप्त नहीं होगी, जब तक अध्यात्म के सूक्ष्म रहस्यों को स्थूल परिधान में संसार के सामने प्रस्तुत नहीं किया जाएगा। फिर भी एक बात अवश्य है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि नैतिकता को कोई सशक्त व्यावहारिक आधार मिल सका तो व्यक्ति-चेतना के जागरण का स्थान समूह-चेतना को मिल सकता है।

मूर्त के प्रति आकर्षण पैदा होने से नैतिकता को भी आधार मिल सकता है और उससे सामूहिक परिवर्तन भी संभव है। पर इसके लिए केवल निषेधात्मकता पर्याप्त नहीं है। क्योंकि केवल नकारात्मक दृष्टिकोण सामूहिक हितों का विघटक-सा प्रतीत होता है। विघटक तत्त्व किसी का आधार नहीं बन सकता। नैतिकता की भावना एक मूर्त आधार है। कुछ देशों में राष्ट्र-प्रेम को उत्कट रूप देकर उसके आधार पर अनैतिकता को समाप्त करने का प्रयास हुआ है। राष्ट्रीयता की सीमा से ऊपर का एक तत्त्व है, मानवता के प्रति प्रेम। आत्मौपम्य की वृत्ति से प्रेम-भावना का विस्तार होता है। मनुष्य के मन में मानवीय करुणा का जागरण हो जाए तो अनैतिकता का निर्मूलन हो सकता है। इसके लिए कुछ व्यक्तियों ने प्रयास किया है, पर वह सीमित दायरे में हुआ है। व्यापक स्तर पर कोई प्रयास हो तो इस दिशा में बहुत अच्छा काम हो सकता है।

मनुष्य के मन में अपने आत्मीय जनों के प्रति सहज प्रेम होता है। जिनके प्रति उसका आन्तरिक स्नेह होता है, उनके प्रति वह अनैतिक नहीं बन सकता। एक व्यापारी खाद्य-पदार्थों में मिलावट कर बेचता है। ऐसा करते समय उसके मन में झिझक भी नहीं होती। किन्तु वही व्यक्ति अपनी पत्नी और बच्चों के प्रति क्रूर नहीं हो सकता; क्योंकि वहां प्रेम का विस्तार है। सीमाहीन प्रेम का विस्तार अध्यात्म की सबसे बड़ी उपलब्धि है। इस उपलब्धि के प्रति जनमानस में आकर्षण पैदा हो सका तो समूह-चेतना के जागरण में कठिनाई नहीं होगी।

आध्यात्मिक उपलब्धि के प्रति आकर्षण कैसे हो ?

अणुव्रत का कार्यक्षेत्र प्रारम्भिक रूप से व्यक्ति-चेतना तक सीमित है। शासकीय स्तर पर कोई काम होता है, उसमें व्यक्ति-चेतना की जरूरत नहीं है। सरकार यदि चाहे कि उसे बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना है तो वह तत्काल कानून बना सकती है। राष्ट्रीयकरण के अनुरूप वातावरण बनाने की उसे इतनी अपेक्षा नहीं होती। अणुव्रत शक्ति-प्रयोग में विश्वास नहीं करता, इसलिए वह वातावरण को महत्त्व देता है। वातावरण बनाने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति-व्यक्ति में अध्यात्म के संस्कार दिया जाएं।

कालसौकरिक कसाई मगध का विश्रुत व्यक्ति था। वह प्रतिदिन सैकड़ों भैंसों की हत्या किया करता था। उसका पुत्र था सुलस। वह अभयकुमार के सम्पर्क में आकर पूर्ण अहिंसावादी बन गया। कालसौकरिक का उत्तराधिकारी उसका पुत्र सुलस था। उत्तराधिकारी पाने के लिए उसके सामने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिता की परम्परा का अनुगमन करने का प्रश्न आया। सुलस इनकार हो गया। पारिवारिक लोगों ने समझाया—जीवन में फिर कभी हिंसा मत करना किन्तु आज तो एक भैंसे पर तलवार चलानी होगी। सुलस ने तलवार हाथ में ली और अपने पांव पर उसका प्रहार झेला। दर्शक स्तब्ध रह गए।

सुलस मानवीय करुणा की प्रतिमूर्ति था। अहिंसा में उसकी श्रद्धा थी, इसलिए वह प्राणिमात्र को आत्मीयता की दृष्टि से देखता था। आत्म-तुला की भावना का विकास होने से ही मनुष्य की अध्यात्म-चेतना जागृत हो सकती है। इसके लिए अणुव्रत को मानवीय प्राणी के प्रति प्रेम और आकर्षण पैदा करना होगा। इस पृष्ठभूमि का निर्माण होने से ही अणुव्रत का काम आगे बढ़ सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ-व्यवस्था के सूत्र

यदि हम यथार्थ में सोचते हैं तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आज के मनुष्य का दृष्टिकोण एकमात्र आर्थिक बन गया है। वह प्रत्येक बात आर्थिक लाभ-अलाभ की दृष्टि से सोचता है। इसके सिवाय चिन्तन का कोई कोण ही नहीं रहा, ऐसा लगता है।

एक व्यापारी मर गया। उसे धर्मराज के सामने उपस्थित किया गया। धर्मराज ने पूछा—कहां जाना चाहते हो, नरक में या स्वर्ग में ? वह बोला—"भगवान् ! जहां दो पैसे की कमाई हो, वहीं भेज दें। मेरे लिए स्वर्ग-नरक का कोई फर्क नहीं है।"

आज प्रत्येक व्यक्ति व्यापारी है। उसका दिमाग व्यावसायिक है, फिर चाहे वह राजनीतिक क्षेत्र में हो, सामाजिक क्षेत्र में हो या धार्मिक क्षेत्र में हो। किसको व्यापारी कहें और किसको न कहें ? लगता है संसार का प्रत्येक वर्ग व्यापारी है, आर्थिक दृष्टिकोण से सोचने वाला है।

शक्य है लेकिन करणीय है क्या ?

आज की व्यवस्था के दो महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं। एक सूत्र है—जो शक्य है वह काम कर लेना चाहिए। अणुबम बनाना शक्य है तो वह भी बना लेना चाहिये। इस प्रकार शक्यता के साथ करणीयता को जोड़कर आदमी ने इतनी लम्बी छलांग भर ली है कि वह अणु-शस्त्रों तक पहुंच गया। यदि यह मर्यादा होती कि शक्य तो है, पर वह करणीय भी है क्या ? शक्यता का परिणाम क्या होगा ? तो एक नियन्त्रण आता। पर वर्तमान अर्थशास्त्र का सिद्धांत यह बन गया है कि जो शक्य है वह करणीय भी है। इससे सीमा का अतिक्रमण हो गया। शक्यता के साथ संयम की सीमा होनी चाहिए। शक्य कार्य करणीय होता है, पर उसके साथ यह अंकुश हो कि वह शक्य कार्य किया जाय जिससे दूसरे का कोई अनिष्ट न हो। यह बड़ा अंकुश है। शक्य तो बहुत कुछ हो सकता है। पास में कंकड़ पड़े हैं। घड़े भी पड़े हैं। कंकड़ फेंका और घड़े को फोड़ डाला। यह शक्य है, पर करणीय नहीं है। सारे शक्य कार्य करणीय नहीं होते। शक्य होना एक बात है और करणीय होना दूसरी बात है। शक्य होने पर भी वही काम करणीय है जिसका परिणाम अच्छा होता है, जिससे दूसरे का अनिष्ट न हो। जहां शक्य और करणीय का विवेक नहीं होता, वहां अनर्थ घटित होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी विवेक के अभाव में मनुष्य ने एक ऐसी संस्कृति को जन्म दे दिया है जो उसे ही निगलने को तैयार हो रही है। ऐसी संस्कृति को जन्म देना तो शक्य था पर करणीय नहीं था, क्योंकि निगले जाने का परिणाम अब हमें ही भुगतान पड़ रहा है।

बुद्धिहीन वैज्ञानिक और बुद्धिमान् अवैज्ञानिक

चार मित्र थे। तीन बुद्धिहीन वैज्ञानिक थे और एक बुद्धिमान् अवैज्ञानिक। चारों घूमने निकले। एक घने जंगल में गए और एक सघन वृक्ष के नीचे बैठ गए। इतने में एक की दृष्टि वहां पड़ी जहां शेर की अस्थियों का पूरा ढांचा पड़ा था। शेर को मरे कुछ समय बीत गया था, केवल उसका कंकाल रह गया था। उसने कहा—'देखो, आज हमारी विद्या की परीक्षा का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ है। हम शेर को जीवित कर सकते हैं।' एक वैज्ञानिक मित्र बोला, मैं इसमें मांस का संचार कर सकता हूं। दूसरा बोला, मैं इसमें रक्त को प्रवाहित कर सकता हूं और तीसरा बोला, मैं इसमें प्राण भर सकता हूं,। तीनों ने सोचा परीक्षण होगा, कुतूहल होगा, चमत्कार होगा। चौथा बोला—'यह मत करो। ऐसा करना खतरे से खाली नहीं है। शेर जीवित होगा और हमें ही अपना शिकार बनायेगा। यह आत्मघाती प्रयत्न है, ऐसा मत करो'। तीनों एक साथ बोले—'तुम मूर्ख हो, अवैज्ञानिक हो। तुम नहीं जानते कि सृजन करना कितना महान् कार्य है! सदा निषेध ही निषेध करते रहते हो। हम मरे हुए शेर को जिन्दा कर रहे हैं, यह कम काम नहीं है।' वह बोला—'मैं जानता हूं कि निर्माण करना बहुत बड़ा काम है। पर मैं यह भी जानता हूं कि वह निर्माण खतरनाक होता है जो विध्वंस को जन्म देता है। इस निर्माण की परिणति होगी विध्वंस। निर्माण सदा अच्छा ही नहीं होता और विध्वंस सदा बुरा ही नहीं होता। विध्वंस भी अच्छा हो सकता है, और निर्माण भी बुरा हो सकता है।' उसने बहुत समझाया, पर तीनों मित्र उसकी बेसमझी की मजाक करते रहे। तीनों उस शेर के कलेवर के पास पहुंचे। चौथा अवैज्ञानिक मित्र ऊंचे पेड़ पर चढ़ गया। एक ने उसमें मांस का और दूसरे ने उसमें रक्त का संचार किया। तीसरे ने ज्योंही उसमें प्राण का संचार किया कि शेर जीवित हो उठा और दहाड़ने लगा। तीनों अपनी सफलता पर प्रसन्नता व्यक्त कर ही रहे थे कि शेर ने तीनों का काम समाप्त कर अपनी भूख शांत की। पेड़ पर बैठे अवैज्ञानिक, किन्तु बुद्धिमान् मित्र, अपने तीनों साथियों की मूर्खता से निष्पन्न स्थिति पर रो पड़ा और अकेला घर आ गया।

सर्वभक्षी अर्थ-व्यवस्था

आदमी जाने-अनजाने में ऐसा निर्माण कर देता है, ऐसी संस्कृति को जन्म दे देता है जो सर्वभक्षी बन जाती है। आज उसने ऐसी ही अर्थ-व्यवस्था

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को जन्म दिया है जो स्वयं उसको ही ग्रसने को तैयार है। यदि हम विचार करें तो पायेंगे कि अणु-शस्त्रों का निर्माण आर्थिक साम्राज्य के विस्तार के लिए ही तो हुआ! प्राचीन काल में भूभिगत विस्तार की बात सोची जाती थी। आज आर्थिक साम्राज्य की बात प्रमुख बन गई है। मान लें एक छोटा राष्ट्र है, लेकिन थोड़ी भूमि और सीमित जनसंख्या पर भी यदि उसका आर्थिक साम्राज्य बढ़ जाता है तो वह सारी दुनिया पर अपना सिक्का जमा सकता है। कई छोटे-छोटे राष्ट्र आज आर्थिक साम्राज्य के कारण बहुत शक्तिशाली बन गए हैं। आर्थिक व्यवस्था के साथ सारा दृष्टिकोण ही बदल गया है। पहले लड़ाइयां होती थीं भूमि के लिए और आज संघर्ष चल रहा है आर्थिक प्रभुत्व के लिए, आर्थिक साम्राज्य को बढ़ाने के लिए।

आर्थिक व्यवस्था का दूसरा सूत्र

आर्थिक व्यवस्था का दूसरा सूत्र है—आवश्यकता बढ़ाएं, कार्यक्षमता को बढ़ाएं और उत्पादन को बढाएं। इस सूत्र ने आर्थिक साम्राज्य का विस्तार किया लेकिन साथ ही साथ मनुष्य के लिए संकट और खतरे भी पैदा कर दिए। आवश्यकता बढ़ाने का पहला अर्थ है—संघर्ष। क्योंकि पदार्थ सीमित हैं, आवश्यकताएं असीम। खाने वाले अधिक, खाद्य वस्तुए कम! एक ओर कहा जा रहा है आवश्यकताएं बढ़ाओ, दूसरी ओर कहा जा रहा है परिवार नियोजन करो। कैसा विरोधाभास है! एक ओर आवश्यकता को बढ़ाओ और एक ओर आवश्यकता को घटाओ। इसका सीधा-सा अर्थ है—चेतना को घटाओ और पदार्थ को बढ़ाओ। चेतन घटे, पदार्थ बढ़े। सारा दृष्टिकोण ही पदार्थवादी हो गया है। मनुष्य जो चेतनाशील और विवेकशील प्राणी है उसको तो कम करना और पदार्थ या जड़ को बढाना! यदि आवश्यकता बढ़ाने की बात नहीं होती तो शायद दृष्टिकोण ऐसा नहीं बनता।

दूसरी बात है—कार्यक्षमता बढाने की। इसमें भी मनुष्य की कार्यक्षमता बढ़ाने की बात कम है और यंत्रों की कार्य-क्षमता बढ़ाने की बात अधिक है। यंत्रों की कार्य-क्षमता बढे कि कौनसी मिल में कितना उत्पादन हो रहा है, कौनसी मशीनें ज्यादा उत्पादन कर रही हैं। सारा ध्यान यंत्रों की कार्यक्षमता बढ़ाने पर है। 'आदमी भला कितना उत्पादन कर सकता है! इसका परिणाम है कि मजदूर कम होते जा रहे हैं और यंत्र उनका स्थान ग्रहण कर रहे हैं। बेकारी बढ रही है।

इस प्रकार यह फिर दूसरा प्रहार है मनुष्य पर, चैतन्य पर, कि जड़ की क्षमता को बढ़ाओ और मनुष्य की क्षमता को कम करो, मनुष्य को कम करो। अर्थ-व्यवस्था की इस अवधारणा ने मनुष्य पर और चेतना पर सबसे अधिक प्रहार किया है। जिस देश के कारखाने अधिक उत्पादन करते हैं उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देश का आर्थिक साम्राज्य विस्तृत हो जाता है। जापान ने कारों का इतना उत्पादन किया कि संसार पर प्रभुत्व जमा लिया। और भी अनेक छोटे-छोटे राष्ट्रों ने पदार्थों का उत्पादन कर ऐसा जाल फैलाया कि वे सारे संसार पर छा गए, और उनका आर्थिक प्रभुत्व जम गया। कितना ही बड़ा राष्ट्र क्यों न हो, यदि उसमें पदार्थ-उत्पादन की क्षमता नहीं है तो उसका आर्थिक साम्राज्य फैल नहीं सकता और आज की दौड़ में वह पिछड़ जाता है, अविकसित रह जाता है। वह विकासशील देशों की सूची में नहीं आता।

आर्थिक व्यवस्था के इन दोनों सूत्रों के आधार पर हम समस्या पर विचार करें और यह देखें कि इन दोनों ने किस स्थिति का निर्माण किया है? जब यंत्रों की, जड़ की क्षमता बढ़ती है—मूल्य बढ़ता है, चेतना की क्षमता कम होती है, मूल्य कम होता है, तब शोषण को बल मिलता है। शोषण आज की आर्थिक व्यवस्था और राजनैतिक प्रणाली का शब्द है। अध्यात्म की भाषा में उसका शब्द है "क्रूरता"। दोनों शब्द एक ही हैं। शोषण नया शब्द है और आज की अर्थ-व्यवस्था के साथ जुड़ा हुआ है, आज की राजनैतिक क्रांति के साथ जुड़ा हुआ है। "क्रूरता" पुराना शब्द है। जैसे-जैसे क्रूरता बढ़ती है शोषण को बल मिलता है। जैसे-जैसे औद्योगिक विकास हुआ है शोषण भी बढ़ा है। आठ घंटा काम करने वाला मजदूर बेचारा आजीविका निर्वाह करने मात्र का पैसा पाता है, जबकि ऑफिस में बैठा हुआ अफसर या मालिक करोड़ों में खेलने लग जाता है। इतना अन्तर क्यों? इसलिए कि मनुष्य में क्रूरता की वृत्ति है। यह वृत्ति क्यों पनपती है? यह पनपती है इन्हीं आर्थिक अवधारणाओं के कारण। इन अवधारणाओं के संदर्भ में क्रूरता का पनपना सहज है।

क्या शोषण मिटाया जा सकता है? क्या क्रूरता की वृत्ति बदली जा सकती है? जिसमें क्रूरता नहीं होती, वह शोषण नहीं कर सकता। कोई भी करुणाशील व्यक्ति शोषण नहीं कर सकता। शोषण वही कर सकता है जिसमें क्रूरता है, दूसरे के प्रति सहानुभूति नहीं है। वह यही सोचता है कि दूसरा मरे तो भले ही मरे, मुझे क्या? इस क्रूरता को जन्म देने में अर्थ-व्यवस्था का बहुत बड़ा हाथ है।

चेतना के दो आयाम हैं—ज्ञान और संवेदन। यह संवेदन का जो आयाम है, वह समाज-व्यवस्था के लिये आधारभूत सूत्र बनता है। जिस समाज में संवेदनशीलता का धागा नहीं होता, वह नृशंस लोगों का समाज बन जाता है। जिस समाज में यह सूत्र नहीं होता, वह हिंस्र पशुओं का समाज बन जाता है। मनुष्य का इसीलिए विकसित, सहयोगशील समाज बना कि इसमें संवेदना है। इसी के आधार पर आज हजारों-हजारों आदमी साथ में रहते हैं। यदि मनुष्य में कोरी बुद्धि होती, कोरा ज्ञान होता और संवेदना नहीं होती तो वह ज्ञान विध्वंसकारी ही होता। जिस वैज्ञानिक ने अणु-शस्त्रों का निर्माण किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसने सबसे पहले मानवीय संवेदन को काट कर अलग रख दिया और फिर अस्त्रों का निर्माण किया। यदि उस वैज्ञानिक में मानवजाति के प्रति संवेदना होती तो वह ऐसा जघन्य कार्य कभी नहीं करता। मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता है—संवेदनशीलता।

जिन-जिन में अध्यात्म जागा है, उनमें संवेदनशीलता अवश्य जागी है। उनमें करुणा का प्रवाह फूटा है और वे समता से ओतप्रोत हुए हैं। वह व्यक्ति फिर किसी का अनिष्ट नहीं कर सकता, धोखा नहीं दे सकता; किसी की भूमि या सम्पत्ति नहीं हड़प सकता, अनैतिकता नहीं कर सकता आदि, आदि।

हम संवेदनशीलता को जगाएं। वह इतनी व्यापक बन जाय कि पूरा मानव समाज ही नहीं, पूरा प्राणी जगत् उसमें समा जाए। इतना होने पर ही क्रूरता धुल सकती है। अन्यथा बाप बेटे को और बेटा बाप को, सास बहू को और बहू सास को मार सकती है। कोई रोकने वाला नहीं है। जब संवेदना रुक जाती है तब कौन किसको नहीं मार सकता? सब सबको मार सकते हैं। संवेदना के अभाव में कोई संबंध टिकता ही नहीं।

आदमी बदले, यह मूल बात है। इसका तात्पर्य है कि उसमें रही हुई क्रूरता बदले, शोषण की वृत्ति बदले, नयी चेतना का निर्माण हो। सबसे अधिक अनर्थ करने वाली दो वृत्तियां हैं—लोभ की वृत्ति और इच्छा की वृत्ति। ये जन्म देती हैं क्रूरता को। संवेदनशीलता से ही ये बदल सकती हैं।

ध्यान संवेदनशीलता को जगाने की प्रणाली है। जीवन की जितनी प्रणालियां हैं—आर्थिक प्रणालियां और राजनैतिक प्रणालियां—इन सबके दोषों का परिमार्जन करने वाली प्रणाली है—ध्यान की प्रणाली।

ध्यान का मूल प्रयोजन है—चेतना का रूपान्तरण, वृत्तियों का परिष्कार। इनमें पहला परिष्कार है—लोभ का और स्वार्थ का।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थतंत्र और नैतिकता

व्यक्ति को आर्थिक दृष्टि से निश्चिन्त बनाना और सुरक्षा देना उन्नत समाज-व्यवस्था का प्रतीक है। जिस समाज के व्यक्ति निश्चिन्त और सुरक्षित होते हैं, वह बहुमुखी विकास कर सकता है; अन्यथा व्यक्ति की प्रतिभा और कार्यक्षमता उदरपूर्ति जैसे सामान्य कार्य में क्षीण हो जाती है। जिस राष्ट्र के नागरिक भोजन, आवास, चिकित्सा और शिक्षा की उचित सुविधा प्राप्त कर लेते हैं, वह राष्ट्र अध्यात्म और विज्ञान की नयी शोध के क्षेत्र में गतिशील हो सकता है।

व्यक्ति की चिन्ता और आशंका के मूलभूत बिन्दु हैं—जीविका, बीमारी बुढ़ापा आदि। जीविका मनुष्य जीवन की सबसे बड़ी समस्या है। बीमारी और वृद्धावस्था व्यक्ति को निरीह बना देती है। उस समय उसे किसी आलम्बन की अपेक्षा अनुभव होती है। इन सब स्थितियों के समाधान की बहुत सारी जिम्मेदारियां सरकार के हाथ में हैं। सुरक्षा की व्यवस्था भी सरकारी व्यवस्थाओं ने अनुबंधित है। व्यवसाय के क्षेत्र में भी व्यक्ति कितना नैतिक रहता है, यह प्रश्न भी व्यावसायिक परिस्थितियों और कानूनों पर निर्भर है।

कोई भी आचार-परम्परा, चाहे वह अणुव्रत की हो अथवा दूसरी, सत्तात्मक या अधिकारात्मक योजना नहीं दे सकती। उसके पास होती है नैतिक बने रहने की मनोभूमिका के निर्माण की योजना। इस योजना में सब प्रकार के भय और आशंकाओं को झेलने तथा उनका पार पाने की कल्पना है और है यथार्थ से जूझने की क्षमता। व्यक्ति के सामने जितनी समस्याएं आती हैं, उनका अन्तिम समाधान स्वयं उसी के पास होता है। बाहर के सारे समाधान अयथार्थ और अधूरे होते हैं। इस प्रकार की मनोभूमिका का निर्माण होने के बाद व्यक्ति एक सीमा तक निश्चिन्त और सुरक्षित हो जाता है।

एक योजना अणुव्रत के मंच से बनी थी, जिसकी क्रियान्विति अभी तक नहीं हो पायी है। इसके अनुसार अणुव्रत में आस्था रखने वाले व्यक्तियों का एक अपना समाज हो। संगठित समाज-रचना समस्या का सीधा समाधान है। यद्यपि सारी समस्याएं अन्तिम रूप से समाहित हो जाएं, यह रास्ता बहुत लम्बा है। फिर भी प्रारम्भिक रूप से यह एक अच्छी प्रक्रिया हो सकती है। अकेला व्यक्ति किसी भी समस्या का सामना करता है, यह बहुत कठिन परिस्थिति है। समाज में शक्ति होती है और वह किसी भी नये वातावरण का निर्माण आसानी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से करा सकता है। सामाजिक संगठन से मुकाबले की क्षमता बढ़ती है और एक सीमा तक सुविधा भी रहती है।

अणुव्रत संवाहक की एक योजना और थी जो अणुव्रत समाज-रचना की पुष्टि के लिए ही थी। इसका सम्बन्ध उन कार्यकर्ताओं से है जो अपना जीवन नैतिक आन्दोलन को गतिशीलता बनाये रखने में लगाने के लिए तत्पर हों। वे अपने पारिवारिक दायित्व से मुक्त रहकर काम करें और उनकी समस्या का हल समाज करे। इस प्रकार की और भी दूसरी योजनाएं अणुव्रत के मंच से प्रस्तुत की जा सकती हैं, पर उनकी क्रियान्विति में समाज के पर्याप्त सहयोग की अपेक्षा को नकारा नहीं जा सकता।

नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न

अंधकार में ही प्रकाश की अपेक्षा होती है। सहस्रांशु सूर्य तेज से दीप्त रहे और कोई व्यक्ति विद्युत् के प्रकाश का उपयोग करे, यह उसकी समझदारी नहीं हो सकती। प्यास ही न हो तो पानी का क्या उपयोग है? अर्थशास्त्र में उपयोगिता के नियम को स्पष्ट करते हुए समझाया गया है कि एक प्यासा व्यक्ति चार गिलास पानी पी लेता है। इन चारों गिलासों में पहले गिलास का जो मूल्य है, वह शेष तीन का नहीं है, क्योंकि एक गिलास पानी पीने के बाद प्यास उतनी तीव्र नहीं रहती। तीव्रता के अभाव में उत्तरोत्तर हर गिलास की उपयोगिता कम हो जाती है और एक समय ऐसा भी आता है जब पानी से भरा हुआ गिलास भी अकिंचित्कर हो जाता है।

नैतिकता के बारे में इसी उपयोगितावाद की दृष्टि से चिंतन करना जरूरी है। जिस समय स्वार्थी मनोभाव अधिक प्रबल हो, परस्पर संघर्ष की विकट स्थिति निर्मित हो, उस समय नैतिक मूल्यों का प्रसार जितना उपयोगी है, सामान्य स्थिति में वह उस रूप में उपयोगी नहीं होता। क्योंकि जिस समय मानवीय चेतना नैतिकता से संवलित हो, उसे नैतिक बनाने का उपदेश अकिंचित्कर है।

स्वार्थ और संघर्ष मनुष्य की मौलिक वृत्तियां हैं। ये वृत्तियां अधिक तीव्र होंगी तो नैतिकता की अपेक्षा भी उतनी ही तीव्रता से होगी। प्रतिपक्ष के बिना किसी भी स्थिति का अतिरिक्त मूल्य नहीं हो सकता।

पिछले दशकों में अनैतिकता का प्रश्न तीव्र नहीं होता तो अणुव्रत आन्दोलन का अधिक मूल्य नहीं हो सकता था। हम किसी आन्दोलन का संचालन कर रहे हैं, ऐसा सोचकर अपना मनस्तोष अवश्य किया जा सकता था, पर वह युगीन आवश्यकता के रूप में उभरकर सामने नहीं आ सकता था। इसलिए हमें इस बात पर कभी नहीं अटकना चाहिए कि स्वार्थ और संघर्ष के वातावरण में नैतिकता की बात कौन सुनेगा?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति के मूलभूत अधिकारों के सम्बन्ध में कहीं कोई विशेष विप्रतिपत्ति नहीं है। जीवन का अधिकार मनुष्य के अस्तित्व से सम्बन्धित है। जब उसे जीने का अधिकार मिला है तो स्वास्थ्य और स्वतंत्रता का अधिकार भी उसके लिए जरूरी है। इन अधिकारों के साथ मैं नैतिकता का प्रश्न जोड़ना नहीं चाहता क्योंकि ये मानवीय अधिकार हैं। अधिकार प्राप्त करके भी उसका दुरुपयोग न करना नैतिकता की परिधि में अवश्य आ जाता है।

चिंतन और लेखन की स्वतंत्रता जहां न हो, वहां व्यक्ति अपने मौलिक अधिकारों का उपयोग ही कैसे कर सकता है? साम्यवादी व्यवस्था में पहले संपत्ति का अधिकार व्यक्ति को नहीं था। पर अब एक सीमा तक यह अधिकार भी दिया जा रहा है।

अधिकारों की यह सारी चर्चा व्यक्ति और समाज के समन्वित मूल्य को स्वीकार करने से ही पूरी हो सकती है। केवल समाज या केवल व्यक्ति को अधिकार मिलने से संघर्ष की स्थिति अधिक जटिल हो सकती है। मैं व्यक्ति और समाज दोनों को सापेक्ष मूल्य देता हूं। जहां संगठनात्मक शक्ति का प्रश्न है, वहां समाज मुख्य है। समाज का घटक व्यक्ति है। इस दृष्टि से व्यक्ति प्रधान है। व्यक्ति का शक्ति-स्रोत समाज है और शक्ति का उद्गम-स्थल व्यक्ति है। इस प्रकार दोनों का स्वतन्त्र किंतु सापेक्ष मूल्य है।

एक ग्यारह (११) का अंक है और एक एक (१) का अंक है। ग्यारह का अपना मूल्य है और एक अपना। एक दूसरे से निरपेक्ष इनका विशेष मूल्य नहीं होता। इसी गाणितिक नियम को मैं व्यक्ति और समाज पर लागू करता हूं। जहां हमें व्यक्ति को मूल्य देना हो वहां समाज के मध्य कोमा, अर्धविराम आदि लगाकर एक में अनेक का अस्तित्व स्थापित किया जा सकता है। जहां समूह-चेतना को विकसित करने की अपेक्षा हो, वहां सारे अर्धविरामों को हटाकर एक संहति बना दी जाती है।

नैतिकता की दृष्टि से व्यक्ति और समाज का मूल्यांकन किया जाए तो वहां व्यक्ति अधिक मूल्यवान हो जाता है। क्योंकि नैतिकता को पनपाने वाला व्यक्ति ही होता है। व्यक्ति उदात्त है तो समाज की परिस्थितियां भी उदात्त हो जाएंगी और समाज की परिस्थितियां उदात्त हैं तो व्यक्ति को नैतिक बने रहने में सुविधा मिलती है। दूसरी ओर व्यक्ति जिन बीजों को पनपाना चाहता है उनका आधार समाज बनता है। इस रूपक को इस प्रकार भी माना जा सकता है कि समाज भूमि है और व्यक्ति बीज है। दोनों के समुचित योग से ही नैतिकता की पौध हरी-भरी रह सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवसाय-तन्त्र और सत्य-साधना

सत्य-साधना के मार्ग में कठिनाइयां निश्चित हैं क्योंकि हर व्यक्ति वातावरण और परिस्थितियों से प्रभावित है। वातावरण स्वस्थ होता है, परिस्थितियां अनुकूल होती हैं और व्यक्ति का मन समाहित होता है, वहां सत्य की साधना जीवन का स्वाभाविक क्रम बन जाती है। वातावरण और परिस्थिति को छोड़कर व्यक्ति के आचार-व्यवहार की कोई व्याख्या नहीं हो सकती। व्यवसाय-तन्त्र की अनैतिकता से मानवीय संस्कार अप्रभावित नहीं है, इसमें काफी हद तक सचाई है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य भी है कि व्यक्ति की मनःस्थिति बाह्य परिस्थितियों के आधार पर बदलती रहती है। मनुष्य के जीवन में लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, सम्मान-अपमान आदि ऐसे द्वन्द्व हैं, जो उसको प्रताड़ित करते रहते हैं और सामान्यतः इनके आधार पर ही उसका आचरण होता है।

वैयक्तिक कठिनाइयों का संत्रास मनुष्य की व्यथा का हेतु है ही, व्यापार-क्षेत्र में सामूहिक कठिनाइयां भी हैं। अर्थ व्यक्ति के बड़प्पन का मानदण्ड बन रहा है इसीलिए सामान्य व्यक्ति जैसे-तैसे अर्थ का उत्पादन और संग्रह करने में लग जाता है। व्यवसाय-तन्त्र में परिव्याप्त अनैतिकता अर्थ को अनावश्यक महत्त्व मिलने का परिणाम है। जब तक समाज में अर्थ का अतिरिक्त मूल्य है, व्यवसाय तन्त्र में अनैतिकता का प्रश्न अस्वाभाविक नहीं है किन्तु धर्म की दिशा इसे सर्वथा स्वीकार नहीं करेगी। इसके अनुसार व्यक्ति परिस्थिति और द्वन्द्वों पर विजय प्राप्त कर सकता है। जन-प्रवाह से विपरीत दिशा में गति करने के लिए ही धर्म का स्वतंत्र अस्तित्व है। यह व्रत नैतिकता या धर्म की भूमिका पर ही फलित हो सकता है। मनुष्य सत्य की साधना अपने लिए करे। जिस व्यक्ति को इसमें अपने हित का आभास हो जाता है वह किसी भी स्थिति में व्यवसाय-तन्त्र की अनैतिकता से प्रभावित नहीं होता।

प्रश्न नैतिकता और अनैतिकता का नहीं, मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं का है। यदि मनुष्य की अपेक्षाएं अनैतिक बने बिना ही पूरी होती हों तो वह अनैतिक क्यों बने ? उसकी प्रवृत्ति आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होती है। समाज ऐसी व्यवस्थाओं का निर्माण कर सके, जिनमें मनुष्य नैतिक रहता हुआ अपनी अपेक्षाएं पूरी कर लेता हो तो अनैतिकता के लिए कोई अवसर ही नहीं आएगा। सचमुच व्यवस्था का योग होने पर भी मनुष्य अपनी बढ़ती हुई आकांक्षा की प्रेरणा से अनैतिक बनता है। इसका समाधान धर्म के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पास है। समाज अथवा सरकार व्यवस्था में परिवर्तन कर सकती है किन्तु व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा को नियंत्रित करने की क्षमता उसमें नहीं है। कानून अथवा सामाजिक वैषम्य के कारण व्यक्ति को अनैतिक बनने का अवसर न मिले, व्यवस्था का काम इतना ही है। बाह्य परिस्थितियां अनुकूल होने पर भी नैतिकता को पुष्ट करने के लिए आकांक्षा का संयम आवश्यक है। वह एकमात्र धर्म से ही संभव है।

सत्य और व्यवहार में समन्वय स्थापित हो

राजनीति और समाजनीति सत्य और व्यवहार के विघटन को स्वीकार कर सकती है किन्तु धर्म-नीति की मर्यादा में वह मान्य नहीं है। सत्यनिष्ठ व्यावहारिक रह सकता है, किन्तु व्यवहार के लिए वह सत्य की हत्या नहीं कर सकता। व्यवहार की ओट में वह किसी को धोखा नहीं दे सकता। प्रवंचनापूर्ण व्यवहार व्यक्ति के आदर्श की हत्या है। इससे व्यक्ति स्वयं धोखे में रहता है और दूसरों को धोखे में रखता है। अणुव्रत मनुष्य को प्रवंचनापूर्ण व्यवहार से ऊपर उठकर सत्य के अनुगामी व्यवहार को साधने का मार्गदर्शन देता है।

प्रामाणिक कहना संभव है ?

मनुष्य के लिए असम्भव क्या है ? वह सब कुछ कर सकता है किन्तु करता तभी है जब उसका अंतःकरण वैसा करने के लिए तैयार हो। व्यवसाय में प्रामाणिक रहने के लिए व्यक्ति को संग्रह की भावना का विसर्जन करना होता है। व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर मानवीय दृष्टिकोण से सोचता है और अपनी वस्तु का भोग मैं ही करूं, इन विचारों में संशोधन कर लेता है। इतना होने के बाद अर्थ के प्रति पैदा होने वाला आकर्षण कम हो जाता है और आकर्षण कम होने से अनैतिक प्रवृत्तियों का बहिष्कार सहज बन जाता है।

इस युग में भी अनेक अणुव्रती भाइयों के जीवन-प्रसंग मुझे ज्ञात हैं। उन्होंने कठिनाइयां झेलकर भी अणुव्रत के आदर्शों पर चलने का प्रयास किया और व्यवसाय क्षेत्र में नया कीर्तिमान् स्थापित किया।

सुगनचन्दजी आंचलिया का जीवन अणुव्रत के आदर्शों के अनुकूल और व्यवसाय-बुद्धि का एक ज्वलंत उदाहरण था। उन्होंने अपना अनुभव सुनाते हुए कहा—'अणुव्रती होने के बाद मैंने अपने पारिवारिक जनों से अपने धर्म में ब्लेक न करने के लिए विनम्र अनुरोध किया और ब्लैक होने की स्थिति में सम्मिलित रह सकने में असमर्थता प्रकट की। मेरे बड़े भाई श्री रामकुमार आंचलिया ने कहा—'तुम्हारे मन में यदि धन की लालसा नहीं है तो हमें धन को साथ लेकर थोड़े ही जाना है। हम ब्लैक किसलिए करेंगे ?'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक अन्य प्रसंग में उन्होंने बताया—'प्लास्टिक चूर्ण का एक बड़ा कोटा मुझे एक अन्य व्यवसायी के साथ मिला हुआ था। ब्लैक की दर से लगभग तीन लाख रुपये का लाभ मेरे हिस्से में आता था, पर ब्लैक करना मुझे मान्य नहीं था, अतः उस व्यवसाय से ही मैंने अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। चोर-बाजारी न करने के लिए और भी अनेक प्रकार के धन्धे मुझे छोड़ देने पड़े।'

एक अन्य भाई ने अपना जीवन-प्रसंग सुनाते हुए कहा—'कलकत्ता में हमारा औषधि-निर्माण का व्यवसाय है। एक बार दस हजार रुपयों का पीपरमेंट हमारे यहां खरीदा गया। देने वाले ने शोरा मिलाया हुआ पीपरमेंट हमें दे दिया, वह किसी भी उपयोग का नहीं था। चाहते तो हम भी उसे किसी प्रकार पार कर सकते थे किन्तु अणुव्रती होने के नाते हमने ऐसा नहीं किया और दस हजार का सारा माल गंगा में बहा दिया।'

ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जिसमें अणुव्रती भाइयों ने स्वार्थ और सुविधावाद से ऊपर उठकर अणुव्रत के आदर्शों को उजागर किया है। कुछ भाइयों को अपने आदर्शों और व्यवहारों में समन्वय स्थापित करने के लिए अनेक कठिनाइयां झेलनी पड़ी हैं। कठिनाइयों के बावजूद उन्हें आत्मतोष मिला और नैतिक जीवन के प्रति उनकी आस्था प्रबल हुई। इसलिए मेरा यह अभिमत है कि मनुष्य किसी भी स्थिति में प्रामाणिकता रख सकता है, यदि प्रामाणिकता की सुखद निष्पत्तियों में उसकी दृढ़ आस्था है और प्रयोग-काल में समागत कठिनाइयों से जूझने की क्षमता है। साधना की लम्बी प्रक्रिया से मनुष्य सहज प्रामाणिकता का जीवन जी सकता है, पर यह प्रक्रिया कितनी व्यापक बनती है और उसका प्रभाव तात्कालिक होता है या दूरगामी?—ये प्रश्नचिह्न अभी तक भविष्य के गर्भ में सन्निहित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संग्रह की परिणति : संघर्ष

एकता और सहअस्तित्व—ये दोनों मनुष्य जाति के स्वाभाविक गुण हैं, किन्तु परिस्थिति और वातावरण की भिन्नता में इनकी विस्मृति हो जाती है। यह विस्मृति अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि परिस्थितियां और संदर्भ स्वभाव पर भी आवरण डाल देते हैं। मनुष्य सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक संदर्भों में जीता है, उनके परिपार्श्व में होने वाली प्रवृत्तियां स्वाभाविक गुणों पर हावी हो जाती हैं, मनुष्य किसी भी परिस्थिति में रहे, मानवीय एकता और सहअस्तित्व उसके लिए मौलिक तथ्य हैं। वर्तमान परिस्थिति में और काल के हर चरण में इनकी स्मृति कराना धर्म या अध्यात्म का काम है। इस स्मृति की उपयोगिता हर युग में है। चाहे वह युग शान्ति का हो या युद्ध का। युद्ध की परिस्थितियों में वह और अधिक आवश्यक है। अणुव्रत अपने दायित्व के प्रति जागरूक है। वह मानवीय एकता और सहअस्तित्व के मूल्यों की विस्मृति दोनों के लिए प्रयत्नशील है; क्योंकि यह विस्मृति विश्व-शांति में बहुत बड़ी बाधा है।

स्वभाव की विस्मृति ही द्वन्द्व का मुख्य कारण

मनुष्य जीवन या जीवन की उच्चता के लिए संग्रह करता है। जहां संग्रह है वहां द्वैत है। जहां द्वैत है, वहां संघर्ष है। संग्रह मनुष्य की एकता को खण्डित करता है और सहअस्तित्व में भी दरार डालता है। संघर्ष संग्रह की अनिवार्य परिणति है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि संग्रह हो और संघर्ष न हो।

नमि राजा दाह-ज्वर से पीड़ित थे। राज्य के सर्वोच्च वैद्यों ने उपचार किया पर राजा की पीड़ा कम नहीं हुई। दाह-ज्वर का प्रभाव क्षीण करने के लिए चन्दन का लेप करने का सुझाव दिया गया। रानियां चन्दन घिसने लगीं। उनके हाथों में चूड़ियां खनखना उठीं। चूड़ियों की खनखनाहट राजा के लिए असह्य हो गयी। रानियों को स्थिति की अवगति मिली। उन्होंने अपने हाथों में एक-एक चूड़ी छोड़कर बाकी सब चूड़ियां उतार दीं। खनखनाहट बन्द हो गयी। राजा ने पूछा—'चन्दन घिसना बन्द कर दिया है क्या?' परिचारकों ने बताया, 'राजन्! चन्दन अब भी घिसा जा रहा है।' 'चूड़ियों के शब्द कहां खो गये?' राजा ने पूछा। राजा के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए परिचारक बोले—राजन्! जिन चूड़ियों ने आपकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शान्ति भंग की, उन्हें उतार दिया गया है। अब रानियों के हाथों में एक-एक चूड़ी है।'

राजा के चिन्तन में नया तथ्य उभरा। एकत्व और बहुत्व की निष्पत्ति पर जाकर वह ठहर गया। राजा ने सोचा, संग्रह होने का परिणाम संघर्ष है। असंग्रह में संघर्ष नहीं होता। राजा का मन आश्वस्त हो गया। एकत्व की अनुभूति ने शरीर के दाह का अन्त कर दिया। शरीर के साथ मन को भी समाधान मिल गया।

संघर्ष जीवन की अनिवार्यता है

अनिवार्यता जीवन की बहती धारा है। बहाव संग्रह नहीं है, संग्रह है उस बहाव को जमाकर रखना। पदार्थ को जमाकर रखने का भाव पैदा होते ही मानसिक संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है। इस संघर्ष को वही टाल सकता है, जो वर्तमान में जीने की कला जानता है।

चिन्तन की गहराइयों से डूबे हुए एक सेठ ने गंभीर मुद्रा में घर में प्रवेश किया। इससे पहले उसकी पत्नी उसे कई बार घर बुलाने का प्रयास कर चुकी थी। पर वह अपने काम में व्यस्त रहा। पत्नी ने विलम्ब का कारण पूछा। उसने कहा—'आज मैं अपनी सात पीढ़ियों की व्यवस्था करने में लग गया था, इसलिए समय पर नहीं आ सका।' पत्नी समझदार थी। सात पीढ़ियों की चिन्ता उसे बड़ी अटपटी लगी। कुछ समय बाद उसने अपने पति से कहा—'अपने घर के बाहर कुटिया में एक भिक्षु रहता है। आप उसे खाना दे आएं।' पति ने आनाकानी की, किन्तु पत्नी के आग्रह को वह टाल नहीं सका।

एक पात्र में कुछ रोटियां लेकर वह भिक्षु के पास पहुंचा और रोटियां उसकी ओर बढ़ा दीं। भिक्षु निश्चित भाव से बैठा था। उसने कहा—'मैंने भोजन कर लिया है।'

सेठ बोला—'संध्या का भोजन इन रोटियों से हो जाएगा। भिक्षुक ने मुसकराते हुए कहा—'शाम के भोजन की चिन्ता अभी क्यों करूं?' भिक्षु के एक वाक्य ने सेठ के चिन्तन को मोड़ दे दिया। वह सोचने लगा—'कितना विचित्र है यह व्यक्ति जो सांझ के खाने की चिन्ता भी नहीं करता और मैं सात पीढ़ियों की व्यवस्था कर रहा हूं।' उसे अपने पर हंसी आने लगी।

संग्रह वही व्यक्ति करता है जो भविष्य के लिए चिंतित रहता है। वर्तमान में जीने वाला संग्रह की कल्पना ही नहीं कर सकता। ऐसा व्यक्ति जीवन-मुक्त होता है। जीवन-मुक्त का लक्षण है—अतीत के चिंतन से उपरत भविष्य की आकांक्षाओं से मुक्त और वर्तमान का अनासक्त भाव से उपयोग करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतीताननुसंधानं भविष्यदविचारणम् ।
औदासीन्यमपि प्राप्ते, जीवनमुक्तस्य लक्षणम् ॥

संग्रह मानवीय एकता और सहअस्तित्व की चेतना पर पहला आवरण है । इस आवरण को उतारे बिना संघर्ष से बचाव संभव नहीं लगता ।

युद्ध का स्थायी समाधान क्या

युद्ध दो पक्षों में होता है । एक पक्ष आक्रान्ता होता है और दूसरे पक्ष को अपनी सुरक्षा के लिए युद्ध लड़ना पड़ता है । मानवीय एकता का विघटन, स्वतन्त्रता का हनन, सत्ता, अर्थ एवं भूमि का केन्द्रीकरण तथा ऐसे ही कुछ अन्य कारणों से युद्ध की परिस्थिति पैदा होती है । आदर्शों के लिए भी लड़ाइयां होती हैं । भारत-पाक संघर्ष के दौरान श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कहा—'हम लड़ाई नहीं चाहते, अपने सिद्धान्तों और आदर्शों की रक्षा चाहते हैं । सिद्धांतों की रक्षा के लिए हमें मजबूरन लड़ना पड़ रहा है ।' श्रीमती इन्दिरा गांधी ने जैसा कहा था, वैसा प्रमाणित भी कर दिया । मजबूरी मिटते ही उन्होंने युद्ध विराम की घोषणा कर दी । इस घोषणा पर पाकिस्तान की सहमति मिली और युद्ध समाप्त हो गया ।

युद्ध के इस सामयिक समाधान को स्थायी रूप तभी मिल सकता है जब सत्ता, पूंजी और भूमि का विकेन्द्रीकरण हो, मानवीय एकता और सहअस्तित्व की नीति का परिस्फुरण हो तथा किसी भी देश की स्वतन्त्रता और अखण्डता में हस्तक्षेप न किया जाए । अणुव्रत की भावना विश्व-शान्ति की दिशा में ठोस कार्य है । इसके द्वारा राजनीति, अर्थनीति और समाजनीति में परिष्कार किया जा सकता है । जो व्यक्ति अणुव्रत की भावना तक पहुंचे हैं, उनकी दृष्टि में अणुव्रत के फलित हैं—

- मानवीय एकता का विकास
- सहअस्तित्व की भावना का विकास
- व्यवहार में प्रामाणिकता का विकास
- आत्मनिरीक्षण की पद्धति का विकास
- समाज में सही मानदण्डों का विकास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्या का मूल : परिग्रह चेतना

हम एक साथ अधिक क्षणों को कभी भी नहीं जी सकते। हमारा आज का दिन और उसका वर्तमान क्षण ठीक से जीया जा रहा है तो कल का प्रवेश निश्चित रूप से शुभ होगा। प्रवेश करने के बाद कल आज बन जाएगा और आन वाले कल को संवारने का आधार बनेगा।

आज मनुष्य की आंखों में कम्प्यूटर युग और रोबोट युग के सपने हैं। इन सपनों को साकार करने की कल्पना इस युग की युवा पीढ़ी के मन में गुदगुदी पैदा कर रही है। कम्प्यूटर युग के साथ ही अन्तरिक्ष युग की संभावना को भी काफी पुष्ट किया जा रहा है। ऊपर-ऊपर से देखा जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो २१ वीं सदी का आदमी बहुत ही साधन-सम्पन्न और आनन्द-सम्पन्न हो जाएगा। किन्तु इसके पीछे उसे कितनी त्रासदी भोगनी होगी, कोई नहीं बता सकता।

खैर, काल की गति को रोकना संभव नहीं है, पर क्या उसे बदलना भी संभव नहीं है? काल मनुष्य को बदलने के लिए विवश करे तो क्या मनुष्य इतना सत्त्वहीन है कि वह काल के प्रवाह को न बदल सके। इस काल का नियन्ता भी मनुष्य है। यदि वह इस युग की बुराइयों को साथ लेकर अगली सदी में प्रवेश करेगा तो उसका भविष्य कभी शुभ नहीं होगा।

वर्तमान युग में मुख्य रूप से दो बुराइयां हैं—अणु-अस्त्र और आतंकवाद। इन दोनों के मूल में जो कारण है, वह है परिग्रह-चेतना की सक्रियता। निष्कर्ष रूप में सोचा जाए तो सब समस्याओं का मूल है 'परिग्रह'। परिग्रह के अभाव में न आतंकवाद बचेगा और न ही अणु-अस्त्रों के निर्माण का सपना आएगा। इसलिए नयी सदी में प्रवेश करने से पहले परिग्रह की समस्या का समाधान खोजना है—अर्थ-शुद्धि के साधनों एवं विसर्जन के सिद्धांत पर ध्यान देना है। ऐसा करने वाला व्यक्ति ही युगीन बुराइयों की गिरफ्त से मुक्त होकर आगे बढ़ सकेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिग्रह का मूल

मनुष्य में जिजीविषा है—जीने की इच्छा है और उसमें कामना है। इन दोनों की पूर्ति के लिए वस्तुएं आवश्यक होती हैं। आगे चलकर आवश्यकता स्वयं कामना बन जाती है। कामना में विलीन हो जाती है। इस पृष्ठभूमि पर परिग्रह या संग्रह का जन्म होता है।

संग्रह या परिग्रह हिंसा से भिन्न नहीं है। जहां संग्रह है, वहां निश्चित हिंसा है। जहां परिग्रह है, वहां निश्चित हिंसा है। परिग्रह हिंसा का ही एक रूप है, किन्तु इतना बड़ा रूप है कि उसका अस्तित्व बहुत शक्तिशाली हो गया है। इसीलिए हिंसा और परिग्रह एक युगल बना हुआ है। भगवान् महावीर ने कहा है—जो व्यक्ति हिंसा और परिग्रह को नहीं छोड़ता वह धर्म नहीं सुन पाता, सम्यग्दृष्टि नहीं होता और धर्म का आचरण नहीं कर पाता। इस सिद्धांत में बहुत सचाई है। परिग्रह का आशय समझने पर वह स्वयं प्रकट हो जाती है।

परिग्रह का मूल कहां है? यह खोज लम्बे समय तक चलती रहती है। भिन्न-भिन्न तत्त्ववेत्ताओं ने भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किए हैं। भगवान् महावीर का विचार है कि परिग्रह का मूल मूर्च्छा है, आसक्ति है। वस्तु परिग्रह हो सकती है किन्तु वह परिग्रह का मूल नहीं है। वह मूर्च्छा से जुड़कर ही परिग्रह बनती है। मूर्च्छा अपने-आप में परिग्रह है चाहे वस्तु हो या न हो। वस्तु अपने-आप में परिग्रह नहीं है। वह मूर्च्छा द्वारा संगृहीत होकर परिग्रह बनती है। मूर्च्छा के होने पर संगृहीत वस्तु भी परिग्रह बनती है इसलिए परिग्रह के दो आकार बन जाते हैं—भीतरी और बाहरी। मूर्च्छा भीतरी परिग्रह है और मूर्च्छा द्वारा संगृहीत वस्तु बाहरी परिग्रह है।

साधारणतया परिग्रह छोड़ने में वस्तु छोड़ने को प्राथमिकता दी जाती है जबकि प्राथमिकता दी जानी चाहिए मूर्च्छा छोड़ने को। वस्तु छूटती है और मूर्च्छा नहीं छूटती है, कोरा बाहरी आकार कम होता है। मूर्च्छा छूटती है और बाहरी वस्तु नहीं छूटती, फिर भी परिग्रह छूट जाता है। सच्चाई यह है कि मूर्च्छा के छूटने पर वस्तु का संग्रह हो ही नहीं सकता। जीवन चलाने भर कुछ लिया जा सकता है किन्तु संग्रह या संचय जैसी वृत्ति को उभरने का अवकाश ही नहीं मिल पाता। कठिनाई यह है कि बहुत सारे लोग मूल रोग की चिकित्सा नहीं करते। चिकित्सा करते हैं उसके परिणाम की। वस्तु-संग्रह की चिकित्सा मूल रोग की चिकित्सा नहीं है। यह बहुत स्थूल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बात है और समाजवाद इस स्थूल बात को ही महत्त्व दे रहा है। धर्म के लिए यह अनादृत नहीं है किन्तु पर्याप्त भी नहीं है इसलिए वह मूर्च्छा रोग की चिकित्सा पर अधिक बल देता है। आसक्ति की ग्रंथि को खोलने का अधिक प्रयत्न करता है। उसके खुल जाने पर संग्रह का इलाज अपने आप हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म से आजीविका : इच्छा-परिमाण

भगवान् महावीर ने कहा—'इच्छा आकाश के समान अनन्त है।' यह धार्मिक दृष्टि से जितना सत्य है उतना ही अर्थशास्त्रीय दृष्टि से सत्य है। अर्थशास्त्र के अनुसार मांग से आवश्यकता का क्षेत्र बड़ा होता है। इच्छा का क्षेत्र उससे भी बड़ा होता है। सभी इच्छाएं आवश्यकताएं नहीं हो सकतीं, जब कि सभी आवश्यकताएं इच्छाएं अवश्य होती हैं। इच्छा से आवश्यकता का क्षेत्र संकुचित और मांग का क्षेत्र उससे भी संकुचित होता है।

इच्छा नैसर्गिक होती है। आवश्यकताएं भौगोलिक परिस्थिति, सामाजिक रीति-रिवाज, शारीरिक अपेक्षा, आर्थिक परिस्थिति और धार्मिक भावना के द्वारा निर्धारित होती हैं।

वे एक-दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। भगवान् महावीर ने कहा—इच्छाओं को संतोष से जीतो।' अग्नि में इंधन डालकर उसे बुझाया नहीं जा सकता, वैसे ही इच्छा की पूर्ति के द्वारा इच्छाओं को संतुष्ट नहीं किया जा सकता। आवश्यकताओं की वृद्धि, वस्तुओं की वृद्धि उत्पादन और श्रम की वृद्धि में योग देती है। किन्तु सुख और शान्ति में योग देती है...यह मान्यता भ्रान्तिपूर्ण है। आवश्यकताओं की वृद्धि से जीवन का स्तर उन्नत होता है, किन्तु सुख और शान्ति का स्तर उन्नत होता है—यह नहीं माना जा सकता।

धार्मिक मनुष्य भी सामाजिक प्राणी होता है। सामाजिक होने के कारण यह अनिवार्यता और सुविधा की कोटि की आवश्यकताओं को नहीं छोड़ पाता। महावीर ने गृहस्थ को उनके त्याग का निर्देश नहीं दिया। विलासिता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोटि की आवश्यकताएं धार्मिक को छोड़नी चाहिए— इस आधार पर 'इच्छा-परिमाण' की सीमा-रेखा खींची जा सकती है।

अनिवार्यता और सुविधा कोटि की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए विलासिता कोटि की आवश्यकताओं और इच्छाओं का संयम करना आवश्यक है। इसमें आर्थिक विकास और उन्नत जीवन-स्तर की संभावनाओं का द्वार बन्द भी नहीं है तथा विलासिता के आधार पर होने वाली आर्थिक प्रगति और उन्नत जीवन-स्तर का द्वार खुला भी नहीं है।

अर्थशास्त्र के अनुसार अनिवार्यता, सुविधा और विलासिता की सीमा इस प्रकार है—'सुख-दुःख के आधार के अनुसार आवश्यकताओं का वर्गीकरण इस बात से निर्धारित होता है कि किसी वस्तु के उपभोग से उपभोक्ता को सुख मिलता है या उपभोग न करने से उसे दुःख होता है। यदि किसी वस्तु के उपभोग से मनुष्य को थोड़ा-सा सुख मिलता है और उपभोग न करने से बहुत दुःख का अनुभव होता है तब ऐसी वस्तु को हम अनिवार्यता कहेंगे। यदि किसी वस्तु के उपभोग से मनुष्य को अनिवार्यता की अपेक्षा अधिक सुख मिलता है, परन्तु उसका उपभोग न करने से थोड़ा-सा दुःख होता है, तब ऐसी वस्तु के उपभोग करने से अत्यन्त सुख का अनुभव होता है तथा उसका उपभोग न करने से दुःख नहीं होता (सिवाय इसके कि जब मनुष्य उस वस्तु के उपभोग का आदि होता है), तब उसको विलासता की वस्तु कहते हैं। यदि किसी वस्तु के उपभोग से अल्पकालिक सुख मिलता है तथा उपभोग न करने से बहुत कष्ट होता है तब उसको धनोत्सर्गिक वस्तु कहते हैं।

सुख-दुःख के आधार पर आवश्यकताओं के इस वर्गीकरण को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

मनुष्य के सुख-दुःख पर प्रभाव

वस्तुएं	वस्तु का उपभोग करने पर	वस्तु का उपभोग न करने पर
अनिवार्यताएं	थोड़ा-सा सुख मिलता है।	बहुत दुःख होता है।
सुखदायक वस्तुएं (सुविधाएं)	कुछ अधिक सुख मिलता है।	थोड़ा दुःख होता है।
विलासिताएं	बहुत सुख मिलता है।	दुःख नहीं होता।

अर्थशास्त्री की दृष्टि में नैतिकता और शान्ति—ये सब गौण होते हैं। उसके सामने मुख्य प्रश्न आर्थिक प्रगति के द्वारा मानवीय कल्याण का होता है। इस आधार पर वह विलासिता का समर्थन करता है और आर्थिक प्रगति के लिए उसे आवश्यक मानता है। धर्म-गुरु की दृष्टि में आर्थिक प्रगति का प्रश्न गौण होता है, नैतिकता और शान्ति का प्रश्न मुख्य होता है।

१. एम० एल० सेठ, आधुनिक अर्थशास्त्र, पृ० ९०-९१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म-गुरु सामाजिक व्यक्ति को धर्म में दीक्षित करता है, इसलिए वह उसकी आर्थिक अपेक्षाओं की सर्वथा उपेक्षा कर उसके लिए अपरिग्रह के नियमों की संरचना नहीं कर सकता। इस आधार पर 'इच्छा-परिमाण' व्रत के परिपार्श्व में महावीर ने इन नैतिक नियमों का निर्देश दिया—

१. झूठा तोल-माप न करना।

२. मिलावट न करना।

३. असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु न बेचना।

समाज के संदर्भ में इच्छा-परिमाण के नियामक तत्त्व दो हैं—प्रामाणिकता और करुणा। व्यक्ति के संदर्भ में उसका नियामक तत्त्व है—संयम। झूठा तोल-माप आदि न करने के पीछे प्रामाणिकता और करुणा की प्रेरणा है। व्यक्तिगत उपभोग कम करने के पीछे संयम की प्रेरणा है। महावीर के व्रती श्रावक अर्थार्जन में अप्रामाणिक साधनों का प्रयोग नहीं करते थे और व्यक्तिगत जीवन की सीमा रखते थे। धन के अर्जन में प्रामाणिक साधनों का उपयोग न करना, संग्रह की निश्चित सीमा करना और व्यक्तिगत उपभोग का संयम करना—ये तीनों मिलकर 'इच्छा-परिमाण' व्रत का निर्माण करते हैं।

यह आर्थिक विपन्नता का व्रत नहीं है। धर्म और गरीबी में कोई सम्बन्ध नहीं है। गरीब आदमी ही धार्मिक हो सकता है या धार्मिक को गरीब होना चाहिए—यह चिन्तन महावीर की दृष्टि में त्रुटिपूर्ण है। धर्म की आराधना न गरीब कर सकता है और न अमीर कर सकता है। जिसके मन में शान्ति की भावना जागृत हो जाती है वह धर्म की आराधना कर सकता है, फिर चाहे वह गरीब हो या अमीर। धार्मिक व्यक्ति गरीबी और अमीरी—दोनों से दूर होकर त्यागी होता है। हमने धर्म को एक जाति का रूप दे दिया। हमारे युग के धार्मिक जन्मना धार्मिक हैं। जो व्यक्ति जिस परम्परा में जन्म लेता है, उस वंश-परम्परा का धर्म उसका धर्म हो जाता है। जन्मना धार्मिक के लिए इच्छा-परिमाण का व्रत अर्थवान् नहीं है। यह उन लोगों के लिए अर्थवान् है जो कर्मणा धार्मिक होते हैं। ऐसे धार्मिक साधु-संन्यासियों जितने विरल नहीं, फिर भी जनसंख्या की अपेक्षा विरल ही होते हैं। इसलिए उनके आधार पर न तो आर्थिक मान्यताएं स्थापित होती हैं और न वे आर्थिक प्रगति में अवरोध बनते हैं। अधिकांश धार्मिक जन्मना धर्म के अनुयायी होते हैं। वे आवश्यकताओं की कमी, अर्थ-संग्रह की कमी, विलासिता के संयम और नैतिक नियमों में विश्वास नहीं करते। उनका धर्म नैतिकता-शून्य धर्म होता है। वे धार्मिक होने के साथ-साथ नैतिक होना आवश्यक नहीं मानते। वे धर्म के प्रति रुचि प्रदर्शित करते हैं, पर उनका आचरण नहीं करते। ऐसे धार्मिकों का धर्म आर्थिक प्रगति को प्रभावित नहीं करता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थशास्त्र में आर्थिक प्रगति के लिए आवश्यकता बढ़ाने का सिद्धांत है। कुछ अर्थशास्त्री इसका मुक्त समर्थन करते हैं तो कुछ अर्थशास्त्री इसके मुक्त समर्थन के पक्ष में नहीं है। आवश्यकताओं को बढ़ाने के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं—

१. आवश्यकताओं की वृद्धि से मनुष्य को अधिकतम सुख या संतोष प्राप्त होता है।

२. आवश्यकताओं की वृद्धि सभ्यता के विकास और जीवनस्तर की उन्नति में सहायक होती है।

३. आवश्यकताओं की वृद्धि से धन के उत्पादन में वृद्धि होती है।

४. आवश्यकताओं की वृद्धि से राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है फलतः वह राज्य सैनिक दृष्टिकोण से सशक्त और अपनी रक्षा में आत्म-निर्भर हो जाता है।

आवश्यकता को बढ़ाने के विपक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं—

१. आवश्यकताओं की वृद्धि से मनुष्य दुःख-क्लेश का अनुभव करता है।

२. आवश्यकताओं की वृद्धि और फिर उनकी संतुष्टि के लिए निरन्तर प्रयत्न मनुष्य को भौतिकवादी बनाता है।

३. आवश्यकताओं की वृद्धि से समाज में वर्ग-संघर्ष (class stuggle) हो जाता है।

४. आवश्यकताओं की वृद्धि से मनुष्य स्वार्थी हो जाता है और वह अधिक धन कमाने के लिए अप्रामाणिक साधनों का प्रयोग करता है।

अनेकान्त की दृष्टि से मीमांसा करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सत्यांश दोनों के मध्य में है। आवश्यकताओं की अत्यन्त कमी में सामाजिक उन्नति नहीं होती—यह अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण मिथ्या नहीं है तो आवश्यकताओं की अत्यन्त वृद्धि होने पर दुःख या क्लेश बढ़ता है, यह दृष्टिकोण भी मिथ्या नहीं है। इस दूसरे दृष्टिकोण को धर्म का समर्थन भी प्राप्त है। अर्थशास्त्र का समर्थन इसलिए प्राप्त है कि मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र मानवीय कल्याण का शास्त्र है और इसका मुख्य उद्देश्य मानवीय कल्याण में वृद्धि करना है।[1] 'सीमित साधनों में असीमित आवश्यकताओं की संतुष्टि का पथ प्रदर्शित करना अर्थशास्त्र का कार्य है। किन्तु जिस अनुपात में आवश्यकताओं की वृद्धि की जा सकती है उसी अनुपात में उनकी संतुष्टि नहीं की जा सकती। सभी मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओं को संतुष्ट नहीं कर सकते।

१. अल्फ्रैड मार्शल, Principles of Economics, P. 1.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिकांश लोग अपनी तीव्र आवश्यकताओं (अनिवार्यताओं) की संतुष्टि कर पाते हैं। मध्यम आवश्यकताओं (सुविधाओं) की संतुष्टि अपेक्षाकृत कम लोग कर पाते हैं। मन्द आवश्यकताओं (विलासिताओं) की संतुष्टि कुछ ही लोग कर पाते हैं। इस क्रम के साथ महावीर के दृष्टिकोण—'लाभ से लोभ बढ़ता है'—का अध्ययन करने पर यह फलित होता है कि आवश्यकताओं की वृद्धि के क्रम में कुछ आवश्यकताओं की संतुष्टि की जा सकती है, किन्तु उनकी वृद्धि के साथ उभरने वाले मानसिक असंतोष और अशान्ति की चिकित्सा नहीं की जा सकती। अर्थशास्त्र द्वारा प्रस्तुत मानव के भौतिक कल्याण की वेदी पर मानव की मानसिक शान्ति की आहुति नहीं दी जा सकती। इसलिए भौतिक कल्याण और आध्यात्मिक कल्याण के मध्य सामंजस्य स्थापित करना अनिवार्य है। यदि मनुष्य-समाज को मानसिक तनाव, पागलपन, क्रूरता, शोषण, आक्रमण और उच्छृंखल प्रवृत्तियों से बचना इष्ट है तो यह अनिवार्यता और अधिक तीव्र हो जाती है। इसी अनिवार्यता की अनुभूति करके ही महावीर ने समाज के सामने 'इच्छा-परिमाण' का सिद्धांत प्रस्तुत किया। इस आदर्श में अनिवार्यताओं और सुविधाओं को छोड़ने की शर्त नहीं है और विलासितापूर्ण आवश्यकताओं की परम्परा को चालू रखने की स्वीकृति भी नहीं है। 'इच्छा-परिमाण' के सिद्धांत में अर्थशास्त्रीय आवश्यकता-वृद्धि के सिद्धांत से मौलिक भिन्नता दो विषयों की है। पहली भिन्नता यह है—अर्थशास्त्र विलासिताओं के उपभोग का समर्थन करता है। उसके समर्थन में निम्न तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं—

१. विलासिताओं के उपभोग से सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति होती है।

२. कर्मशीलता को प्रोत्साहन मिलता है।

३. जीवन-स्तर ऊंचा होता है।

४. धन-संग्रह होता है। संकट के समय वह (आभूषण आदि) सहायक सिद्ध होता है।

५. कला-कौशल, कारीगरी तथा उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन मिलता है।

सब अर्थशास्त्री इन विलासिताओं के उपभोग के सिद्धांत का समर्थन नहीं करते। उनका दृष्टिकोण यह है कि विलासिताओं के उपयोग से—

१. वर्ग-विषमता (class inequality) बढ़ती है।

२. उत्पादन-कार्यों के लिए पूंजी की कमी हो जाती है।

३. निर्धन वर्ग पर प्रतिकूल प्रभाव होता है, द्वेष तथा घृणा की वृद्धि होती है।

विलासिता के प्रति यह दृष्टिकोण धर्म के दृष्टिकोण से भिन्न नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, किन्तु विलासिता के समर्थन का अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण उससे सर्वथा भिन्न है।

दूसरी भिन्नता यह है कि अर्थशास्त्र में नैतिक नियमों की अनिवार्यता स्वीकृत नहीं है। नैतिक नियमों की अवहेलना उसका उद्देश्य नहीं है, किन्तु यह उसकी प्रकृति का प्रश्न है। उसकी प्रकृति उपयोगिता है। उपयोगिता का अर्थ है—आवश्यकता को संतुष्ट करने की क्षमता। नैतिक नियम के अनुसार शराब मनुष्य के लिए लाभदायी नहीं है, इसलिए वह उपयोगी भी नहीं है। वही वस्तु उपयोगी हो सकती है जो लाभदायी हो। जो प्रवृत्तिकाल और परिणाम काल—दोनों में सुखद न हो, वह लाभदायक नहीं हो सकती। और जो लाभदायक नहीं हो सकती, वह उपयोगी नही हो सकती। अर्थशास्त्र में उपयोगिता की परिभाषा नैतिकता की परिभाषा से भिन्न है। उसमे उपयोगिता के साथ लाभदायिकता का अनुबन्ध नहीं है। आवश्यकता को संतुष्ट करने वाली वस्तु लाभदायी न होने पर भी पर भी उपयोगी हो सकती है। मद्यपान निश्चित रूप से हानिकारक है। किन्तु मद्य में मद्यप के लिए एक उपयोगिता है। मद्यप मद्य की आवश्यकता का अनुभव करता है और मद्य उसकी आवश्यकता को संतुष्ट करती है। प्रो० रोबिन्स का मत है कि अर्थ शास्त्र में ऐसे अनेक विषयों का अध्ययन किया जाता है जिसका मानवीय कल्याण से दूर का भी सम्बन्ध नहीं होता। मद्य पीने से मनुष्य के कल्याण अथवा सुख में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती, प्रत्युत कमी होने की सम्भावना है। फिर भी मद्य-उद्योग का अर्थशास्त्र में अध्ययन होता है, क्योंकि मद्य-निर्माण एक आर्थिक कार्य है और अनेक व्यक्ति इस उद्योग से अपनी आजीविका कमाते हैं।

धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण का यह अन्तर उसकी प्रकृति का अन्तर है। दोनों की प्रकृति का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है—

१. नैतिक नियम मनुष्य के सामने जीवन का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। आर्थिक नियम मानवीय आचरण के आर्थिक पहलुओं का अध्ययन करते हैं।

२. नैतिक नियमों की अवहेलना करने पर मनुष्य को आत्मग्लानि होती है। आर्थिक नियमों का अतिक्रमण करने पर आत्मग्लानि नहीं होती।

३. नैतिक नियमों का पालन करने पर मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति होती है। आर्थिक नियमों का पालन करने पर आर्थिक उन्नति होती है।

इस प्रकृति-भेद को समझ लेने पर धर्मशास्त्र के विधि-विधान की दूरी स्वयं बुद्धिगम्य हो जाती है। अर्थशास्त्र में नैतिकता के लिए सर्वथ अवकाश नहीं, ऐसी बात नहीं है। ईमानदारी, निष्कपटता आदि गुणों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्य-कुशलता का निर्धारण करने वाले तत्त्वों के रूप में स्वीकार करने वाले अर्थशास्त्री नैतिकता की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकते। अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र— ये दोनों समाजशास्त्र के ही अंग हैं। इन दोनों में मानवीय व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। अर्थशास्त्र में मानवीय व्यवहार के आर्थिक पहलू का और नीतिशास्त्र में उसके आदर्शात्मक पहलू का अध्ययन किया जाता है। नीतिशास्त्र आदर्श प्रस्तुत करता है। वह हमें बताता है कि हमारा आचरण कैसा होना चाहिए। नीतिशास्त्र उचित और अनुचित में भेद कर· का आदेश देता है और हमें बताता है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। अर्थशास्त्री आर्थिक निर्णय सुनाते तथा व्यवस्था देते समय नीतिशास्त्र के निर्देश की उपेक्षा नहीं कर समते। उदाहरणार्थ डॉ० मार्शल ने सदाचार के आधार पर अपनी 'उत्पादक श्रम' की धारणा से वेश्यावृत्ति को बाहर निकाल दिया। जैसा कि प्रो० सैलिगमैन (Saligman) ने कहा है—'सच्ची आर्थिक क्रिया परिणामतः सदाचारिक होनी चाहिए।' इस प्रकार अर्थशास्त्री आर्थिक नीति के निर्माण में नीतिशास्त्र की उपेक्षा नहीं कर सकता।

इसी प्रकार अर्थशास्त्र का नीतिशास्त्र पर भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। आर्थिक परिस्थितियां मनुष्य के चरित्र तथा आचार-विचार पर गहरा प्रभाव डालती हैं। अमुक व्यक्ति का आचार कैसा होगा, इस बात से निश्चित होता है कि वह अपनी आजीविका कैसे कमाता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध हैं।

महावीर ने कहा—'इच्छा का परिमाण नहीं करने वाला मनुष्य अधर्म से आजीविका कमाता है और इच्छा का परिमाण करने वाला मनुष्य धर्म से आजीविका कमाता है। अधर्म या धर्म से आजीविका कमाने में आर्थिक परिस्थितियां निमित्त बनती हैं किन्तु उनका उत्पादन कारण अनासक्ति तथा धर्मश्रद्धा का तारतम्य है।'[1]

'इच्छा-परिमाण' के निष्कर्ष संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

१. न गरीब और न विलासिता का जीवन।

२. धन आवश्यकता-पूर्ति का साधन है, साध्य नहीं। धन मनुष्य के लिए है, मनुष्य धन के लिए नहीं है।

३. आवश्यकता की सन्तुष्टि के लिए धन का अर्जन किन्तु दूसरों को हानि पहुंचाकर अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि न हो, इसका जागरूक प्रयत्न।

---

१. एम० एल० सेठ : आधुनिक अर्थशास्त्र, पृ० ३३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. आवश्यकताओं, सुख-सुविधाओं और उनकी संतुष्टि के आधारभूत धन-संग्रह की सीमा का निर्धारण।

५. धन के प्रति उपयोगिता के दृष्टिकोण का निर्माण कर संगृहीत धन में अनासक्ति का विकास।

६. धन के संतुष्टि-गुण को स्वीकार करते हुए आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से उसकी असारता का अनुचिन्तन।

७. विसर्जन की क्षमता का विकास।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपरिग्रही चेतना का विकास

जहां देह है वहां वस्तु का उपभोग होता ही है। देह छूटता नहीं है और वस्तु का उपभोग किए बिना वह रहता नहीं है इसलिए वस्तु का उपभोग अनिवार्य हो जाता है। यदि वस्तु और उसका उपभोग ही परिग्रह हो तो कोई अपरिग्रही हो ही नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि केवल वस्तु पास में न होने या न रखने मात्र से कोई अपरिग्रही नहीं होता। अपरिग्रही वह होता है जिसमें अपरिग्रह की चेतना विकसित हो जाती है।

अपरिग्रह की चेतना का विकास एकत्व की भावना उदित होने पर होता है। जो व्यक्ति वस्तुओं के संयोग और वियोग के सिद्धांत को जानता है, वह जानता है कि आत्मा अकेली है, उसके अधिकार में जितने पदार्थ हैं वे सब संयुक्त हैं, एकत्र किए हुए हैं, संगृहीत हैं, उससे भिन्न हैं और निश्चित रूप से एक दिन वियुक्त हो जाने वाले हैं। 'संयोगा विप्रयोगांता:'—संयोग की अन्तिम परिणति वियोग है। यह ध्रुव सत्य है। इस एकत्व भावना से ममकार का विसर्जन और अपरिग्रह की चेतना फलित होती है।

एक भिखारी के पास कुछ भी नहीं है और एक चक्रवर्ती के पास बहुत कुछ है। भगवान महावीर से पूछा गया—"भंते! क्या वह भिखारी अपरिग्रही है और क्या वह चक्रवर्ती बहुपरिग्रही है?" भगवान् ने कहा—"आकांक्षा की दृष्टि से भिखारी और चक्रवर्ती दोनों परिग्रही है। भिखारी के पास वस्तुएं नहीं हैं पर उन्हें पाने की आकांक्षा चक्रवर्ती से कम नहीं है। अपरिग्रही वह होता है जिसकी आकांक्षा विसर्जित हो जाती है। भगवान् ने उस व्यक्ति को त्यागी नहीं कहा जो विवशता में भोग का उपभोग नहीं कर पा रहा हो—

वत्थगन्धमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छन्दा जे न भुंजन्ति न से चाइत्ति वुच्चइ॥

—जो वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्रियां और पलंगों का परवश होने से (या उनके अभाव में) सेवन नहीं करता वह त्यागी नहीं कहलाता।

जिस व्यक्ति में त्याग की चेतना निर्मित हो जाती है, वही सही अर्थ में त्यागी होता है—

जे य कन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्ठिकुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइत्ति वुच्चइ॥

—त्यागी वह कहलाता है जो कांत और प्रियभोग उपलब्ध होने पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी उनकी ओर पीठ फेर लेता है और स्वाधीनतापूर्वक भोगों को त्याग करता है।

त्यागी ही ब्रह्मचारी होता है और त्यागी ही अपरिग्रही। सत्य यह है कि मूर्च्छा भंग होने पर चेतना जागृत हो जाती है। वह सर्वात्मना प्रकाशित हो जाती है। फिर उसके खण्ड नहीं किए जा सकते। चेतना का एक कोना जागृत और एक सुप्त--यह विभाजन नहीं किया जा सकता। उसमें हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इनमें से एक भी नहीं टिक पाता। आचार्य भिक्षु ने इस विषय में बहुत सुन्दर लिखा है कि एक महाव्रत को नहीं साधा जा सकता। एक होता है तो पांचों होते हैं और एक टूटता है तो पांचों टूट जाते हैं। इसका हेतु चेतना में अनासक्ति की अखंडता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज-व्यवस्था और अहिंसा

समाज-रचना के आधार में परिग्रह और हिंसा का प्रमुख हाथ होता है। व्यक्ति जब किसी समूह को स्वीकारता है, उसके साथ वह अपना ममता बन्धन स्थापित कर लेता है। मेरा परिवार, मेरी जाति, मेरा समाज, मेरे समाज के प्रति मेरा दायित्व, मेरा राष्ट्र, मेरे राष्ट्र के प्रति मेरा दायित्व—यह मेरे का बन्धन उसके साथ कुछ ऐसा जुड़ जाता है कि वह उसको औरों से पराया कर देता है। इस परिग्रह के स्वीकार के साथ ही हिंसा का प्रारम्भ हो जाता है। मेरे समाज या राष्ट्र के हितों की सुरक्षा कैसे हो, उसका विकास कैसे हो, उसका विस्तार कैसे हो, औरों के मुकाबले वह कमजोर न रह जाए—ये सारी चिन्ताएं उस मेरेपन के स्वीकार के साथ स्वयं जुड़ी हुई चली आती हैं। इस प्रकार समाज, फिर चाहे वह शोषण-मुक्त हो अथवा शोषण-युक्त, हिंसा और परिग्रह उसके परिकर में होते ही हैं। इसलिए सम्पूर्ण अहिंसा की संगति मैं यहां नहीं देखता।

मैं यह मानता हूं कि समाज-निर्माण में अनेक घटक काम करते हैं। उनमें से अहिंसा भी एक है। वह उसमें सम्पूर्ण रूप से काम नहीं कर सकती; क्योंकि समाज के मूल में भय और परिग्रह भी काम करते हैं। अहिंसा का का भय और परिग्रह के साथ तालमेल बैठना असम्भव है। फिर भी समाज के जीवन में हिंसा और अहिंसा का विवेक होना आवश्यक है।

हिंसा के अनेक स्तर होते हैं। एक स्तर यह होता है कि हर समस्या का समाधान गोली और पुलिस में खोजा जाए। एक स्तर यह होता है कि गोली और पुलिस का आश्रय अन्तिम स्थिति में लिया जाए। पहला स्तर बहुत कठोर है, दूसरा उसकी अपेक्षा मृदु है। हर समस्या का समाधान समझौते से हो, सद्भावना से हो, यह पूर्ण अहिंसा है। समझौते से समाधान नहीं आए, उसके लिए सत्याग्रह, धरना, अनशन आदि का सहारा लिया जाए, यह व्यावहारिक अहिंसा पाकिस्तान से सम्बन्ध सुधारने के लिए यही अहिंसात्मक साधन अनशन आदि अपनाए, तो उससे किसी परिणाम की आशा करना हमारा भ्रम ही होगा। क्योंकि उनके मन में भारत के प्रति कोई प्रीति नहीं है और न ही उनके समक्ष है किसी प्रकार का भय। इसलिए अहिंसा जहां दबाव बनकर आती है। वहां उसकी सफलता के लिए आवश्यक है कि जिसके विरुद्ध दबाव दिया जाता है, वह उसे महसस भी करे। और वह महसस तभी कर सकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, जब उसके मन में उसके प्रति कुछ लगाव हो या उसे किसी प्रकार का भय हो।

क्या हृदय-परिवर्तन से समाज-व्यवस्था संभव है ?

मैं अहिंसा के क्षेत्र को सीमित नहीं मानता। वह सार्वदिक् और सार्वत्रिक होता है। इसलिए उसका प्रभाव व्यक्ति तक ही मान लेना हमारी भारी भूल होगी। वैसे एक-एक व्यक्ति का हृदय-परिवर्तन ही तो समाज-परिवर्तन का आधार बनता है। सचाई यह है, वही परिवर्तन अधिक स्थायी और अधिक लाभदायी होता है।

प्रश्न तब जटिल हो जाता है, जब समाज का कोई व्यक्ति या वर्ग विशेष व्यवस्था को ताक पर रखकर अपने स्वार्थों को ही प्रमुखता देने लग जाता है। वह सचाई को नहीं परखता हो, ऐसी बात नहीं है। किन्तु वह स्वार्थों के लिए इतना अंधा हो जाता है कि उसके समक्ष वह समाज की समस्त व्यवस्थाओं की अवहेलना करने लग जाता है। वहां समाज-व्यवस्था किसी बल या शक्ति के सहारे को भी इनकार कर नहीं चल सकती। जहां व्यक्ति सहृदय हो, वहां हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत काम कर सकता है। हृदयहीनता और पशुता की स्थिति में तो बल या शक्ति ही कारगर हो सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साम्यवाद और अध्यात्म

साम्यवाद और अध्यात्म इन दोनों धाराओं का कुछ बिन्दुओं पर समान चिन्तन है। अध्यात्म का दृष्टिकोण है—

न मे माता न मे पिता
न मे भ्राता न मे सुतः।

माता, पिता, भाई, बहन, पुत्र, पति, पत्नी—ये जितने सांसारिक संबंध हैं, वे वास्तविक नहीं हैं। सचाई यह है कि कोई किसी का नहीं है। जितने अनुबंध हैं, वे सारे स्वार्थ के हैं। जिस व्यक्ति का जब तक जिससे स्वार्थ सधता है, तब तक वह उसका आत्मीय है। स्वार्थ का विघटन होते ही अपना पराया हो जाता है। इसलिए किसी को अपना मानना एक भ्रांति है। व्यक्ति अकेला आया है और अकेला जाता है। मध्यकाल में मोह का जितना अनुबंध होता है, व्यक्ति उतना ही दुःखी होता है। इस प्रकार अध्यात्म मनुष्य को एकत्व भावना से भावित करता है।

साम्यवाद भी परिवार की सीमा रेखा को तोड़कर व्यक्ति को व्यापक दृष्टि से काम करने की प्रेरणा देता है। उसके अनुसार राष्ट्र एक इकाई है। व्यक्ति राष्ट्र का है। माता-पिता का उस पर कोई अधिकार नहीं है। राष्ट्र के हर नागरिक की सेवा और सुरक्षा का दायित्व राष्ट्र पर ही है। चीन में ऐसी व्यवस्था है कि बच्चों का लालन-पालन भी उनके माता-पिता द्वारा नहीं होता है। कोई मां ममता की प्रेरणा से अपने बच्चे को अपने पास रखना चाहे तो उसे राष्ट्रीय दृष्टि से अपराध समझा जाता है। साम्यवादी चिन्तकों की इस विचारधारा की पृष्ठभूमि यह है कि यदि व्यक्ति परिवार से जुड़ा रहेगा तो उसमें राष्ट्रप्रेम पर्याप्त रूप से नहीं निखरेगा। वह अपने माता-पिता या अन्य पारिवारिक जनों के लिए अनैतिक बन सकता है। एक-एक व्यक्ति की अनैतिकता राष्ट्रीय भावना के लिए खतरा है, क्योंकि व्यक्तिगत व्यामोह की प्रबलता में सामूहिकता की भावना गौण हो जाती है।

साम्यवादी देशों में पारिवारिक पद्धति या तो है ही नहीं, जहां है, वहां भी इतनी हल्की है कि उसका व्यक्ति पर विशेष प्रभाव नहीं होता। क्योंकि कोई भी लड़का या लड़की अपने माता-पिता की संपत्ति का उत्तराधिकारी नहीं होता। मृत्यु के बाद व्यक्ति की सारी संपत्ति का अधिकार सरकार का होता है। व्यक्ति की अनिवार्यतम अपेक्षाएं जैसे शिक्षा, चिकित्सा, आवास, भोजन आदि की व्यवस्था भी राष्ट्र करता है तथा उसकी संपदा और योग्यता का लाभ भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सरकार को ही मिलता है। इस दृष्टि से वहां व्यक्ति और परिवार दोनों ही गौण हो जाते हैं, प्रमुखता मिलती है राष्ट्रीय हितों को।

परिवार मेरा नहीं है। वह मुझे त्राण या शरण नहीं दे सकता। यह भावना अध्यात्म और साम्यवाद दोनों से जन्म लेती है, पर दोनों का उद्देश्य भिन्न है। अध्यात्म का ध्येय है व्यक्ति की मूर्च्छा टूटे। वह निर्मोहता के पथ पर अग्रसर होता हुआ वीतराग बन जाये जबकि साम्यवाद का लक्ष्य होता है राष्ट्रीय हितों को प्रोत्साहन।

प्रश्न का अन्तिम हिस्सा है व्यक्ति की उपयोगिता से संबंधित। परिवार की मूर्च्छा टूट जाने पर व्यक्ति समाज के लिए उपयोगी हो ही जाता है, यह बात एकान्ततः सही नहीं है। क्योंकि यहां भी सब कुछ उद्देश्य पर निर्भर करता है। इसमें व्यक्ति की मनःस्थिति, बाहरी परिस्थिति, समाज के मानदंड और व्यक्ति का संकल्पबल काम करता है। अतः इन तथ्यों को समझने के लिए सापेक्ष दृष्टि का उपयोग करना जरूरी है।

व्यक्ति के मूलभूत अधिकार

सामाजिक, राजनैतिक या धार्मिक कोई भी पद्धति हो, उसमें अच्छाई के साथ कुछ दोष आ ही जाते हैं। जब तक अच्छाई का पलड़ा भारी रहता है, दोष नीचे दबे रहते हैं। अच्छाई की मात्रा कम होते ही दोष उस पद्धति पर हावी हो जाते हैं और वह विवादास्पद बन जाती है। साम्यवादी धारणा के साथ भी कुछ बातें ऐसी हैं, जो समालोच्य है। व्यक्ति की आकांक्षाओं का जहां तक प्रश्न है, सामूहिक जीवन में वह अपेक्षाकृत गौण होती ही है। अधिकारों के अपहरण की बात भी ऐसी है कि जिस पद्धति में व्यक्ति को कोई विशेष अधिकार प्राप्त ही नहीं हैं, वहां उनका अपहरण भी कैसा? अपेक्षा इस बात की है कि साम्यवादी व्यवस्था की पृष्ठभूमि में रह गये दोषों को परिमार्जित कर उसे अध्यात्म-संवलित बनाया जाये। अध्यात्म की पुट लगने से दमन या अपहरण जैसी बात स्वयं समाप्त हो सकती है।

नैतिकता की परम्पराएं

नैतिकता अन्तःप्रेरणा की निष्पत्ति है। बलात् किसी भी व्यक्ति को नैतिक नहीं बनाया जा सकता। हृदय-परिवर्तन और बलपूर्वक आरोपण ये दो स्थितियां हैं।

हृदय-परिवर्तन से जो बात स्वीकार की जाती है, वह धर्म है, अध्यात्म है, नैतिकता है। किन्तु धार्मिक संस्कार भी बलात् थोपे जाएं तो उनसे व्यक्ति धार्मिक नहीं बन सकता। अब रही बात बल प्रयोग करने वाले व्यक्ति की प्रवृत्ति से संबंधित। वैसे हर स्थिति में प्रेरणा, प्रवृत्ति और परिणाम—इन तीनों के बारे में चिन्तन करना जरूरी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की बुराई छुड़ाने के लिए बुराई से संबंधित उपकरण चुराता है। उसकी इस प्रवृत्ति के पीछे रही हुई प्रेरणा गलत नहीं है। क्योंकि वह सोचता है—संबन्धित व्यक्ति अनैतिक न रहे, हत्यारा न रहे। इस भावना से उसने जो वस्तु इधर-उधर की, उसे हड़पने की उसकी इच्छा नहीं है। बच्चा अज्ञानवश पत्थर फेंकता है या किसी अन्य उपकरण का दुरुपयोग करता है, तब अभिभावक उसे छिपा देते हैं। यह प्रवृत्ति चोरी नहीं होती। इसी प्रकार कोई हित साधन की दृष्टि से ऐसा काम करता है, उसे चोरी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि चोरी में हड़पने की वृत्ति होती है। मूर्च्छा होती है। पदार्थ के उपयोग की भावना रहती है। इस दृष्टि से यह सही है कि हितैषी व्यक्ति के मन में चोरी की नहीं, संबंधित व्यक्ति को सुधारने की भावना है। यह घास को चिनगारी से बचाने का प्रयत्न है।

उक्त घटना में प्रेरणा बुरी नहीं है, प्रवृत्ति असामान्य नहीं है, पर परिणाम की बात संदिग्ध है। इसलिए किसी भी व्यक्ति को नैतिक बनाने का तरीका यह नहीं है। यह तो तात्कालिक उपचार है। स्थूल प्रक्रिया है। संभव है, वह व्यक्ति अपना छुरा खो जाने के कारण चोरी से उपरत होने के बजाय दूसरा छुरा खरीद कर अपनी मंशा पूरी कर ले, क्योंकि हत्या के प्रति उसके मन में ग्लानि नहीं है। अणुव्रत किसी भी व्यक्ति को बलात् अणुव्रती या धार्मिक बनाने में विश्वास नहीं करता। मन बदल जाता है तो कोई भी परिस्थिति व्यक्ति को अनैतिकता की ओर प्रेरित नहीं कर सकती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org